"विभिन्न कोटि की शिक्षिकाओं का तुलनात्मक अध्ययन जालौन जनपद के प्राथमिक, पूर्व माध्यमिक, माध्यमिक एवं महाविद्यालयी शिक्षिकाओं के सम्बन्ध में।"

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झांसी से
समाजशास्त्र विषय में
पी-एच0 डी0 उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

2004

शोध निदेशक
डा. एस. एस. गुप्ता
रीडर
समाजशास्त्र विभाग
पं0 जवाहरलाल नेहरू
स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बांदा

शोधकर्ता
सैय्यद नफीस आलम
एम0 ए0 (समाजशास्त्र)

शोध केन्द्र-पं0 जवाहरलाल नेहरू स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बांदा
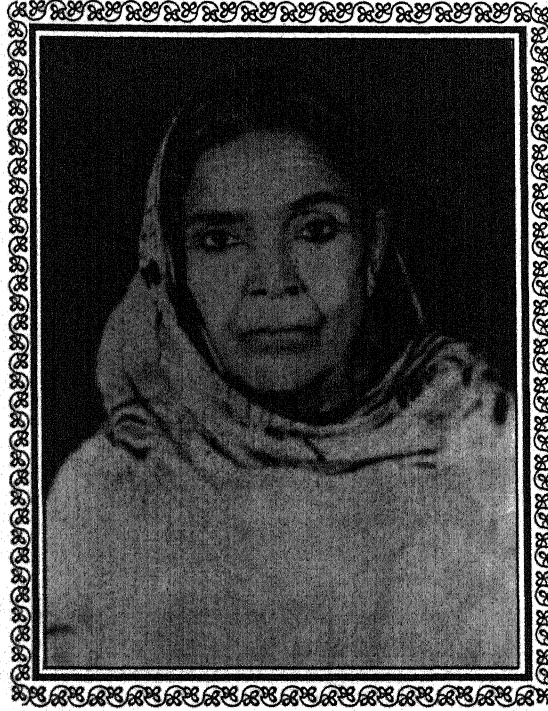
दिनांक 18 मई सन् 1993 में मेरी प्रिय दादी स्व0 श्रीमती अमीर फातिमा जी (पूर्व जमींदार कुदारी जिला-जालौन) नें दिवंगता होकर मुझमें प्रेरणा का संचार किया के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धांज्जली अर्पित करता हूँ। उन्ही की मूल प्रेरणा से यह शोध कार्य सम्पन्न हुआ की स्मृति में यह शोध-ग्रन्थ सादर समर्पित है

-सैय्यद नफीस आलम

शोधार्थी

डा. एस. एस. गुप्ता
रीडर
समाजशास्त्र विभाग
पं0 जवाहरलाल नेहरू
स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बांदा

दूरभाष : 05192–224784
227569
मोबाइल : 9415143360
निवास : गूलरनाका,
(इलाहाबाद बैंक के पास),
बांदा (उ0 प्र0)
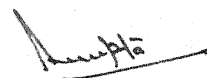
प्रमाण–पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्री सैय्यद नफीस आलम पुत्र श्री सैय्यद अनीस आलम द्वारा समाजशास्त्र विषय के अन्तर्गत **"विभिन्न कोटि की शिक्षिकाओं का तुलनात्मक अध्ययन जालौन जनपद के प्राथमिक, पूर्व माध्यमिक, माध्यमिक एवं महाविद्यालयी शिक्षिकाओं के सम्बन्ध में"** शीर्षक विषय पर पी–एच0 डी0 उपाधि हेतु प्रस्तुत यह शोध प्रबन्ध विश्वविद्यालय के अध्यादेश ग्यारह की समस्त शर्तों को पूर्ण करते हुए मेरे मार्गदर्शन में पूर्ण किया है, यह उनके स्वयं का मौलिक प्रयास है। अध्यादेश 11–8 में उल्लिखित प्राविधान अनुसार इन्होने उपस्थिति भी पूर्ण की है।

विषय सामग्री, लेखन, भाषा आदि की दृष्टि से यह प्रबन्ध पी–एच0 डी0 उपाधि के स्तर का है एवं परीक्षाओं के मूल्यांकन हेतु भेजने योग्य है।

दिनांक : 24-12-2004

(डा0 शिव शरण गुप्ता)
शोध निर्देशक

घोषणा-पत्र

मैं सैय्यद नफीस आलम पुत्र श्री सैय्यद अनीस आलम घोषणा करता हूँ कि पी-एच0 डी0 उपाधि हेतु प्रस्तुत यह शोध प्रबन्ध जिसका शीर्षक- **"विभिन्न कोटि की शिक्षिकाओं का तुलनात्मक अध्ययन जालौन जनपद के प्राथमिक, पूर्व माध्यमिक, माध्यमिक एवं महाविद्यालयी शिक्षिकाओं के सम्बन्ध में"** अध्ययन मेरे स्वयं के प्रयासों का परिणाम है। यह एक मौलिक प्रस्तुति है। जो सामग्री जिन स्रोतों से प्राप्त की गई है उसका उल्लेख उचित स्थान पर किया गया है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध भाषा के दृष्टिकोंण से और साथ ही साथ विषय-वस्तु के प्रस्तुतीकरण के सन्दर्भ में भी संतोषप्रद है। मैने निर्देशन प्राप्त करने के उद्‌देश्य से अपने शोध पर्यवेक्षक के साथ दो सौ दिन व्यतीत किए हैं।

सैय्यद नफीस आलम

दिनांक : 24-12-04

(सैय्यद नफीस आलम)
शोधार्थी

प्राक्कथन

शिक्षा मानव विकास का मूल साधन है। इसके द्वारा मनुष्य की जन्मजात शक्तियों का विकास, उसके ज्ञान एवं कला–कौशल में वृद्धि तथा व्यवहार में परिवर्तन किया जाता है और उसे सभ्य, सुसंस्कृत एवं योग्य नागरिक बनाया जाता है। और यह कार्य मनुष्य के जन्म से प्रारम्भ हो जाता है। शिक्षा सदैव चलने वाली सामाजिक प्रक्रिया है और विद्यालयी शिक्षा, शिक्षा का एक अंग अथवा भाग है जो विद्यार्थी के जीवन में एक निश्चित काल तक चलती है। जिसमें शिक्षकों के बिना नियोजित शिक्षा की कल्पना नहीं की जा सकती। वह विद्यार्थियों के विकास में सहायक अर्थात पथ–प्रदर्शक का कार्य करती हैं जिससे विद्यार्थी अपने जीवन में क्रमोत्तर वृद्धि करता है। इस कार्य में शिक्षक का महत्वपूर्ण योगदान होता है। प्राचीनकाल में उसे ब्रह्मा का स्वरूप माना जाता था। मध्यकाल में धार्मिक गुरुओं का प्राधान्य था। आधुनिक समय में शिक्षक को पथ–प्रदर्शक के रूप में जाना जाता है क्योंकि उसे शिक्षार्थी की रुचियों, अभिरुचियों तथा अभिवृत्तियों का गम्भीर अध्ययन कर इनका मार्ग दर्शन करना पड़ता है। शिक्षक ही विभिन्न स्तर के छात्रों के लिए मानदण्ड निर्धारित करता है, वह विद्यार्थी से सम्बन्धित अभिलेख पत्र तथा प्रगति–पत्र तैयार करता है इससे शिक्षार्थी का भावी व्यवसाय सुगमता से निर्धारित किया जा सकता है। समाजशास्त्र के अनुसार शिक्षा का प्रमुख उद्‌देश्य सक्षम नागरिकों का निर्माण करना है। शिक्षा समाज के आदर्शों एवं मूल्यों को भावी पीढ़ी तक पहुंचाती है इस प्रकार विद्यार्थी इन सांस्कृतिक आदर्शों से प्रेरित होते हैं और संस्कृति सुरक्षित बनी रहती है। शिक्षा का कार्य केवल संस्कृति की सुरक्षा ही नहीं है वरन उसका विकास करना भी है। समाज के पुराने आदर्शों को नई पीढ़ी तक पहुंचाना ही नहीं वरन उन्हें उपयोगी मूल्य भी देना है। शिक्षा का कार्य सृजनात्मक एवं आलोचनात्मक चिन्तन का विकास करना है। प्रजातन्त्र की सफलता सुयोग्य नागरिकों पर निर्भर करती है। विद्यार्थियों में स्वतन्त्र चिन्तन का विकास करना शिक्षा का लक्ष्य होना चाहिए।

इस कार्य के लिए प्राथमिक शिक्षिकाओं से लेकर महाविद्यालयी शिक्षिकाओं को विद्यार्थियों के जीवन में मानवीय मूल्यों एवं संस्कृति का निर्माण करना होगा। इस शोध के अन्तर्गत प्राथमिक, पूर्व माध्यमिक, माध्यमिक एवं महाविद्यालयी शिक्षिकाओं का तुलनात्मक अध्ययन कर समानता और विभिन्नताओं का मूल्यांकन किया गया है। उ0 प्र0 के जनपद जालौन की शिक्षिकाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने पर विभिन्न प्रकार के तत्व और पहलू स्पष्ट नजर आते हैं। शिक्षिकाओं के तुलनात्मक अध्ययन में जनपद जालौन की शिक्षा–प्रणाली, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक और धार्मिक परिस्थितियों का भी अध्ययन किया गया है। जनपद जालौन की प्राथमिक, पूर्व माध्यमिक, माध्यमिक एवं महाविद्यालयी शिक्षिकाओं का तुलनात्मक अध्ययन, भौगोलिक, सामाजिक, आर्थिक घटकों पर विशेष तौर से निर्भर करता है। जनपद की भौगोलिक परिस्थिति अन्य जनपदों से भिन्न है। अतएव यहां का रहन–सहन सभ्यता, सांस्कृतिक, सामाजिक व्यवस्था का प्रभाव शिक्षिकाओं के ऊपर पड़ता है और उसी के अनुरूप पृष्ठभूमि का निर्माण होता है। प्राथमिक, पूर्व माध्यमिक, माध्यमिक एवं महाविद्यालयी शिक्षिकाओं का आर्थिक, पारिवारिक तथा सामजिक जीवन का तुलनात्मक रूप देखने पर काफी विभिन्नताओं से परिपूर्ण दिखता है। तुलनात्मक अध्ययन करने पर शिक्षिकाओं के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोंणों को ज्ञात किया गया है और उसी के अनुरूप उनका विशलेषण सम्भव हो सका है। विभिन्न कोटि की (प्राथमिक, पूर्व माध्यमिक, माध्यमिक एवं महाविद्यालयी) शिक्षिकाओं का तुलनात्मक अध्ययन समाजशास्त्र के अनुसार एक अनुपमीय एवं अतुलनीय प्रक्रिया है। क्योंकि विभिन्न कोटि की शिक्षिकाओं की कुछ विशेष व्यक्तिगत, पारिवारिक, शैक्षणिक एवं सामाजिक समस्याएं होती हैं जिसके अनुरूप उनके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। व्यक्तित्व के निर्माण की प्रक्रिया विद्यार्थियों की शिक्षा व्यवस्था पर विशेष प्रभाव डालती हैं। इसके द्वारा व्यक्ति, समाज और राष्ट्र सभी का विकास होता है। यह मनुष्य को वह सब प्राप्त करने में सहायता करती है जिसके कि वह योग्य है। जिसकी वह आकांक्षा करता है। इस भांति प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध में विभिन्न कोटि की (प्राथमिक, पूर्व माध्यमिक, माध्यमिक एवं महाविद्यालयी) शिक्षिकाओं के तुलनात्मक अध्ययन के सम्बन्ध में कोई पक्ष या पहलू ऐसा नहीं है जिसकी चर्चा न की गई हो इसके साथ ही विभिन्न कोटि की शिक्षिकाओं का तुलनात्मक अध्ययन सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। जिसमें उनकी सामाजिक एवं पारिवारिक भूमिका को भी सम्मिलित किया गया है। और उससे सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं का समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत शोध में किया गया है। शिक्षिकाओं के सामाजिक एवं पारिवारिक अध्ययन का मूल उद्देश्य समाज और परिवार को सुसंस्कृत बनाना है। समाज एवं परिवार में उत्पन्न कुरीतियों और कुप्रथाओं को समाप्त कर समाज में मानवता, भाईचारे की भावना उत्पन्न करना है। बुन्देलखण्ड एक पिछड़ा क्षेत्र है जहां पर शिक्षा के प्रति जागरूकता पारिवारिक दायित्यों के सफल निर्वाहन में एक पहलू का बहुत अभाव था। शिक्षा के माध्यम से चतुर्मुखी जागरूकता उत्पन्न हुई है। शिक्षिकाएं विद्यार्थियों में जागरूकता उत्पन्न करने का प्रमुख सोपान हैं। अतः शिक्षा एवं शिक्षिकाओं पर शोध विषय विशेष समाजशास्त्रीय महत्व रखता है।

आभार पत्र

अपने गुरुजनों, मार्गदर्शकों, समीक्षकों, अध्येताओं एवं हितैषियों से मार्गदर्शन, सुझावों, सहयोगों और आर्शीवादों के बिना किसी भी विषय में ज्ञान की प्राप्ति और प्राप्त ज्ञान की सम्यक प्रस्तुति सम्भव नहीं होती। अतः मैने बौद्धिक क्षमातानुसार ज्ञान के अपरिसीम क्षेत्र से जो कुछ भी प्राप्त कर पाया, उसकी प्राप्ति में जिन गुरुजनों, पथ–प्रदर्शकों, मनीषियों, शिक्षाविदों, शुभाकांक्षियों और सहयोगियों से निर्देशन, परिमार्जन, पथप्रदर्शन, आशीष व सहयोग मुझे प्राप्त हुआ है, उनके प्रति कृतज्ञता की भावना से अभिभूत अंतस से निस्तृत आभारानुभूति समर्पित करने का कर्तव्य बोध आकांक्षा शब्दों को गति देने को आतुर हो उठा था, अतः यह आभार भावांजलि प्रस्तुत करने में अपने को परम सौभाग्यशाली अनुभव कर रहा हूँ।

मैं अपने शोध निर्देशक आदरणीय डा0 एस0 एस0 गुप्ता, रीडर समाजशास्त्र विभाग, पं0 जवाहरलाल नेहरू महाविद्यालय, बांदा (उ0प्र0) का ह्रदय से आभारी हूँ जिन्होने अपने मूल्यवान समय में से कुछ समय न केवल उदारता पूर्वक ही दिया वरन अपने बहुमूल्य सुझावों एवं महत्वपूर्ण विचारों से भी अवगत कराया जिनके प्रयास से प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का पूर्ण होना सम्भव हो सका।

मैं अपने गुरू डा0 के0 सी0 गुप्ता, रीडर रसायन विज्ञान विभाग, दयानन्द वैदिक महाविद्यालय, उरई का भी ह्रदय से कृतज्ञ हूँ, जिन्होने समय–समय पर उपयोगी सुझावों से मुझे लाभान्वित किया।

मैं श्री बीरेन्द्र चतुर्वेदी, सीनियर एडवोकेट जिला शासकीय अधिवक्ता (फौजदारी) जनपद जालौन एवं श्री काजी नूर उद्दीन सिद्दीकी (वरिष्ठ अधिवक्ता) कमिश्नरी झांसी का सह्रदय आभारी हूँ। जिन्होंने इस कार्य के लिए मुझे प्रेरणा दी।

मैं श्री डा0 अभय करन सक्सेना, रीडर एवं विभागाध्यक्ष रक्षा अध्ययन विभाग, दयानन्द वैदिक महाविद्यालय, उरई, डा0 श्रीमती शबीहा रहमानी वरिष्ठ प्राध्यापक समाजशास्त्र विभाग, राजकीय महिला महाविद्यालय बांदा, डा0 सतीश चन्द्र शर्मा प्राचार्य श्रीमती अमृत कुंवर महाविद्यालय, अटराकलां (जालौन), प्रो0 जियाउद्दीन पूर्व विभागाध्यक्ष शारीरिक शिक्षा विभाग दयानन्द वैदिक महाविद्यालय उरई, डा0 प्रभात कुमार, रीडर जन्तु विज्ञान विभाग दयानन्द वैदिक महाविद्यालय उरई, श्रीमती पूर्णिमा सक्सेना (समाज सेवी), श्री काजी जमील उद्दीन सिद्दीकी (समाज सेवी) ने मुझे निरन्तर प्रोत्साहित किया ताकि शोध कार्य निर्धारित समय में ही पूरा हो सके। मैं इन सभी के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

मैं अपने ताऊ श्री मुहम्मद हामिद (पूर्व जमींदार), श्री नसीम आलम (शिक्षाधिकारी) माध्यमिक शिक्षा विभाग राजस्थान व शमसुल इस्लाम (प्राध्यापक) एवं श्री राजेश कौशल जी के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ क्योंकि प्रस्तुत शोध कार्य करने हेतु आपने मेरा निरन्तर उत्साहवर्द्धन किया जिससे कि मैं अपना शोध कार्य सम्पन्न कर सका।

मैं अपने प्रेरणास्रोत परम आदरणीय दादाजी स्व0 मुहम्मद जफर (पूर्व राजस्व अधिकारी) एवं अपने नाना स्व0 श्री काजी कदीर उद्दीन सिद्दीकी जी के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ क्योंकि आपकी प्रवल इच्छा थी मैं यह कार्य सम्पन्न करूँ, अपने दादा एवं नाना जी की इच्छा को व्यवहारिक रूप देने की कोशिश मैने की है

मैं अपने प्रिय पिता सैय्यद अनीस आलम सीनियर एडवोकेट (सदस्य किशोर न्याय बोर्ड, उ0 प्र0) जनपद जालौन का भी हृदय से आभारी हूँ। जिन्होने निरन्तर कर्म करने की प्रेरणा प्रदान की है। मैं अपनी ममतामयी माता श्रीमती रुकसाना आलम एम0 ए0 (समाजशास्त्र) का भी कृतज्ञ हूँ जिनसे मुझे निरन्तर सहानुभूति और सहयोग मिलता रहा।

मैं अपनी बुआ सुश्री रफीक फातिमा एम० ए० (उर्दू) अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ (सामाजिक विचारक) का भी हृदय से आभारी हूँ जिन्होने मुझे अपने मूल्यवान विचारों से लाभान्वित किया। मैं अपने बड़े भाई सैय्यद शाह आलम शोधार्थी इतिहास, राशिद आलम, खलीक आलम (मीनू) का भी आभारी हूँ जिन्होंने अत्यन्त सुयोग्यतापूर्वक मेरे शोध प्रबन्ध में निरन्तर सहयोग किया है।

मैं अपने प्रिय मित्र श्री केशव कुमार गुप्ता (गोपालजी) का भी आभारी हूँ, जिन्होने अत्यन्त सुयोग्यतापूर्वक मेरे शोध प्रबन्ध को टाइप किया है।

(सैय्यद नफीस आलम)
शोधार्थी

विषय अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

1- विषय-वस्तु का परिचय

2- पारिवारिक अध्ययन का महत्व

3- पारिवारिक आस्थाएं एवं उद्देश्य

4- पारिवारिक अध्ययन की विधिया

5- क्षेत्र का परिसीमन

6- सर्वेक्षण की कठिनाइयां

विषय-वस्तु का परिचय

शिक्षा व्यक्ति की अन्तर्निहित शक्तियों को उजागर करती है, उसके देवत्व का दर्शन कराती है, मानवीय मूल्यों की अनुभूति का उसे अवसर प्रदान करती है और स्वानुभूति का मार्ग प्रशस्त करती है। शिक्षा द्वारा ऐसे वातावरण की सर्जना अभीष्ट है जिससे व्यक्ति अपनी नैसर्गिक क्षमताओं का पूर्णतया विकास करने की ओर अग्रसर हो सके। स्वातन्त्र्योत्तर भारत में शिक्षा का प्रसार अत्यन्त तीव्रता से हुआ है। प्राथमिक विद्यालयों से लेकर विश्वविद्यालय तक के सभी स्तरों की शिक्षण संस्थाओं में भारी वृद्धि हुई है। आज आवश्यकता इस बात की है कि छात्र सोचने, समझने और आचार–विचार के क्षेत्र में संस्कारित एवं उन्नत स्तरों के प्रतिनिधि बनें। शिक्षित व्यक्तियों में कदाचारों एवं हीन प्रवृत्तियों के स्थान पर मानवता के श्रेष्ठ गुण, ''वसुधैव कुटुम्बकम'' के भाव, नैतिकता के उदाप्त भाव, लोकतान्त्रिक आचार, उदार धार्मिकता एवं वैचारिक उच्चता और जीवन में सरलता के गुण प्रतिष्ठित हों। शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है जो मनुष्य की जन्मजात शक्तियों के स्वभाविक और सामंजस्यपूर्ण विकास में योग देती है। व्यक्ति की व्यक्तिकता का पूर्ण विकास करती है। उसे वातावरण से सामंजस्य स्थापित करने में सहायता देती है। उसे जीवन और नागरिकता के कर्तव्यों और दायित्वों के लिए तैयार करती है और उसके व्यवहार, विचार और दृष्टिकोंण में ऐसा परिवर्तन करती है जो समाज देश और विश्व के लिए हितकर होता है। शिक्षा केवल वही नहीं जो बालक को स्कूल में मिलती है बल्कि शिक्षा का कार्यक्रम जीवन भर चलता रहता है। मनुष्य अपने विभिन्न अनुभवों से अपने जीवन भर कुछ–न–कुछ सीखता है। वह हर किसी परिस्थिति और हर किसी मनुष्य से कुछ–न–कुछ सीखता है। शिक्षा का अर्थ बालक की जन्मजात शक्तियों का सर्वांगीण विकास करके उसके जीवन को सफल बनाने से है। शिक्षा प्रक्रिया में शिक्षक का महत्वपूर्ण स्थान है। बिना उसके शिक्षा की प्रक्रिया का संचालन ही नहीं हो सकता शिक्षक शिक्षा का एक ध्रुव है। दूसरा ध्रुव है शिक्षार्थी। बिना शिक्षार्थी

के शिक्षा की प्रक्रिया असम्भव है। शिक्षक का दृष्टिकोंण सहानुभूतिपूर्ण होना चाहिए। रसेल के शब्दों में, "जहां बालकों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोंण रखने वाले शिक्षक के ऊपर थोड़े बालकों की शिक्षा का भार होता है, वहाँ सभी काम स्वेच्छया होते हैं।"[1] संसार के बड़े से बड़े सिद्धान्तों में आस्था रखने की अपेक्षा छात्र में आस्था रखना शिक्षक का प्रथम गुण है। रसेल का कथन है कि, "शिक्षक को राष्ट्र तथा चर्च की अपेक्षा अपने शिष्य के प्रति प्रेम होना चाहिए यदि ऐसा नही है तो वह आदर्श शिक्षक नहीं है।" प्रत्येक शिक्षक की यह कामना होती है कि वह अपने कार्य में सफलता प्राप्त करे। कार्य में सफलता, कार्य के स्वरूप पर निर्भर करती है। शिक्षक अपने कार्य में तभी सफल होता है जब वह शिक्षण के स्वरूप को ठीक से पहचानें। शिक्षण का स्वरूप शिक्षा–दर्शन निश्चित करता है, अतः शिक्षक के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह शिक्षा–दर्शन से परिचय प्राप्त करे। साधारणतः प्रत्येक शिक्षक किसी एक विषय का अध्यापन करता है और उस विशिष्ट विषय का व्याख्याता, प्रवक्ता, प्राध्यापक आदि कहने में वह गर्व का अनुभव करता है। गर्व की अपेक्षा यह चिन्ता का विषय है। अध्यापक को जीवन का शिक्षक होना चाहिए, न कि किसी विषय का। किसी विषय का पण्डित यदि जीवन की समस्याओं से अपरिचित है तो वह विषय का सच्चा ज्ञाता भी नहीं कहा जा सकता, शिक्षक तो दूर की बात है। शिक्षक का शिक्षत्व इसी में है किव वह बालक के सम्पूर्ण जीवन के रहस्यों से परिचित हो और जीवन के सन्दर्भ में अपने विषय को सम्पूर्ण ज्ञान की एक शाखा के रूप में भी पढ़ाए, तभी वह सफल शिक्षक हो सकता है। जीवन के रहस्यों से एवं अनुभवों की एकता से परिचय शिक्षा के अध्ययन से प्राप्त होता है। शिक्षा और समाज एक दूसरे के पूरक और परस्पर सम्बन्धित हैं वस्तुतः इसका सम्बन्ध कारण और परिणाम का है। क्योंकि समाज जैसा होता है वैसी ही शिक्षा होती है और

1– Bertrand Russell, "Principles of Social Reconstruction", George Allen & Unwin Ltd., London. (1960), p.30

जैसी शिक्षा होती है, वैसा ही समाज होता है। समाज का विकास शिक्षा से सम्भव है। प्रत्येक समाज अपने सदस्यों का समुचित विकास करने के लिए शिक्षा की व्यवस्था करता है। परिवार एवं समाज में शिक्षा का एक विशिष्ट महत्व है। प्राथमिक विद्यालयों से लेकर विश्वविद्यालयी शिक्षा के माध्यम से बच्चों को अपने समाज एवं संस्कृति के बारे में काफी जानकारी मिलती है। समाजीकरण में स्कूली शिक्षा की इतनी अहम् भूमिका होती है कि प्रत्येक माता–पिता अपने बच्चों को अच्छे से अच्छे स्कूल में दाखिला दिलाना पसन्द करते हैं। आधुनिक युग में औपचारिक शिक्षा की इतनी अधिक महत्ता है कि लोगों को विभिन्न प्रकार का ज्ञान स्कूलों एवं महाविद्यालयों के माध्यम से मिलता है शायद उतना ज्ञान समाजीकरण के अन्य अभिकरणों से प्राप्त नहीं होता है। शिक्षण संस्थानों में ज्ञान के प्रमुख तीन स्रोत हैं– (1) शिक्षक–शिक्षिकाएं, (2) सहपाठी, (3) पुस्तक, इन्ही तीन चीजों के मिलने से स्कूली शिक्षा का वातावरण निर्मित होता है जिसका प्रभाव व्यक्तित्व के विकास में इतना अधिक होता है कि किसी भी व्यक्ति को देखकर समझा जा सकता है कि इसकी शिक्षा किस प्रकार के शिक्षण संस्थानों में हुई। जिस समाज में शिक्षा का प्रसार उतना नहीं हुआ है वहां शिक्षा का माध्यम मौखिक, अन्तःक्रिया है लोग अनौपचारिक रूप से समाज के वयोवृद्ध लोगों से ज्ञान प्राप्त करते हैं। बहुत सारी जनजातियां एवं आदिम समाजों के बीच अभी अधुनिक शिक्षा का प्रसार नहीं हुआ है, वहां समाज के बड़े–बुजुर्ग ही शिक्षा की प्राप्ति हेतु प्रेरणा के स्रोत होते हैं, जो लोग जितने अधिक उम्र के होते हैं उन्हें उतना ही अधिक अनुभवी और ज्ञानी माना जाता है। वे लोग मौखिक रूप से बालकों एवं नवयुवकों को अपने ज्ञान एवं अनुभव से अवगत कराते हैं, इसलिए वैसे समाज में उम्र–विभेदीकरण प्रतिष्ठा का आधार माना जाता है। लोग यही मानते हैं कि ज्ञान का सम्बंध उम्र से है, जो जितना ज्यादा उम्रवाला है वह उतना ही अधिक योग्य और बुद्धिमान माना जाता है।

समाज और शिक्षा का आपस में सह–सम्बन्ध है, यदि परिवार के

सदस्यों में शिक्षा का अभाव है तो समाज और राष्ट्र का विकास अधूरा माना जाता है। शिक्षा पर सामाजिक क्रियाकलाप गतिविधियां, गतिशीलता तथा विभिन्न सम और विषय प्रक्रियाएं निर्भर करती हैं। शिक्षा और संस्कार के माध्यम से आदर्श एवं स्वच्छ समाज का निर्माण कर सकते हैं। समाज की अच्छाइयों एवं बुराइयों का मूल्यांकन किया जा सकता है। संस्कार के द्वारा मानवीय मानदण्डों एवं जीवन के मानदण्डों की रक्षा की जाती है। शिक्षा के द्वारा व्यक्तियों में जागरूकता मौलिक अधिकारों, राष्ट्र के प्रति उत्तरदायित्वों एवं कर्तव्यों तथा परिवार के प्रति उत्तरदायित्व का ज्ञान प्राप्त होता है। शिक्षा के द्वारा छात्र एवं छात्राओं में अच्छे संस्कार, आचरण, मौलिक अधिकारों, नैतिकता सम्बन्धी विचारधारा, आध्यात्मिक एवं चारित्रिक गुणों का विकास होता है। "शिक्षा एक द्विमुखी प्रक्रिया है, जिसमें एक ध्रुव पर शिक्षक तथा दूसरे ध्रुव पर शिष्य होता हैं। शिष्य विभिन्न शैक्षिक कार्यों के बीच रूचि प्रकट करता है, इसका अभिप्राय यह है कि कार्य उसके लिए मूल्यवान है। दूसरी ओर हम शिक्षक को शैक्षिक नीतियों, पाठ्यक्रम, अनुशासन आदि के स्वरूप को निर्धारित एवं कार्यान्वित करते देखते हैं। यह ऐसा क्यों करता है? इसका समुचित उत्तर यह हो सकता है कि छात्रों की शिक्षा में इन सबकी उपयोगिता है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि बालकों के विकास के लिए समस्त तथ्य मूल्यवान हैं। अतः मूल्य उपयोगिता तथा उपयुक्तता का निरूपण करते हैं। "शिक्षा एक अभिप्राय युक्त प्रक्रिया है। इस कारण शिक्षा को लक्ष्य के अभाव में सोचा नहीं जा सकता है। शिक्षा का कोई–न–कोई लक्ष्य अवश्य होता है इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रयास किए जाते हैं, इन लक्ष्यों की प्राप्ति के मार्ग में बहुत से अनुभव प्राप्त होते हैं। यह अनुभव शिक्षक एवं शिक्षार्थी के जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाहन करते हैं।"[1] शिक्षा के द्वारा हम जीवन के मूल्यों की क्रमोत्तर वृद्धि कर सकते हैं

1– डा0 गुरूसरनदास त्यागी "सामाजिक अध्ययन का शिक्षण" पृष्ठ संख्या–51, 52 विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा।

जैसे सामाजिक कुशलता, आर्थिक क्षमता, निषेधात्मक नैतिकता, सकारात्मक नैतिकता, व्यवहारिक उपयोगिता, स्वतन्त्र अध्ययन की आदत, मानसिक शक्तियों का विकास, विविध जटिलताओं का निराकरण, चयन करने की कुशलता, सहयोगी कार्य में प्रशिक्षण, स्वस्थ्य आदतों एवं उचित वृत्तियों का विकास तथा अनुकूलता का विकास आदि। भारतीय परम्पराओं में माँ बालक एवं बालिकाओं की प्रथम गुरू मानी जाती है, जीवन की प्राथमिक स्वच्छ आदतें माँ के द्वारा बच्चों को दी जाती हैं। बच्चों में अच्छे संस्कार, आचरण, विचार माँ के द्वारा बच्चों को दिए जाते हैं। पिता भी माता के पश्चात गुरू का कार्य करता है वह उसे शुभाशीष देकर शुभ कार्यों की प्रेरणा देकर सदाचार के लिए प्रेरित करता है। "शिक्षण का मुख्य उद्देश्य छात्रों के व्यवहार में परिवर्तन लाना है जिससे वे अधिकाधिक समाजोपयोगी बन सकें, इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हमें शिक्षण को सफलीभूत बनाना आवश्यक है।"[1] शिक्षक एवं शिक्षिकाओं के द्वारा विद्यार्थियों में सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं नैतिक मूल्यों को जीवन से जोड़ना जिससे उनका जीवन नियोजन पूर्ण एवं सफलताओं से परिपूर्ण हो शिक्षा के द्वारा विद्यार्थी निम्नतम से उच्चतम बिन्दुओं की ओर अग्रसर होता है। वर्तमान समय में पारिवारिक एवं सामाजिक परिवर्तन शैक्षणिक गतिविधियों से हो रहे हैं। नवीन अभिवृत्तियों, नूतन अभिरुचियों, नये मूल्यों और आदर्शों के विकास के लिए शैक्षणिक परिवर्तन जिम्मेदार हैं। शिक्षा के द्वारा बाहरी और आंतरिक परिवर्तन तेजी से हो रहे हैं। विद्यार्थियों को अज्ञात से ज्ञात की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर तथा अगतिशीलता से गतिशीलता की ओर, जटिलता से सरलता की ओर, सामान्य से विशिष्टता की ओर, अनिश्चितता से निश्चितता की ओर, अंश से पूर्ण की ओर तथा संश्लेषण से विश्लेषण की ओर एवं तार्किकता से मनोवैज्ञानिकता की ओर अधिगमन करने के लिए प्रेरित करतीं है। आधुनिक समाज में औद्योगीकरण के कारण शिक्षा के स्वरूप में भिन्नता

1– डा0 गुरूसरनदास त्यागी, "सामाजिक अध्ययन का शिक्षण" पृष्ठ संख्या–75 विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा।

आई है। वर्तमान समय में शिक्षा सार्वभौमिक बन गई है तथा शिक्षा सभी वर्गों, जातियों, उपजातियों के लिए उपलब्ध है। शिक्षा देने का कार्य अब औपचारिक रूप से विभिन्न शिक्षण संस्थाओं जैसे– प्राथमिक विद्यालयों, पूर्व माध्यमिक विद्यालयों, माध्यमिक विद्यालयों एवं महाविद्यालयों के द्वारा दी जा रही है। शिक्षा में विशेषीकरण की प्रवृत्ति पनपी है। शिक्षा में धर्म एवं नैतिकता का प्रभाव कम हुआ है तथा शिक्षा धर्म निरपेक्ष हो गई है। आज शिक्षा वैयक्तिक के स्थान पर समूहवादी हो गई है। वोटोमोर कहते हैं कि आदिम एवं पूर्वकालीन समाजों में शिक्षा का विषय साहित्यिक कम और वैज्ञानिक अधिक है। आदिम एवं आधुनिक समाजों में पायी जाने वाली शिक्षा की पद्धति, स्वरूप, उद्देश्य एवं साधनों में अन्तर पाया जाता है। आदिम समाजों में शिक्षा और संस्कृति का घनिष्ठ संबंध पाया जाता है। आदिम समाज में शिक्षा का तात्पर्य पुस्तकीय ज्ञान प्रदान करने से नहीं था, वरन समाज एवं संस्कृति से अनुकूलन स्थापित करने में था। आदिम समाजों में शिक्षा प्रदान करने वाली विशिष्ट शिक्षण संस्थाएं नहीं थी। समाज, परिवार एवं अन्य अनौपचारिक साधनों द्वारा ही व्यक्ति को शिक्षा प्रदान की जाती थी। आदिम समाजों की शिक्षण विधियां मौखिक निर्देशों दन्त कथाओं, लोकगीतों, किवदन्तियों, जनश्रुतियों एवं नैतिकता से परिपूर्ण कहानियो, संगीत एवं आपसी वार्तालाप द्वारा दी जाती थी और यह कार्य प्रमुख रूप से समाज और परिवार द्वारा किया जाता था।

आधुनिक युग में शिक्षक विधियाँ आदिम शिक्षण विधियों से बिल्कुल भिन्न हैं। आधुनिक युग की कुछ सहायक शिक्षण विधियाँ जैसे– रेडियो, टेलीविजन, सिनेमा, पत्रकारिता, दृष्य–श्रवण विधियां, सायंकालीन कक्षाएं तथा साप्ताहिक शैक्षणिक कार्यक्रमों का अनुसरण करना जिससे बौद्धिक एवं मनोवैज्ञानिक परिवर्तन हो सके प्रेस की स्थापना के कारण पुस्तकों एवं पत्र–पत्रिकाओं का छपना सम्भव हुआ है। पुस्तकों के माध्यम से सभी लोगों को शिक्षा सरलता से उपलब्ध हो जाती है। आज विभिन्न कस्बों एवं नगरों में बड़े–बड़े पुस्तकालयों की स्थापना की गई

है। जो ज्ञान के संचित कोष कहे जाते हैं। चित्रों, गीतों, संगीत, नाटक, कहानियाँ, शैक्षणिक वार्तालाप आदि के द्वारा जन शिक्षण का कार्य किया जाता है।

वर्तमान समय में व्यवसायिक शिक्षा वहुत आवश्यक है। व्यवसायिक शिक्षा से युवा छात्र एवं छात्रायें अपने जीवकोपार्जन के साधन ढूंढ सकते हैं। "शिक्षा को जीवन से जोड़ने के लिए प्रस्तावित पुर्नगठन में सुनियोजित व्यवसायिक शिक्षा के कार्यक्रम को दृढ़ता से क्रियान्वित करना आवश्यक है। इससे आजकल कुशल कर्मचारियों की मांग और पूर्ति का असन्तुलन समाप्त होगा और छात्र और छात्राओं को उनकी रूचि के अनुसार वैकल्पिक मांगो को खोजने का अवसर प्राप्त होगा। व्यवसायिक शिक्षा का उद्देश्य छात्र एवं छात्राओं को विभिन्न क्षेत्रों में चुने गए धन्धों के लिए तैयार करना होगा।"[1]

शिक्षा के सुसंगठित विकास के लिए श्रृंखलावद्ध विद्यालयों की स्थापना की गई—
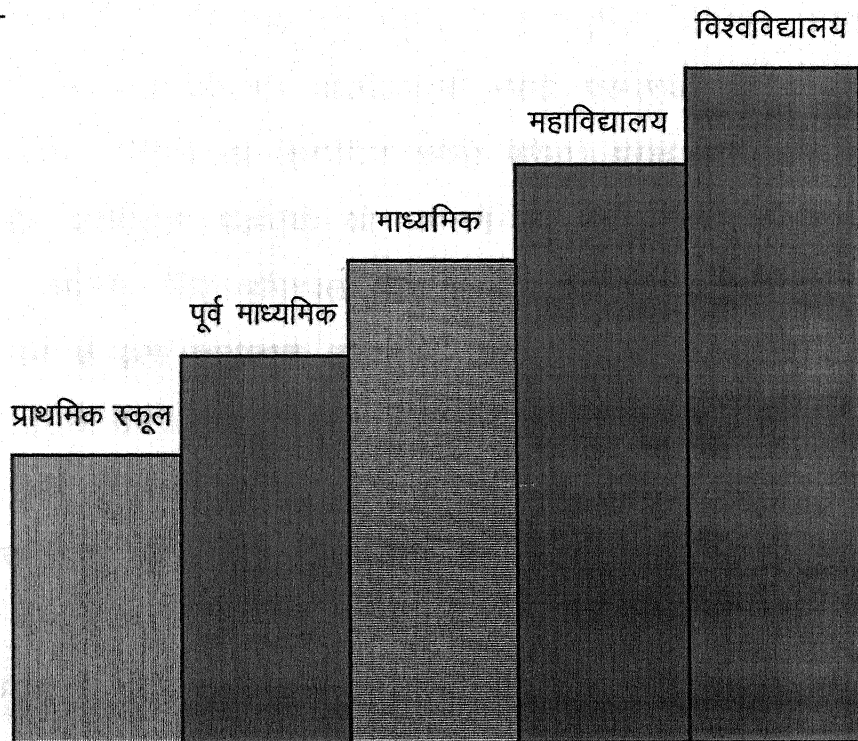
1— डा0 डी0 एस0 श्रीवास्तव, "भारत में शिक्षा का विकास" पृष्ठ संख्या—229 साहित्य प्रकाशन, आगरा।

भारतीय शिक्षा में आधुनिक परिवर्तन हुए भारतीय समाज को एक नवीन व निश्चित दिशा प्रदान करने के लिए जन–साधारण को शिक्षित एवं सुसंगठित करना पड़ेगा। शिक्षा के विभिन्न सम्बंधों में कई व्यापक एवं महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। "विभिन्न युगों की शिक्षा–प्रणालियों में कुछ–न–कुछ ऐसी सार्वभौमिक विशेषताएं होती हैं जिन्हें आने वाली शिक्षा–प्रणाली अपनाने के लिए लालायित रहती है। वैदिक, बौद्ध, मुस्लिम, तथा ब्रिटिश काल की शिक्षा–प्रणाली में कुछ विशेषताएं हैं जिन्हें आधुनिक शिक्षा–प्रणाली में लागू किया जा सकता है। धार्मिक व सांसारिक शिक्षा का समन्वय अध्यापक छात्रों के मधुर सम्बंध, चरित्र निर्माण पर बल आदि को वर्तमान शिक्षा में समाहित करके शिक्षा को अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है। इससे वर्तमान की अनेक समस्याओं के समाधान का मार्ग प्रशस्त हो सकेगा। साथ ही शिक्षा समाज की आवश्यकता की पूर्ति करने में समर्थ हो सकेगी।"[1] वर्तमान समय में शिक्षा में गुणात्मक सुधार होना आवश्यक है। इसके लिए शिक्षक एवं शिक्षिकाओं की अभिवृत्तियों एवं प्रवृत्तियों में समुचित परिवर्तन करना पड़ेगा। शिक्षक वर्ग को त्यागमयी एवं आत्मउत्थान संबंधी परम्पराओं में नवीनीकरण एवं पुर्नजागरण जैसी रीतियों को क्रियान्वित करना पड़ेगा। परन्तु आज की परिस्थितियों में नई और प्रगतिशील पद्धतियों को अपनाने की आवश्यकता है जिससे शिक्षक वर्ग अपने कर्म के लिए अभिनवल (Refrevel) हो सके। छात्र एवं छात्राओं में अध्यापक वर्ग के द्वारा ज्ञानात्मक, गत्यात्मक तथा प्रभावात्मक योग्यताओं को परिपक्व कर सके, इससे उनमें भावात्मक रूप से चिंतन करने, तर्क करने, निष्कर्ष निकालने, शब्द का अर्थ निकालने, संप्रेषण जैसी वृत्तियों का तेजी से विकास हो सकेगा। शिक्षा द्वारा मानव के विकास की प्रक्रिया का आरम्भ शैशव अवस्था से हो जाता है, अतः बालक की शिक्षा पर प्रत्येक स्तर पर शिक्षक–शिक्षा एक सातत्य का निर्वाह करती है तथा दूसरी ओर विद्यार्थियों की विभिन्न विशेषताओं की सामाजिक

1— डा0 डी0 एस0 श्रीवास्तव, "भारत में शिक्षा का विकास" पृष्ठ संख्या–46 साहित्य प्रकाशन, आगरा।

माँग के अनुरूप पूर्ति करती है। शिक्षक–शिक्षा चूंकि सातत्य प्रक्रिया है इसलिए इसके प्रत्येक स्तर, प्राथमिक से लेकर विश्वविद्यालयी शिक्षा राष्ट्रीय, सामाजिक एवं पारिवारिक लक्ष्यों की विशेषताओं की पूर्ति करता है। भारत एक प्रजातांत्रिक राष्ट्र है। प्रत्येक राष्ट्र को योग्य एवं दक्ष नागरिकों की आवश्यकता पड़ती है। आज पूरे विश्व में शिक्षा के प्रति आकर्षण है, प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि वह शिक्षा के द्वारा अपना सामाजिक–आर्थिक स्तर ऊँचा करे। विभिन्न देशों में अलग–अलग शिक्षा नीतियाँ हैं। वर्तमान शिक्षा में कुछ आधुनिक विषय एवं नए शैक्षणिक पाठ्यक्रमों को सम्मिलित किया है जिससे विद्यार्थियों में नए आयामों के प्रति जागरूकता तथा चैतन्यता पैदा हो। उनमें जनसंख्या शिक्षा, पर्यावरण की शिक्षा, कम्प्यूटर शिक्षा, आन्तरिक विज्ञान तथा जैव–रसायन एवं आनुवंशिकी जैसे विषयों को सम्मिलित किया है। शैक्षणिक ज्ञान छात्र एवं छात्राओं को अपने वातावरण का ज्ञान, मानव सम्बंध समझने की शक्ति और कुछ अभिवृत्तियों तथा मूल्यों को जो कि लोगों, राज्य, राष्ट्र और विश्व के मामलों में बुद्धिमत्तापूर्वक भाग लेने के लिए अपरिहार्य है, प्राप्त करने में सहायता देती है। नागरिकता तथा भावात्मक एकीकरण के लिए शिक्षा का अध्ययन अपरिहार्य है। महिला शिक्षिकाओं द्वारा अभिक्रमित अनुदेशन (Programmed-Instruction) का कार्य विद्यार्थियों को जटिलता तथा नवीनता के सुनियोजित शिक्षण उद्देश्यों से परिचित कराना होना चाहिए। महिला शिक्षिकाओं का योगदान सम्प्रेषण के तत्वों तथा अनुदेशनात्मक दृष्टिकोणों को विद्यार्थियों के समक्ष रखना चाहिए शिक्षिकाओं के द्वारा विद्यार्थियों को शिक्षित करते समय स्पष्टता का सिद्धांत, सक्रिय अधिगम का सिद्धान्त तथा सजगता के सिद्धांत से परिचित कराना चाहिए।

"प्रतिभाशाली बालक एवं बालिकाओं को महिला शिक्षिकाओं के द्वारा मुख्य तथ्य संज्ञान, स्मृति मूल्यांकन तथा अभिसारी चिन्तन के लिए उन्हें मानसिक रूप से तैयार करना चाहिए इसके अतिरिक्त प्रतिभाशाली बालक तथा बालिकाएं वे हैं जिनकी क्षमताएं एवं बौद्धिक शक्तियां उत्पादनशील एवं मूल्यांकन सम्बंधी

दोनों ही प्रकार की वैचारिक प्रक्रियाऐं उच्च विचारात्मक स्तर की होती हैं कि वह पर्याप्त शैक्षिक अनुभवों के मिलने पर भावी संस्कृति के समस्या विचारक खोजकर्ता तथा मूल्यांकनकर्ता बन सकता है।"[1] शिक्षा का सम्बंध पारिवारिक एवं आधारभूत सिद्धान्तों से सम्बन्धित होता है। शिक्षा और परिवार एक दूसरे के तटस्थता के सिद्धान्त पर खरे उतरते हैं। परिवार के द्वारा विद्यार्थियों में जीवन के शाश्वत मूल्यों जैसे–आत्मविश्वास, कर्म के प्रति आदर्श, सहनशीलता, सहकारिता, सहानुभूति, सेवा भावना, देश भक्ति, त्याग, सत्य निष्ठा अदि गुणों का विकास विद्यार्थियों में परिवार के द्वारा किया जाता है। छात्र एवं छात्राओं में सृजनात्मक अभिव्यक्ति का क्रमोत्तर विकास पारिवारिक रूपरेखा पर निर्भर करता है। परिवार एवं समाज एक दूसरे के पूरक हैं छात्र एवं छात्राओं में भावात्मक एवं ज्ञानात्मक, मनोवैज्ञानिक एवं मनोविश्लेषक जैसे उद्देश्यों को विद्यार्थियों में प्रतिपुष्टि करना चाहिए। परिवार यदि शिक्षित है तो विद्यार्थी भी शिक्षा ग्रहण करने के प्रति जागरूक होगा, विद्यार्थियों की शिक्षा और दीक्षा, संस्कृति और सभ्यता पारिवारिक गतिविधियां, वातावरण और रूपरेखा पर निर्भर करती है।

1– डा0 वी0 वी0 पाण्डेय, "शिक्षा में नवाचार तथा आधुनिक प्रवृत्तियाँ" पृष्ठ संख्या–252 प्रकाशक : वसुन्धरा प्रकाशन, राउदपुर, गोरखपुर।

पारिवारिक अध्ययन का महत्व

संसार के विभिन्न भागों में परिवार के स्वरूपों में विविधता दिखलाई पड़ती है। इस विविधता का मूल कारण स्थान विशेष की भौगोलिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों की भिन्नताएं हैं। भारतवर्ष में अनेक प्रकार के परिवार पाए जाते हैं। उदाहरण के रूप में यहां एक–विवाही, बहु–विवाही, पितृ–सत्तात्मक, मातृ–सत्तात्मक, केन्द्रीय और संयुक्त परिवार पाए जाते हैं। रचना और संगठन की दृष्टि से परिवार के अनेक रूप विश्व के विभिन्न भागों में मिलते हैं।

मानव की समस्त सामाजिक संस्थाओं में परिवार एक आधारभूत और सर्वव्यापी सामाजिक संस्था है। संस्कृति के सभी स्तरों में चाहे उन्हे उन्नत कहा जाये या निम्न किसी–न–किसी प्रकार का पारिवारिक संगठन अनिवार्यतः पाया जाता है। शारीरिक आवश्यकताओं एवं कामवासना की पूर्ति ने ही परिवार को जन्म दिया। परिवार ही नवजात शिशुओं एवं गर्भवती महिलाओं की देखभाल करता है, यौन सम्बन्धों एवं सन्तानोत्पत्ति का नियमन कर उन्हें सामाजिक मान्यता प्रदान करता है। यह भावनात्मक घनिष्ठता का वातावरण प्रदान कर बच्चे के समुचित लालन–पालन, समाजीकरण और शिक्षण में योग देता है। यही नहीं, बल्कि परिवार अपने सदस्यों की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति मे भी योग देता है। परिवार मानव जाति के आत्म–संरक्षण, वंशवर्धन और जातीय जीवन की निरन्तरता बनाए रखने का प्रमुख साधन है। मनुष्य मरणशील है, किन्तु मानव जाति अमर है। "मानव में सदैव जीवित रहने की इच्छा होती है। इसके लिए उसने अनन्तकाल से अनेक उपय किए, जड़ी–बूटियां ढूढ़ीं, रसायन और अमृत की खोज की, अनेक परीक्षण भी किए। किन्तु वह परिवार के अतिरिक्त इसका कोई हल खोज नहीं पाया। विवाह द्वारा परिवार का निर्माण कर सन्तानों के माध्यम से व्यक्ति का विस्तार होता है और वह मरकर भी अमर बना रहता है।"[1]

1– प्रो0 एम0 एल0 गुप्ता एवं डा0 डी0 डी0 शर्मा, "समाजशास्त्र" पृष्ठ संख्या–603 साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।

मनुष्य को एक तरफ अपनी मृत्यु का दुःख है तो दूसरी तरफ उसे यह भी सन्तोष है कि वह परिवार द्वारा अपने वंशजों के रूप में अनन्तकाल तक जीवित रहेगा। हमारे जीवन में जो कुछ भी सुन्दरता है, परिवार ने उसकी सुरक्षा की है, उसी ने मानव को सांस्कृतिक समृद्धि प्रदान की है। स्त्री और पुरूष दोनों ही परिवार के मूल हैं। परिवार नए प्राणियों को जन्म देकर मृत्यु से रिक्त होने वाले स्थानों को भरता है, तथा समाज की निरन्तरता बनाए रखता है। मैलिनोवस्की कहते हैं कि ''परिवार ही एक ऐसा समूह है जिसे मनुष्य पशु अवस्था से अपने साथ लाया है।''[1] सामाजिक नियंत्रण में परिवार की भूमिका महत्वपूर्ण है। परिवार न केवल समय और महत्व की दृष्टि से प्राथमिक है, वरन् वह समाज में नियन्त्रण रखने की दृष्टि से भी प्राथमिक है। चूंकि परिवार समाज की इकाई है, अतः सामाजिक नियंत्रण में भी उसकी स्थिति केन्द्रीय है। बच्चा सर्वप्रथम किसी न किसी परिवार का ही सदस्य होता है, अतः प्रारम्भ से ही उसे पारिवारिक प्रथाओं, रीति–रिवाजों, लोकाचारों एवं नियमों का ज्ञान कराया जाता है। परिवार के विभिन्न सदस्यों के सम्पर्क में आकर व्यक्ति आचरण के विभिन्न प्रतिमान ग्रहण करता है। मानव जन्म से ही लेकर मृत्यु तक किसी न किसी परिवार का सदस्य रहता ही है। परिवार ही उसके कार्यों एवं व्यवहारों को नियन्त्रित एवं निर्देशित करता है।

''परिवार के महत्व को प्राचीनकाल से ही स्वीकार किया गया है। कॉम्ट ने कहा है कि व्यक्ति नहीं वरन् परिवार ही समाज के अध्ययन की इकाई है। कूले इसे एक ऐसा प्राथमिक समूह मानते हैं जो मानव स्वभाव की पोषिका है तथा यह मानव में उत्कृष्ट भावना को पैदा करता है। परिवार द्वारा सम्पन्न किए जाने वाले विभिन्न कार्यों जैसे, यौन सन्तुष्टि, प्रजनन द्वारा मानव जाति की निरन्तरता बनाये रखना, सदस्यों का भरण–पोषण करना। समाजीकरण,

---

1– प्रो0 एम0 एल0 गुप्ता एवं डा0 डी0 डी0 शर्मा, ''समाजशास्त्र'' पृष्ठ संख्या–603 साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।

शिक्षा प्रदान करना, नियन्त्रण बनाए रखना, संस्कृति का हस्तान्तरण करना, सदस्यों को आर्थिक व मानसिक सुरक्षा प्रदान करना, समाज में व्यक्ति का पद निर्धारण करना तथा विभिन्न प्रकार के राजनीतिक, धार्मिक मनोवैज्ञानिक, मनोरंजनात्मक कार्यों के कारण परिवार सभी युगों में एक महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था रही है। प्रो0 डेविस "परिवार के चार कार्यों– प्रजनन, भरण–पोषण, सामाजिक संस्तरण तथा समाजीकरण के कारण परिवार को महत्वपूर्ण संस्था मानते हैं। बोटोमोर परिवार के इन कार्यों में आर्थिक कार्यों को और जोड़ते हैं। मरडॉक ने 250 समाजों का अध्ययन करके परिवार के चार सार्वभौमिक कार्यों– यौन संतुष्टि, प्रजनन, आर्थिक तथा शैक्षणिक कार्यों का उल्लेख किया है। पारसन्स ने परिवार के दो मौलिक कार्यों– प्राथमिक समाजीकरण और व्यक्तित्व–निर्माण का उल्लेख किया है। परिवार के अन्य कार्य तो अब विभिन्न संस्थाओं द्वारा किए जाने लगे हैं। मैरिल और एल्ड्रिज परिवार के प्राणीशास्त्रीय कार्यों, समाजीकरण करने व भावात्मक कार्यों को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। परिवार के महत्व को प्रकट करते हुए सिडनी ई0 गोल्डस्टोन लिखते हैं कि "परिवार वह झूला है जिसमें भविष्य का जन्म होता है। और वह शिशु गृह है जिसमें नए प्रजातन्त्र का जन्म होता है। परम्परा के द्वारा परिवार का सम्बन्ध भूतकाल से होता है, परन्तु सामाजिक उत्तरदायित्वों तथा सामाजिक विश्वास के द्वारा परिवार भविष्य से भी सम्बन्धित है। आधुनिक युग में परिवार को अनेक शक्तियों ने प्रभावित किया है और उसके कार्यों और महत्व में कुछ कमी आयी है, किन्तु आज भी अनेक कार्य ऐसे हैं जो केवल परिवार ही सम्पन्न कर सकता है। उन कार्यों को करने के लिए परिवार ही एकमात्र संस्था है और इस रूप में उसका महत्व आज भी है और भविष्य में भी बना रहेगा।"[1]

"सभ्यता की उन्नति चाहे किसी भी दिशा में हो परन्तु प्रत्येक समाज

1– प्रो0 एम0 एल0 गुप्ता एवं डा0 डी0 डी0 शर्मा, "समाजशास्त्र" पृष्ठ संख्या–615–616 साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।

के अधिकांश सदस्य अपनी जैविकीय, मानसिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति परिवार रूपी संस्था में ही ढूंढ़ते रहेगें। परिवार ही बच्चों के पालन–पोषण व प्रशिक्षण की सर्वोत्तम संस्था रही है, यही परम्परा और संस्कृति का वाहक और व्यक्तित्व के विकास का प्रेरक है। बोगार्डस ने परिवार के महत्व को दर्शाते हुए उचित ही लिखा है कि सभ्यता की भावी अवस्था में घर (परिवार) मानव जाति की अनौपचारिक शिक्षण–शाला और मानव स्नेहों का उत्तम केन्द्र बना रहेगा। परिवार समाज की आधारभूत इकाई है। मानव ने अनेकानेक अविष्कार किए हैं, किन्तु आज तक वह कोई भी व्यवस्था नहीं कर पाया है जो परिवार का स्थान ले सके। इसका मूल कारण यह है कि परिवार द्वारा किए जाने वाले प्रकार्य अन्य संघ एवं संस्थाएं करने में असमर्थ हैं।"[1] परिवार अपने सदस्यों के लिए निवास की भी व्यवस्था करता है। घर ही वह स्थान है जहां जाकर मानव को पूर्ण शान्ति प्राप्त होती है। परिवार में श्रम विभाजन का सबसे सरल रूप देखा जा सकता है। जहां पुरुष, स्त्री एवं बच्चों के बीच कार्य का विभाजन होता है। परिवार में कार्य विभाजन का आधार यौन एवं आयु दोनों हैं। स्त्रियां गृह–कार्य करती हैं तो पुरुष वाह्य कार्य तथा बच्चे छोटा–मोटा कार्य करते हैं।"[2]

"प्रत्येक परिवार किसी–न–किसी धर्म का अनुयायी एवं पंथ का अनुसरणकर्ता होता है। परिवार के लोगों की धार्मिक शिक्षा, धार्मिक प्रथाएं, नैतिकता, व्रत, त्यौहार, रीति–रिवाज आदि का ज्ञान परिवार ही कराता है।"[3] परिवार का अध्ययन करने से सभी प्रकार की अच्छाइयों एवं बुराइयों का पता चलता है। परिवार एक संस्था है जिसमें कई प्रकार के विश्लेषणात्मक तथ्यों का समावेश होता है। परिवार के सदस्यों की मानसिकता एवं सामाजिक सोच अलग–अलग

1– प्रो0 एम0 एल0 गुप्ता एवं डा0 डी0 डी0 शर्मा, "समाजशास्त्र" पृष्ठ संख्या–617 साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।

2– Ibid, Page No. 616

3– Ibid, Page No. 617

प्रकार की होती है। पारिवारिक अध्ययन करने से समाज का ढांचा एवं स्वरूप में स्पष्टता दिखलाई पड़ती है एवं सामाजिक पारदर्शिता स्पष्ट नजर आती है।

जनपद जालौन में कई प्रकार के परिवारों का सर्वेक्षण किया तो बहुत सारी भिन्नताएं दिखलाई पड़ी क्योंकि विभिन्न प्रकार की जातियों में पारिवारिक एवं सामाजिक तथ्यों में काफी उतार–चढ़ाव देखे गए। विभिन्न परिवारों में पदों के महत्व में अन्तर एवं व्यक्तियों में योग्यता, बुद्धि एवं कुशलता में काफी भेद पाया गया। ग्रामीण क्षेत्र के परिवारों में शहरी क्षेत्र के परिवारों की सोच, सूझ–बूझ, रहन–सहन के तरीके, रीति–रिवाज, पारिवारिक परम्पराओं में काफी भिन्नता पायी जाती है। उत्तर प्रदेश के विभिन्न जनपदों का सर्वेक्षण करने पर पाया गया कि जनपद जालौन के परिवारों की स्थिति अन्य जनपदों से अलग है। लोग समता और विषमता की स्थिति में, सम्पन्नता और विषमता की स्थिति में जीते हैं। कोंच तहसील में कृषि पैदावार अधिक होने से परिवार अधिक सम्पन्न हैं। परिवारों में आय अधिक है। परिवारों में कई प्रकार की विसंगतियां पाई जाती हैं। कोंच तहसील के गुर्जर, कुर्मी और पाल परिवारों का अध्ययन करने पर ज्ञात हुआ कि घर का बुजुर्ग मुखिया का काम करता है जिसको कि परिवार में सम्मान दिया जाता है और वह प्रतिष्ठित व्यक्ति माना जाता है। परिवार में मनाए जाने वाले त्यौहारों, धार्मिक कार्यक्रमों में उसको विशेष सम्मान दिया जाता है। बुजुर्ग आदमी परिवार का एक प्रतीक माना जाता है। जिसको कि लोग देवत्व के समान सम्मान देते हैं। कई परिवारों का अध्ययन एवं विश्लेषण करने के दौरान उनका मूल्य कम पाया गया। बुजुर्ग एक परिवार का मुखिया होता है। यह उसकी योग्यता, कार्यप्रणाली एवं गतिविधियों पर निर्भर करता है। उरई के बुनकर समाज के कई परिवारों में बुजुर्गों की स्थिति बड़ी दयनीय देखी गई है। उनको अपमानित किया जाता है और उनके लिए बुरे शब्दों का प्रयोग कर मानसिक रूप से प्रताड़ित किया जाता है। बुनकर समाज में अधिकांशतः लोग अंधविश्वासी एवं रूढ़िवादी परम्पराओं में जीते हैं।

जनपद में तीन श्रेणियों में परिवार पाए जाते हैं– उच्च, मध्यम और निम्न। उच्च परिवारों की संख्या 15 प्रतिशत जिनका जीवकोपार्जन कृषि है। जनपद के ग्रामों में कोरी, जाटव, कुशवाहा, बसोर, मेहतर, रायक्वार जैसी जातियां उच्च परिवारो के घर मे कार्य करती है जिनसे उनके जीवन का पालन पोषण होता है। कई बार उनके लिये बुरे शब्दो का प्रयोग उच्च जाति के लोग करते है। उनकी बेइज्जती की जाती है जिससे कि उनको मानसिक एवं मनोवैज्ञानिक पीड़ाओं का सामना करना पडता है।

बिनौरापुर ग्राम का सर्वेक्षण करने पर ज्ञात हुआ कि उच्च वर्ग का आधिपत्य निम्न वर्ग पर है, ऐसे बहुत से गांव के अशिक्षित परिवार बंधुआ मजदूरी की जिन्दगी जी रहे हैं अर्थात लेवर ला के नियमो का इस ग्राम में पूर्णरुप से उल्लंघन देखा तथा ग्राम में कई सूदखोर भी है जो कि अपना पैसा ब्याज पर बांटकर अशिक्षित परिवारो का आर्थिक, मनोवैज्ञानिक, नैतिक एवं शारीरिक शोषण करते है परिवारों मे सबसे बड़ा कारण शिक्षा का अभाव होने की बजह से जनपद मे निम्न और अशिक्षित वर्ग का अधिक शोषण होता है क्योंकि ये परिवार अपने मौलिक अधिकारों से वंचित है तथा उनमें जागरुकता का अभाव है।

पारिवारिक आस्थायें एवं उद्देश्य

पारिवारिक आस्थायें-

"धर्म मानव समाज का ऐसा व्यापक स्थायी एंव शाश्वत तत्व है जिसको सम्यक रुप से समझे बिना हम समाज के सन्दर्भ में पारिवारिक आस्था को समझने मे असफल होगे। वर्तमान मे मानव ने विज्ञान के सहारे अपने पर्यावरण पर काफी नियन्त्रण प्राप्त कर लिया है। फिर भी धर्म आज भी एक सार्वभौमिक तथ्य बना हुआ है धर्म मानव का अलौकिक शक्ति से सम्बन्ध जोड़ता है। इसका सम्बन्ध मानव की भावनाओं, मानव की आस्थाओं, पारिवारिक आस्थाओं, श्रद्धा एवं भक्ति से है। धर्म मानव के जीवन को प्रभावित नहीं करता वरन् उसके पारिवारिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक जीवन को भी प्रभावित करता है। मार्क्स धर्म को मानव के लिए "अफीम" मानते हैं। मैक्स बेवर का मत है कि धर्म हमारे आर्थिक जीवन को प्रभावित करता है।"[1] पुरूषों की अपेक्षा महिलाएं अधिक पारिवारिक एवं धार्मिक आस्थाओं में विश्वास रखतीं हैं। पुरूष आस्थाओं में कम विश्वास करता है। किन्तु नारी समाज अधिकांशतः धार्मिक आस्थाओं, पारिवारिक आस्थाओं एवं परम्पराओं में अधिक विलीन रहती हैं। आस्थाओं में मनुष्य उन शक्तियों की संतुष्टि या आराधना समझता है जिनके सम्बन्ध में विश्वास किया जाता है कि वे प्रकृति और मानव जीवन का मार्ग बतलाती है। रास्तों पर प्रकाश पैदा कर अंधकार दूर करतीं है, तथा अज्ञानता को दूर कर ज्ञान का पाठ पढ़ातीं हैं। जिससे जीवन सरल, सुगम एवं व्यवस्थित हो जाता है। विश्व के समस्त देशों में धर्म किसी न किसी रूप में विद्यमान है। धर्म में व्याप्त विविधता व्यक्ति के व्यवहार, विश्वास, आचरण, संस्कार, अनुष्ठान, जप–तप–मंत्र, व्रत, रोजा, चर्तुमास आदि के द्वारा स्पष्ट होते हैं। धर्म में आस्था रखने वाले सभी मानव ईश्वरी

1– प्रो0 एम0 एल0 गुप्ता एवं डा0 डी0 डी0 शर्मा, "समाजशास्त्र" पृष्ठ संख्या–674 साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।

शक्ति एवं उसकी पवित्रता में पूर्णतया विश्वास रखते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आस्था एवं विश्वास के अनुसार अपने इष्ट देव की पूजा एवं उसकी पवित्रता में पूर्णतयः विश्वास रखते हैं। आराधना, आस्था, पूजा–अर्चना, याचना, प्रार्थना, नमाज, अलग–अलग जातियों में पाई जाती है। विश्व के धर्म तर्क पर नहीं बल्कि आस्था एवं विश्वास पर आधारित है। इस कारण से धार्मिक व्यक्ति रूढ़िवादी और अंध ाविश्वासी कहा जाता है। भारत एक धार्मिक आस्थाओं, अंधविश्वासी, रूढ़िवादी, तांत्रिक, साधु–सन्यासियों एवं जादू–टोनों में आस्था रखने वाले, भूत–प्रेतों को मानने वालों का देश कहा जाता है। भारतवर्ष में अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति एवं पिछड़े वर्ग के व्यक्ति रूढ़िवादिता एवं अंधविश्वास में अधिक आस्था रखते हैं। भारतीय समाज धर्म–प्राण समाज कहलाता है। और धर्म की प्रत्येक क्षेत्र में महत्ता रही है। धर्म व्यक्ति, पारिवारिक आस्था, समाज और सम्पूर्ण राष्ट्र के जीवन को अनेक रूपों में प्रभावित करता है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था मूलतः धर्म तथा पारिवारिक आस्थाओं पर आधारित है। भारतीय समाज में व्यक्ति ज्ञान, भक्ति तथा आस्थाओं के द्वारा परमेश्वर के स्वरूप को समझने का प्रयत्न करता है। भारत में कई प्रकार के धर्म, सम्प्रदाय एवं पंथ हैं। सभी धर्मों के रीति–रिवाज एवं पारिवारिक आस्थाएं अलग–अलग हैं। भारत ने सभी धर्मों को आश्रय दिया है। उन्हें विकसित एवं उन्नति करने के लिए समान अवसर दिए हैं। इसलिए भारत में एक नहीं अनेकों धर्म हैं।

(A) "Religion is the belief in spiritual beings" -Edward B. Tylor

(B) Religion includes all thos patterns of behaviour where by man strives to reduce the uncertainities of daily living and to compensate the crisis which result from the unexpected and unpredictable. Religion first was not related to the hopes and aspiration of man. It was related to bear.

-Malinowaski

भारतीय समाज व दर्शन में धर्म का अर्थ भिन्न है। डा0 राधाकृष्णन हिन्दू धर्म की व्याख्या करते हुए लिखते हैं यह 'धृ' धातु से बना है जिसका अर्थ बनाए रखना, धारण करना और पुष्ट करना है। यह वह मापदण्ड है जो विश्व को धारण करता है, किसी भी वस्तु का वह मूल तत्व है जिसके कारण वह वस्तु है। वेदों में इस शब्द का प्रयोग धार्मिक विधियों के अर्थ में किया गया है। छान्दोग्य उपनिषद में धर्म की तीन शाखाओं का उल्लेख किया गया है जिसका सम्बंध गृहस्थ, तपस्वी, ब्रह्मचारी के कर्तव्यों से है। जबकि तैतिरीय उपनिषद का आग्रह है कि हम धर्म का आचरण करें तथा इसका अभिप्राय जीवन के कर्तव्य पालन से होता है। धर्म शब्द का प्रयोग भागवत् गीता और मनुस्मृति, दोनों में हुआ है हिन्दुओं के लिए धर्म एक अनुभव या मनोवृत्ति है।"[1] मुस्लिम परिवारों में कुछ धार्मिक आस्थाएं एवं संस्कार सम्पन्न किए जाते है। इन धार्मिक संस्कारों को समझे बिना मुस्लिम परिवार के सम्बंध में हमारा ज्ञान अपूर्ण ही रहेगा। ये संस्कार हैं– सदका, अकीका, चिल्ला, बिस्मिल्ला, खतना, निकाह और मैयत। हिन्दू, मुस्लिम एवं ईसाई पारिवारिक आस्थाएं एक दूसरे से पृथक–पृथक होती हैं।"[2] जनपद जालौन की पारिवारिक आस्थाएं कुछ अन्य प्रान्तों के जनपदों से अलग हैं। जनपद जालौन के परिवारो का सर्वेक्षण करने पर ज्ञात हुआ कि पुरूषों की अपेक्षा स्त्रियां अधिक आस्थाओं एवं संस्कारों से प्रभावित हैं। जनपद जालौन की संस्कृति लोक संस्कृति से बंधी हुई है। कोंच तहसील, कालपी तहसील एवं जालौन तहसील के ग्रामों में ग्रामीण धर्म लोक आचरण में झलकता है। ग्रामीण आस्थाएं, मान्यताएं, विश्वास, परम्पराएं, रीति–रिवाज, ग्रामीण गाथाएं, ग्रामीण धर्म की आधारशिला है। कोंच तहसील के कई ग्रामों में जैसे– पनियारा, तूमरा, भदेवरा, सदूपुरा, कनासी, में घटोई बाबा, कारसदेव बाबा, हरदौल बाबा, गुसांई

1– डा0 बी0 डी0 गुप्ता, "ग्रामीण समाजशास्त्र–साहित्य परिप्रेक्ष्य में" पृष्ठ संख्या–10 सीता प्रकाशन, हाथरस।

2– Ibid, Page No. 14

बाबा के चबूतरे हैं तथा कालका माता के चबूतरे एवं मठिया पीपल एवं बरगद के पेड़ों के नीचे स्थित हैं।

ग्रामीण समाज में जहां अनेक मन्दिर, शिवजी का मन्दिर, हनुमान जी का मन्दिर एवं देवी जी का मन्दिर हैं वहीं अनेक प्रकार के ग्रामीण देवी–देवता और बाबा हैं। बैरागढ़ बाली माता पर जाकर विभिन्न जाति के लोग बच्चों के मुण्डन संस्कार कराते हैं एवं अपनी आस्थाओं को विभिन्न तरीकों से प्रदर्शित करते है। कृषि सम्बंधी देवी–देवता और बाबा हैं। ग्वालों (अहीर) पशुपालक कारसदेव बाबा की पूजा करते हैं जिससे पशुधन सुरक्षित रहे। प्राकृतिक संकट वाले बाबा अलग हैं। व्यवसाय के लिए अलग है तथा प्राकृतिक घटनाओं के लिए अलग–अलग है। ग्रामीण देवी–देवता और बाबाओं की व्याख्या धार्मिक ग्रन्थों में नहीं मिलती है। अधिकतर परिवारों में मेंहदीघाटमपुर वाले बालाजी की मान्यता है। हिन्दू परिवारों में बच्चे जन्म के समय एवं शादी के पहले रकस लगाने की प्रक्रिया भी एक धार्मिक आस्था से सम्बंधित है। हिन्दू महिलाएं सुहागलें करने की धार्मिक आस्था मानतीं है। मुस्लिम समाज में फातिया और बीबियों की कहानियां सुनने की प्रथा होती हैं। कालपी तहसील का ग्राम पिए जो आटा के नजदीक है में भगेलन कालका का चबूतरा है। जिनकी पूजन सामग्री में देशी घी की मिठाई, अगरबत्ती, नीबू, झण्डा, शराब आदि का भोग लगाया जाता है। विवाह या बच्चे के जन्म पर बकरों की बलि दी जाती है। विशेष तौर से कोरी या बुनकर समाज में, कोरी समाज, सैयद बाबा और मसान बाबा की पूजा करते हैं। बुधवार, बृहस्पतिवार और इतवार को गुलगुला (मीठे पुआ) का भोग लगाया जाता है। जनपद जालौन का कोरी समाज सैयदबाबा, मसानबाबा, कालका, बृह्मदेवबाबा तथा अघौरीबाबा में धार्मिक आस्था को मानते हैं।

जनपद जालौन का माहेश्वरी समाज रामदेव जी की पूजा करता हैं जिनका मुख्य स्थान राजस्थान में जोधपुर में स्थित है। महीने की दौज के दिन पूजा की जाती है। ये उनकी धार्मिक आस्था है, श्रीनाथ जी की पूजा

करते हैं, उपवास एक धार्मिक रीति–रिवाज है। महिलाएं सिल्क की साड़ी पहनती हैं। दिन में चार बार भोग लगाती हैं। जनपद जालौन के पिरौना ग्राम के ग्रामीण नागरिक से वार्ता करने पर जो कि जाटव परिवार से सम्बंधित था उसने गौड़बाबा के बारे में जानकारी दी। गौड़बाबा को अषाढ़ के महीने में बकरों की बलि दी जाती है। चौमुखी कालका की मान्यता है जिनकी बात में अनिश्चितता रहती है। बलि प्रथा अहिरवार (जाटव) समाज में अधिक है। घटोई (सुअर का बच्चा) की बलि देने की प्रथा मेहतर समाज में है।

कायस्थ समाज के एक नवयुवक से बातचीत की तो उसने बताया कि होली, दीपावली एवं बच्चे के जन्म पर कालीदेवी की आस्था रखते हैं तथा उनको प्रसन्न करने के लिए शराब, नींबू एवं पान का भोग लगाया जाता है।

चूररा बाबा उरई में मातापुरा मुहल्ला में स्थित हैं। शरीर में दर्द हो, यदि शरीर को उनके पत्थर से रगड़ा जाए तो शरीर का दर्द खत्म हो जाता है। वात सम्बन्धी दर्द हो तो वह भी ठीक हो जाता है। इस प्रकार की मान्यता कई परिवारों में है।

कोंच तहसील का ब्राह्मण समाज चौमुखी कालका की पूजा करता है। जिनकी मठिया तूमरा ग्राम में स्थित है। कालका की अधिकांशतः पूजा अषाढ़ के महीने में होती है। कालका एक देवी का रूप है। जिसकी जनपद के अधिकांशतः परिवारों में पूजा की जाती है। बिनौरा ग्राम के कुछ बंधिया (कंजर) परिवारों में नवरात्रि के अंतिम दिन सुअरों की बलि देने की प्रथा है। हर विवाहित जोड़ा सुअरों की बलि देता है। ये प्रथा पूर्णरूप से अंधविश्वासी एवं रूढ़िवादी परम्पराओं पर आधारित है। भादों के महीने में अंतिम शनिवार को एक सामूहिक बलि दी जाती है। जिसमें कि कई प्रकार के जानवर जैसे– बकरा, मुर्गा, सुअर, भेड़ आदि की बलि देकर उस परम्परा को निभाते हैं। जिससे कि गाँव के पालतू जानवर पर किसी प्रकार का कोई रोग न लगे।

ग्रामों के मन्दिरों के पुजारी महत्वपूर्ण भविष्यवाणी करते हैं समाजशास्त्री अध्ययन इसकी पुष्टि करते हैं, मन्दिर व्यवसाय के केन्द्र हैं। पूजा, चढ़ावा आदि से उनकी आजीविका चलती है। दर्शनार्थियों की अपेक्षा पुजारियों की उनके चढ़ावे पर विशेष दृष्टि रहती है। ग्रामीण धर्म में मन्दिर विशेष महत्व रखता है। वह केवल पूजा एवं प्रार्थना का केन्द्र नहीं है, बल्कि ग्रामीण जीवन की सम्पूर्ण क्रियाओं के प्रेरक होते हैं। जनपद जालौन के ग्रामों में हनुमान जी, शंकर जी, देवीजी तथा रामसीता का मन्दिर तथा मन्दिरों में विराजमान मूर्तियों को ठाकुरजी (राम एवं कृष्ण) के मन्दिरों को विशेष तौर से महत्व दिया जाता है।

''ए0 आर0 देसाई का कथन है कि– ''ग्रामीण मन्दिर प्रमुखतः ग्रामीण संस्कृति के केन्द्र हैं और गाँव का सांस्कृतिक, धार्मिक, लौकिक, साहित्यिक एवं कलात्मक जीवन मन्दिर के चारों ओर देखने को मिलता है। इस प्रकार ग्रामीण के लिए नैतिक मान्यताओं का निर्धारण, व्यवहार का नियमन, संचालन एवं निर्देशन मन्दिर ही करता है।''[1]

जनपद जालौन के ग्रामों में गुरूद्वारों और गिरजाघरों की संख्या नगण्य है। मस्जिदों, मजारों, दरगाहों, खानकाह एवं ईदगाह, मस्जिदें इवादत के लिए होती हैं। उनमे पांच बार नमाज पढ़ाई जाती है। कोंच नगर में तकिया खुर्रमशाह है, वली खुर्रमशाह जिन्हें खुदा की बख्शी तमाम रूहानी ताकतें हासिल थीं जिनके जरिए वो आवाम में खुशियां बांटते फिरते थे। उन्हीं की याद में उनकी रूहानी ताकतों से भरापूरा यह तकिया आजाद नगर मुहल्ले में स्थित है। इस तकिए के बारे में मशहूर है कि यहां पर जो भी मन्नत मांगी जाती है वह वली की आसमानी ताकत के जरिए पूरी होती है। इसी कारण आज भी सभी धर्मों के लोग हिन्दू, मुसलमान बगैर किसी भेदभाव के यहा पर आते हैं। और अपनी मुरादों की झोली भरकर ले जाते है।

1– डा0 बी0 डी0 गुप्ता, ''ग्रामीण समाजशास्त्र–साहित्य परिप्रेक्ष्य में'' पृष्ठ संख्या–114 सीता प्रकाशन, हाथरस।

"ग्रामीण व्यक्तियों में धर्म के प्रति दृढ़ आस्था होने के कारण अज्ञानता एवं भक्ति की भावना दृष्टिगोचर होती है। ये जादू–टोना, झाड़–फूंक आदि में आस्था रखते हैं। ग्रामीण जीवन में अस्पृश्यता की भावना विद्यमान है। अस्पृश्य जातियों की आर्थिक दशा सोचनीय है। ग्रामीण जीवन को चित्रित करने वाले विभिन्न उपन्यासों में ग्रामीण आस्थाओं एवं परम्पराओ का विवरण है। जनपद जालौन में अस्पृश्य जातियां विभिन्न प्रकार के अंधविश्वासों एवं रूढ़िवादी परम्पराओं में शामिल है। उपन्यासों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ग्रामीण आस्थाओं एवं परम्पराओं में महिलाएं पुरूषों की अपेक्षा अधिक शामिल हैं समाज का विश्लेषण करने पर ग्रामीण जीवन में नए नेतृत्व, नए आयाम एवं नए चिंतन का विकास हुआ है। जनपद जालौन के विभिन्न ग्रामों में सही एवं सार्वभौम नेतृत्व का अभाव है।"[1]

समाजशास्त्रियों द्वारा यह अवलोकित किया गया है कि नगरीय व्यक्तियों की अपेक्षा ग्रामीण व्यक्ति धर्म में अधिक आस्था रखते हैं। उनका दृष्टिकोंण धर्म के आधार पर उनके बौद्धिक एवं व्यवहारिक जीवन को शासित करता है। ग्रामीण मानवेत्तर शक्तियों में आस्था रखते हैं। भूत–प्रेत, पिशाच, मसान, चुड़ैल आदि के अस्तित्व को ग्रामीण मानते हैं तथा भयभीत रहते हैं जनपद में ग्रामीण लोग पीपल, बरगद एवं बबूल पर देवताओं का निवास मानते हैं। ताड़ एवं पीपल के वृक्ष पर बृह्मा–पिशाच का निवास मानते हैं। जनपद की विभिन्न जातियां मानवेत्तर शक्तियों के करिश्मों में विश्वास रखतीं है। जनपद की विभिन्न जातियों में देवी–देवताओं को प्रसन्न करने के लिए बलि देने की प्रथा है। चमार, कुशवाहा, धोवी, नाई, बसोर, एवं खटीक जातियों में बलि प्रथा है।

नई व शिक्षित पीढ़ी में अन्धविश्वासों के प्रति दृष्टिकोंण एवं आयाम बदल रहा है। शिक्षित समाज की रूप रेखा एवं दृष्टिकोंण बदलने का कारण शिक्षा का विकास है।

1– डा0 बी0 डी0 गुप्ता, "ग्रामीण समाजशास्त्र–साहित्य परिप्रेक्ष्य में" पृष्ठ संख्या–109,114 सीता प्रकाशन, हाथरस।

पारिवारिक अध्ययन के उद्देश्य

1- पारिवारिक संस्था के स्वरूप को परिभाषित करना।

2- परिवार के प्रकारो का वर्णन करना।

3- भारतीय समाज में नाभिक या केन्द्रक परिवार के स्वरूप पर विचार करना।

4- परिवार में संयुक्तता की पहचान के लिए प्रयुक्त होने वाले मानकों का विवरण देना।

1- परिवार : एक संस्था

"मौटे तौर पर माता–पिता और बच्चों के समूह को परिवार कहते हैं। इस प्रकार के परिवार को प्राथमिक नाभिक परिवार कहा जाता है। कुछ स्थानों में परिवार का मतलब पितृवंशी, मातृवंशी या ऐसे सजातीय सदस्यों से होता है जिनके एक ही पूर्वज होते हैं। कहीं–कहीं परिवार का अभिप्राय ऐसे रिश्तेदारों और उन पर आश्रित सम्बंधियो से होता है जो एक ही गृहस्थी के सदस्य हैं।"[1]

विवाह के कारण ही परिवार अस्तित्व में आता है। विवाह द्वारा ही स्त्री या पुरूष को यौन सम्बंध स्थापित करने की सामाजिक स्वीकृति प्राप्त होती है। जिसके परिणामस्वरूप संतानें जन्म लेती है। माता–पिता एवं संतानें मिलकर ही एक परिवार का निर्माण करती हैं। विवाह सम्बंध आजीवन बना रहता है लेकिन दोनों में से किसी एक पक्ष की मृत्यु हो जाने या तलाक दे देने पर यह सम्बंध समाप्त भी हो जाता है।

"परिवार के सदस्य एक ही घर में रहते हैं भले ही जीवन–पर्यन्त

1– इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, नई दिल्ली ESO-02 इकाई–6 भारत में समाज, पृष्ठ संख्या–5–6

नहीं, वे सामन्यतः जीवन का कुछ हिस्सा तो सम्मिलित रूप में एक ही आवास में बिताते हैं। परिवार के सदस्यों के बीच आपस में एक–दूसरे के प्रति अधिकार और कर्तव्य की भावना होती है। और अंतिम बात यह है कि परिवार के द्वारा उसके सदस्यों का समाजीकरण भी होता है।"[1]

"परिवार सामाजिक संस्थाओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं सर्वव्यापी सामाजिक संस्था है। विश्व की ज्यादातर आबादी पारिवारिक इकाइयों में रहती है। विश्व के विभिन्न देशों यहां तक कि देश के भीतर भी कालान्तर में परिवार के विशिष्ट रूपों और व्यवहार के ढंगों में विभिन्नता अवश्य दिखाई देती है। समाजशास्त्रियों द्वारा इस संस्था के आदर्श और यथार्थ दोनों स्वरूपों का अध्ययन किया जाता है कि इनसें परिवार में होने वाले व्यवहार के आधार का पता लगता है। इसलिए भी कि आदर्श प्रतिमानों तथा मूल्यों के रूप में प्रयुक्त होते हैं। और पीढ़ी–दर–पीढ़ी माने जाते हैं।"[2]

2– परिवार के प्रकार–

संसार के विभिन्न भागों में परिवार के स्वरूपों में विविधता दिखलाई पड़ती है। इस विविधता का मूल कारण स्थान विशेष की भौगोलिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों की भिन्नताएँ हैं। भारतवर्ष में भी अनेक प्रकार के परिवार पाए जाते हैं। उदाहरण के रूप में यहाँ एक–विवाही, बहु–विवाही, पितृ–सत्तामक, मातृ–सत्तात्मक, केन्द्रीय और संयुक्त परिवार पाए जाते हैं। रचना और संगठन की दृष्टि से परिवार के अनेक रूप विश्व के विभिन्न भागों में मिलते हैं। यहां कुछ प्रमुख आधारों पर परिवार के स्वरूपों का वर्णन किया जा रहा है।

1– इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, नई दिल्ली ESO-02 इकाई–6 भारत में समाज, पृष्ठ संख्या–6

2– Ibid, Page No. 6

सदस्य संख्या के आधार पर परिवार के प्रकार–

सदस्यों की संख्या के आधार पर परिवार के तीन प्रकार पाए जाते हैं–

1–केन्द्रीय, मूल या नाभिक परिवार– केन्द्रीय परिवार को प्राथमिक, मूल या नाभिक परिवार कहते हैं। यह परिवार का सबसे छोटा और मूलभूत रूप है। ऐसे परिवार में पति–पत्नी और उनके अविवाहित बच्चे होते हैं। इस प्रकार के परिवार में अन्य रिश्तेदार नहीं पाए जाते हैं। वर्तमान में विशेष रूप से नगरीय क्षेत्रों में ऐसे परिवारों की संख्या बढ़ती जा रही है। केन्द्रीय (नाभिक) परिवार संसार के सभी भागों में पाए जाते हैं। ऐसे परिवार में साधारणतः आठ प्रकार के सम्बंध होते हैं– पति–पत्नी, पिता–पुत्र, पिता–पुत्री, माता–पुत्र, माता–पुत्री, भाई–भाई, बहिन–बहिन तथा भाई–बहिन। ऐसे परिवार आधुनिक औद्योगिक समाजों में विशेष रूप से पाए जाते हैं। केन्द्रीय परिवार को निम्न चित्र द्वारा समझा जा सकता है–
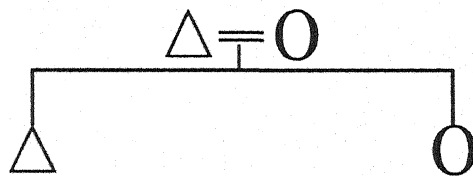
2–विवाह सम्बन्धी परिवार– विवाह सम्बन्धी परिवार के केन्द्र में तो पति–पत्नी और उनके अविवाहित बच्चे होते हैं साथ ही, विवाह के आधार पर बने कुछ अन्य रिश्तेदार भी ऐसे परिवार के सदस्य होते हैं। इस प्रकार, विवाह–सम्बन्धी परिवार में पति–पत्नी और उनके अविवाहित बच्चे तथा सम्बन्धी आते हैं। इसको परिभाषित करते हुए चार्ल्स विनिक ने लिखा है, "यह पति–पत्नी का एक केन्द्र है जो सम्बन्धियों के जाल से घिरा हुआ है।"[1]

1- Charles Winick : Dictionary of Anthropology, p.202

विवाह सम्बन्धी परिवार
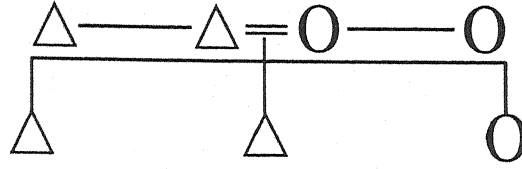
3–संयुक्त परिवार– संयुक्त परिवार का तात्पर्य ऐसे परिवार से है जिसमें कई पीढियों के सदस्य एक साथ रहते हैं। ये सदस्य पारस्परिक कर्तव्य–परायणता के आधार पर बंधे रहते हैं। संयुक्त परिवार का अर्थ स्पष्ट करते हुए डा0 एस0 सी0 दुबे ने लिखा है, ''यदि कई मूल परिवार एक साथ रहते हों और इनमें निकट का नाता हो, एक ही स्थान पर भोजन करते हों और एक ही आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करते हों, तो उन्हें उनके सम्मिलित रूप में, संयुक्त परिवार कहा जा सकता है।''[1] संयुक्त परिवार में पति–पत्नी, उनके बच्चे, दादा–दादी, चाचा–चाची, चचेरे भाई, उनकी पत्नियाँ और बच्चे एवं विधवा बहिनें आदि सम्मिलित होते हैं। संयुक्त परिवार हिन्दुओं में विशेष रूप से पाए जाते हैं। नायर जनजाति में भी ऐसे परिवार पाए जाते हैं, परन्तु उनमें मातृस्थानिक संयुक्त परिवार होते हैं जबकि हिन्दुओं में पितृ–स्थानिक संयुक्त परिवार। संयुक्त परिवार को यहां दिए गए चित्र द्वारा समझा जा सकता है–
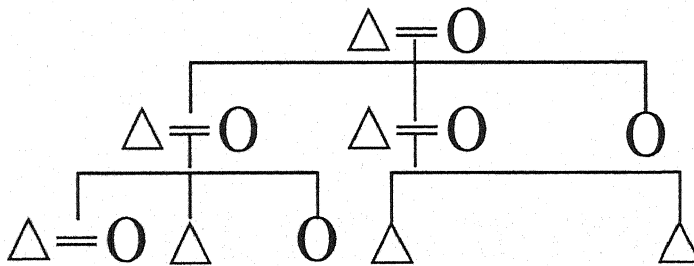
△–पुरुष, O–स्त्री, = वैवाहिक सम्बंध के लिए, । माता–पिता के सन्तानों के साथ सम्बन्ध के लिए, –भाई–बहिन के आपसी सम्बन्ध के लिए।

1– डॉ0 श्यामाचरण दुबे : ''मानव और संस्कृति'', पृष्ठ सं0 105

विवाह-सम्बन्ध के आधार पर परिवार के स्वरूप-

विवाह–सम्बन्ध के आधार पर परिवार के मुख्यतः दो स्वरूप पाए जाते हैं–

1– **एक–विवाही परिवार–** जब एक पुरूष एक स्त्री से विवाह करता है, तो ऐसे विवाह के आधार पर बने परिवार को "एक–विवाही परिवार" कहते हैं। वर्तमान में एक–विवाही परिवार को परिवार का आदर्श रूप माना जाता है। आधुनिक औद्योगिक समाजों में ऐसे परिवार अधिक पाए जाते हैं। कुछ जनजातीय लोगों में भी एक–विवाही परिवार ही पाए जाते हैं, जैसे भारत में संथाल और कादर लोगों में। हिन्दुओं में भी एक–विवाही परिवार काफी पाए जाते हैं।

2– **बहु–विवाही परिवार–** जब एक पुरूष एक से अधिक स्त्रियों के साथ या एक स्त्री का एक से अधिक पुरुषों के साथ विवाह होता है, तो परिणामस्वरूप बहु–विवाही परिवार बनते हैं। ऐसे परिवारों के दो प्रकार होते हैं–

(अ) बहु–पत्नी परिवार– जब एक पुरूष एक से अधिक स्त्रियों के साथ विवाह करता है, तो बहु–पत्नी परिवार की रचना होती हैं। ऐसे परिवार में एक पुरुष की एक से अधिक पत्नियां होती हैं। हिन्दुओं में प्रायः इस प्रकार के परिवार नहीं पाए जाते, परन्तु मुसलमानों में ऐसे परिवार मिलते हैं। उनमें एक पुरुष चार पत्नियां तक रख सकता है। हिन्दुओं में एक–विवाह के नियम को कानूनी दृष्टि से आवश्यक बना दिया गया है। भारत की नागा, बैगा तथा गौंड जनजातियों में बहु–पत्नी विवाही परिवार पाए जाते हैं।

(ब) बहुपति परिवार– जहाँ पर एक स्त्री का एक से अधिक पुरुषों के साथ विवाह होता है, तो वहां बहुपति–विवाही परिवार का निर्माण होता हैं। मिश्र तथा भारत में कुछ जनजातीय लोगों में ऐसे परिवार पाए जाते

हैं। उत्तर–प्रदेश के जौनसार बावर की खस जनजातियों में और मलाबार के नायर परिवार दिखलाई पड़ते हैं। ऐसे परिवार में सभी पतियों का पत्नी पर समान अधिकार होता है।

अधिकार या सत्ता के आधार पर परिवार के प्रकार–

सत्ता के आधार पर परिवार के दो प्रकार पाए जाते हैं–

1– पितृसत्तात्मक परिवार– जिन परिवारों में सत्ता पुरुष के हाथ में होती है, वहाँ महत्वपूर्ण निर्णय उसी के द्वारा लिए जाते हैं, जहाँ वही परिवार का केन्द्र होता है, जहाँ उसी का प्रभुत्व होता है, ऐसे परिवार को पितृसत्तात्मक परिवार कहते हैं। ऐसे परिवार में पिता की स्थिति माता से ऊँची होती है। वही परिवार में कर्ता–धर्ता होता है और सब सदस्यों पर उसका नियन्त्रण होता है। ऐसे परिवार में सम्पत्ति का उत्तराधिकारी पिता के बाद पुत्र ही होता है। समस्त हिन्दू समाज में पितृसत्तात्मक परिवार ही पाए जाते हैं। खरिया, भील आदि जनजातियों में भी ऐसे ही परिवार मिलते हैं।

2– मातृसत्तात्मक परिवार– मातृसत्तात्मक परिवार में माता ही परिवार का केन्द्र होती है। ऐसे परिवार में स्त्री को ही मूल पूर्वज माना जाता है। इस प्रकार के परिवार में बच्चों पर माता या उसके रक्त–सम्बन्धियों का ही अधिकार होता है न कि पिता या उसके रक्त–सम्बन्धियों का। बच्चों के पालन–पोषण तथा शिक्षा आदि का प्रबन्ध लड़की के माता–पिता या भाई करते हैं। ऐसे परिवार में स्त्री की स्थिति पुरूष से उच्च होती है और वही परिवार का संचालन करती है। यही कारण है कि इस प्रकार के परिवार को मातृसत्तात्मक परिवार कहते हैं। ऐसे परिवार में पुत्र सम्पत्ति का अधिकारी नहीं होता बल्कि माता का भाई अथवा बहिन का लड़का (भानजा) सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है।

वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है कि उस समय भारत में मातृसत्तात्मक परिवार पाए जाते थे। वर्तमान में मलाबार तथा असम में ऐसे परिवार पाए जाते

हैं। मलाबार में बेल्लार, नायर, जोगी पुरुष, मलयाली क्षत्रिय, समन्तन तथा पल्लन आदि में मातृसत्तात्मक परिवार पाए जाते हैं। भारतीय जनजातियों में, विशेष रूप से असम की खासी तथा गारो लोगों में मातृसत्तात्मक परिवार मिलते हैं। नायर लोगों में ऐसे मातृसत्तात्मक परिवार को "तारवाद" कहते हैं।

वंश नाम के आधार पर परिवार के प्रकार–

वंश के आधार पर परिवार के निम्नांकित प्रकार पाए जाते हैं–

1– **पितृवंशीय परिवार**– इस परिवार में वंश परम्परा पिता के नाम पर चलती है। अर्थात पिता का वंश नाम ही पुत्रों को प्राप्त होता है। वे पिता के वंश के माने जाते हैं, न कि माता के वंश के। हिन्दू परिवार पितृवंशीय परिवार ही हैं।

2– **मातृवंशीय परिवार**– ऐसे परिवारों में स्त्री ही वंश परम्परा तथा उत्तराधिकार का आधार होती है। बच्चे पिता के वंश के नहीं, बल्कि माता के वंश के माने जाते हैं। माता का वंश–नाम बच्चों को प्राप्त होता है। मलाबार के नायरों में ऐसे परिवार पाए जाते हैं।

3– **उभयवाही परिवार**– जिन परिवारों के वंश–परिचय में, वंशानुगत सम्बन्ध को महत्व नहीं दिया जाता और वंश नाम का निर्धारण सभी निकट सम्बन्धियों के आधार पर होता है, उन्हें उभयवाही परिवार कहते हैं।

4– **द्विनामी परिवार**– ऐसे परिवारों में वंश नाम का निर्धारण केवल पिता अथवा माता के वंश के आधार पर न होकर दोनों ही आधार पर होता है। माता और पिता, दोनों का ही वंश–नाम जहाँ साथ–साथ चलता है, वहाँ इस प्रकार के परिवारों को द्विनामी परिवार कहते हैं। डा0 एस0 सी0 दुबे के अनुसार "पितृनामी परिवार में किसी व्यक्ति का केवल अपने पिता और दादा से सम्बन्ध रहता है जबकि मातृ–नामी परिवार में अपनी नानी से। उभयवाही

वंश के परिवार में एक व्यक्ति का सम्बंध दादा–दादी और नाना–नानी चारों सम्बन्धियों से समान रूप से रहता है जबकि द्विनामी परिवार में एक ही समय में सम्बन्ध दादा और नानी से तो रहता है, किन्तु अन्य दो सम्बन्धियों (दादी और नाना) से नहीं।"[1]

निवास के आधार पर परिवार के प्रकार–

निवास या घर के आधार पर परिवार के तीन प्रकार पाए जाते हैं–

1– **पितृ–स्थानीय परिवार**– जब विवाह के पश्चात पत्नी अपने माता–पिता के परिवार को छोड़कर अपने पति के घर जाकर निवास करती है तो ऐसे परिवार को पितृ–स्थानीय परिवार कहते हैं। साधारणतः विवाह के बाद पति अपनी पत्नी को पिता के परिवार में रखता है। हिन्दू समाज में और खरिया, भील आदि जनजातियों में इसी प्रकार के परिवार पाए जाते हैं।

2– **मातृ–स्थानीय परिवार**– जब विवाह के पश्चात पत्नी अपने पति के घर जाकर निवास नहीं करती है और अपने माता–पिता के घर में ही रहती है तथा पति स्वयं अपनी पत्नी के घर जाकर निवास करता है तो ऐसे परिवार को मातृ–स्थानीय परिवार कहते हैं। ऐसे परिवार में बच्चे भी अपने पिता के परिवार में न रहकर माता के परिवार में रहते हैं। अधिकतर ऐसे परिवार मलाबार के नायरों तथा खासी एवं गारो आदि जातियों में पाए जाते हैं।

3– **नव–स्थानीय परिवार**– जब विवाह के बाद पति–पत्नी में से कोई भी एक दूसरे के घर में जाकर निवास नहीं करते और अपना स्वयं का नया घर बसा कर रहते हैं तो ऐसे परिवार को नव–स्थानीय परिवार कहते हैं। वर्तमान में बदली हुई परिस्थितियों में ऐसे परिवार बनने लगे हैं।

1– डॉ0 श्यामाचरण दुबे : "मानव और संस्कृति", पृष्ठ सं0 104–105

यहाँ हमें यह ध्यान रखना है कि मूल रूप में पितृ–सत्तात्मक, पितृ–वंशीय और पितृ–स्थानीय परिवार एक ही प्रकार के परिवार के विभिन्न लक्षण हैं। साधारणतः जो परिवार पितृ–सत्तात्मक होता है, वही पितृ–वंशीय और पितृ–स्थानीय भी होता है, जैसे–हिन्दू परिवार। यही बात मातृ–सत्तात्मक परिवार के लिए भी सत्य है। खासी, गारों तथा नायर परिवारों में मातृ–सत्तात्मक, मातृवंशीय और मातृ–स्थानीय व्यवस्था पाई जाती है।

परिवार के कुछ अन्य स्वरूप–

डेविड नामक विद्वान ने परिवार के दो प्रकार बतलाए हैं–

1– **जन्मित परिवार**– जन्मित परिवार वह होता है जिनमें एक व्यक्ति जन्म लेता, पलता और बड़ा होता है। इस परिवार में उस व्यक्ति के माता–पिता तथा भाई–बहिन होते हैं।

2– **जनन परिवार**– विवाह के पश्चात् व्यक्ति जिस परिवार की स्थापना करता है, उसे जनन अथवा सन्तानोत्पत्ति वाला परिवार कहते हैं। इसमें पति–पत्नी, उनके लड़के और लड़कियाँ होती हैं। इन दोनों प्रकार के परिवारों को निम्नांकित चित्र द्वारा सुगमता से समझा जा सकता है–
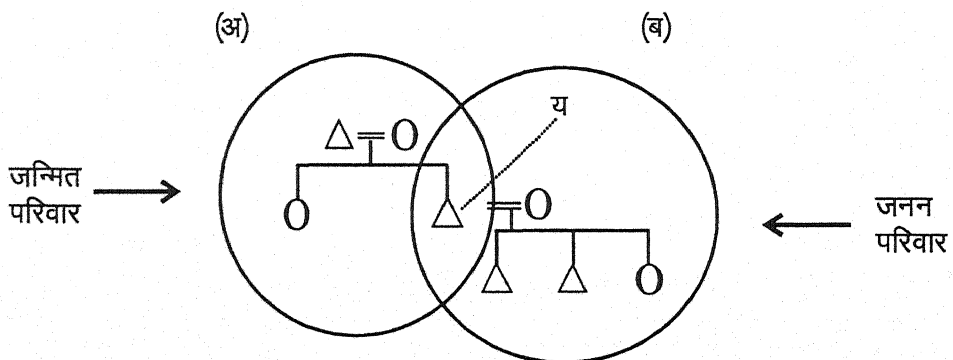
"य" नामक व्यक्ति के लिए "अ" परिवार जन्मित परिवार है, जिसमें उसका जन्म और पालन पोषण होता है। इसी व्यक्ति के लिए "ब" परिवार जनन परिवार है जिसकी स्थापना वह स्वयं विवाह द्वारा करता है। स्पष्ट है

कि व्यक्ति अपने जीवन–काल में साधारणतः दो परिवारों का सदस्य होता है– एक जन्मित परिवार का और दूसरा जनन परिवार का।

लिण्टन (Linton) ने परिवार के दो प्रकार बतलाए हैं– रक्त सम्बंधी परिवार और विवाह सम्बंधी परिवार। रक्त सम्बंधी परिवार उस परिवार को कहते हैं, जिसके केन्द्र में रक्त–सम्बंधी होते हैं और जिनमें आपस में किसी प्रकार यौन–सम्बंध नहीं पाया जाता है। ऐसे परिवार में कुछ अन्य सम्बंधी भी होते हैं जिनमें पति–पत्नी भी हो सकते हैं, परन्तु ये परिवार के आधार के रूप में नहीं होते हैं। चार्ल्स विनिक ने लिखा है, "रक्त–सम्बंधी परिवार रक्त–सम्बंधियों का एक केन्द्र है जो पति–पत्नी के जाल से घिरा हुआ है।"[1] ऐसे परिवार की सदस्यता व्यक्ति को जन्म के आधार पर प्राप्त होती है। विवाह–विच्छेद द्वारा रक्त–सम्बंधी परिवार का अन्त नहीं होता। अतः इस प्रकार के परिवार अधिक स्थाई होते हैं। रक्त–सम्बंधियों में विवाह का निषेध होने के कारण ये परिवार अपने सदस्यो की यौन इच्छाओ की पूर्ति नहीं कर पाते और इसी कारण ऐसा परिवार पति–पत्नी के जाल से घिरा होता है। ऐसे परिवार मे रक्त–सम्बंध पर जोर दिया जाता है न कि विवाह सम्बंध पर।

नाभिक या केन्द्रक या मूल परिवार और संयुक्त परिवार व्यवस्थाओं की अटूट परम्परा–

"हमें नाभिक परिवार और संयुक्त परिवार व्यवस्थाओं को अटूट परम्परा के रूप में देखना चाहिए। समय के साथ परिवार की संरचना, आकार, बनावट, व्यक्तियों की भूमिका और परिस्थिति, पारिवारिक और सामाजिक प्रतिमानों और स्वीकृति की दृष्टि में परिवर्तन होते रहते हैं। भारत में शायद ही ऐसा कोई परिवार हो जो संरचनात्मक दृष्टि से निरन्तर मूल परिवार का नाभिक परिवार बना रहता है। प्रायः परिवार के कुछ अन्य सदस्य जैसे बूढ़े माता–पिता, अविवाहित बहिन–भाई

1- Charles Winick : Dictionary of Anthropology, p.203

आदि पति–पत्नी और उनके बच्चों के साथ रहने आ जाते हैं। ऐसी स्थिति में मूल या नाभिक परिवार अन्य संरचनात्मक परिवारों की तरह विकास चक्र की एक अवस्था है। पॉलिन कोलेंदा (1987) ने मूल परिवार की संरचना के बारे में विचार व्यक्त किया है। उनके अनुसार मूल परिवार की निम्नलिखित गठनात्मक श्रेणियां हैं।

1– मूल या नाभिक परिवार

2– अनुपूरित मूल परिवार

3– उग्र मूल परिवार

4– एक व्यक्ति का परिवार

5– अनुपूरित उप मूल परिवार"[1]

परिवार में संयुक्तता की पहचान के लिए प्रयुक्त होने वाले मानको का विवरण देना–

"वर्तमान समय में परिस्थितियां बदल चुकीं है। प्रायः आज भारत में संयुक्त परिवार विघटित हो रहे है। अंग्रेजों के भारत में आगमन के पश्चात औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप नवीन सामाजिक आर्थिक शक्तियों का भारतीय समाज पर प्रभाव पड़ने लगा।"[2]

कृषि प्रधान सामाजिक–आर्थिक व्यवस्था, औद्योगिक सामाजिक आर्थिक व्यवस्था में बदलने लगी है। इस नवीन आर्थिक व्यवस्था का प्रभाव सामाजिक

1– इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ, नई दिल्ली ESO-02 इकाई–6 भारत में समाज, पृष्ठ संख्या–7

2– प्रो0 एम0 एल0 गुप्ता एवं डा0 डी0 डी0 शर्मा, "समाजशास्त्र", पृष्ठ संख्या–630 साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।

संस्थाओं पर पड़ने लगा और संयुक्त परिवार परिवर्तित होने लगे। आज संयुक्त परिवार के आकार में ह्रास होता जा रहा है। सदस्यों में धर्म के प्रति उदासीनता बढ़ती जा रही है। कर्ता की प्रमुखता और स्वेच्छाचारिता में कमी आती जा रही है। युवा सदस्यों की स्थिति में परिवर्तन आ रहा है और उनके अधिकारों में वृद्धि हो रही है। वर्तमान में सदस्यों की स्थिति का निर्धारण उनकी योग्यता एवं उपलब्धियों के आधार पर होने लगा है।

संयुक्त परिवार को परिवर्तित करने में अनेक कारको का योग रहा है। वोटोमोर की मान्यता है कि "संयुक्त परिवारों का विघटन केवल औद्योगीकरण से सम्बंधित विभिन्न दशाओं का ही परिणाम नहीं है। बल्कि इसका प्रमुख कारण यह है कि संयुक्त परिवार आर्थिक विकास की आवश्यकताओं को पूरा करने में असफल सिद्ध हो चुका है।"[1]

"डा0 कपाड़िया ने नवीन न्याय व्यवस्था, यातायात के नवीन साधन, औद्योगीकरण, शिक्षा के प्रसार तथा परिवर्तित मनोवृत्तियों को संयुक्त परिवार के विघटन के लिए उत्तरदायी माना है।"[2]

1— मोतीलाल गुप्ता "भारत में समाज" पृष्ठ संख्या—284
प्रकाशक— राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।

2— Ibid, Page No. 284

पारिवारिक अध्ययन की विधियां

"मानव में सदैव से भूत तथा भविष्य के विषय में जानकारी प्राप्त करने की इच्छा रही है। मानव ने इसी इच्छा के कारण यह जानने की उत्सुकता भी प्रकट की कि परिवार का आरम्भ किस प्रकार हुआ तथा उसका प्रारम्भिक रूप क्या था। समाजशास्त्री के रूप में हम परिवार के आदर्श एवं यथार्थ दोनों स्वरूपों का अध्ययन करते हैं। पारिवारिक अध्ययन की विधियों में मुख्य रूप से तीन दृष्टिकोंणो का प्रयोग किया गया है, जो इस प्रकार हैं– प्रकार्यवादी, संरचनावादी एवं अन्तःक्रियावादी।

प्रकार्यवादी दृष्टिकोंण के अन्तर्गत परिवार को एक उप–व्यवस्था माना गया है। प्रकार्यवादी परिवार को एक उप–व्यवस्था के रूप में इन बिन्दुओं के आधार पर देखने का प्रयास करते है– (क) परिवार पूरी सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने में योगदान देता है। (ख) सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न अंगो एवं परिवार के बीच प्रकार्यात्मक सम्बन्ध होता है एवं (ग) परिवार के सदस्यों के प्रति उसका विशिष्ट कार्य होता है। यह दृष्टिकोंण प्रकार्य की दृष्टि से परिवार को सार्वभौमिक होने की दलील देता है। यह विशिष्ट कार्यों से घिरी भूमिकाओं पर भी विचार करता है। प्रकार्यवादी परिवार के कार्यों एवं भूमिकाओं में परिवर्तन मुख्य रूप से सामाजिक मानदंडों एवं मूल्यों में परिवर्तन के कारण मानते हैं।

संरचनावादी दृष्टिकोंण के अन्तर्गत परिवार के अन्तःसम्बन्धित स्थितियों एवं भूमिकाओं एवं सदस्यो के बीच सुव्यवस्थित अधिकारों एवं उत्तरदायित्वों के बीच अन्तःसम्बन्धों को संरचना के रूप मे देखा जाता है। इस दृष्टिकोंण का मानना है कि परिवार के अन्तर्गत पाई जाने वाली स्थितियां सभी समाजों में सार्वभौमिक होती हैं। उदाहरण के रूप में हम माता–पिता, भाई–बहिन, दादा–दादी, चाचा–चाची आदि स्थितियों की चर्चा करते हैं। परिवार के सदस्यों की भूमिकाओं में परिवर्तन से स्थितियों में परिवर्तन सम्भव होता है।

अंतःक्रियावादी दृष्टिकोंण परिवार के सदस्यों के बीच परस्पर अंतःक्रिया से सम्बंधित है। इस दृष्टिकोंण का मानना है परिवार के सदस्यों की क्रियाएँ अर्थपूर्ण होती हैं। यह दृष्टिकोंण सदा यह जानने की कोशिश करता है कि परिवार के सदस्य किस तरह दूसरे सदस्यों के विचार, भाषा, रिवाज एवं प्रतीकों को समझते हैं जो उनके व्यवहार एवं अंतःक्रिया को प्रभावित करते हैं। यह परिवार की संरचना एवं भूमिकाओं की विविधताओं का भी अध्ययन करता है इस दृष्टिकोंण का केन्द्र बिन्दु यह होता है कि किस प्रकार परिवार के सदस्यों की भूमिका सम्बंधों ने पारिवारिक एकता बनाए रखने के लिए एक कार्यप्रणाली का विकास किया है।

विभिन्न समाजशास्त्रियों एवं मानवशास्त्रियों द्वारा परिवार की उत्पत्ति के सम्बंध में समय–समय पर प्रकट की गई विधियों को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।"[1]

1- शास्त्रीय सिद्वान्त-

प्लेटो (Plato) तथा अरस्तू (Aristotle) ने इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इन विद्वानों की यह मान्यता थी कि आरम्भ से ही समाज और सामाजिक समूहो में पुरूषों का आधिपत्य रहा है, उनकी प्रधानता पाई जाती रही है। उन्होने परिवार की उत्पत्ति में भी पुरूषों को ही प्रमुख कारण माना है। इसी आधार पर इन लोगों ने बतलाया है कि प्रारम्भ में पितृ–सत्तात्मक परिवार ही थे। सर हेनरीमेन भी 1861 ई0 में इसी निष्कर्ष पर पहुंचे थे। प्राचीन ग्रीक, रोमन एवं यहूदी इतिहास पितृ–सत्तात्मक परिवारों के तथ्य की ही पुष्टि करते हैं परन्तु निश्चय पूर्वक यह नहीं कहा जा सकता है कि परिवार का मौलिक रूप यही था। शास्त्रीय सिद्धांत किसी क्षेत्र विशेष की दृष्टि से सत्य हो सकता है परन्तु

1– डा0 जे0 पी0 सिंह, "समाजशास्त्र अवधारणाएं एवं सिद्धान्त" पृष्ठ संख्या–200–201 प्रेटिस–हाल आफ इण्डिया प्राईवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।

यह सभी स्थानों पर परिवार का प्रारम्भिक रूप ही रहा है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। विश्व के विभिन्न आदिम समाजों में पितृ–सत्तात्मक परिवारों के पाए जाने की बात वर्तमान समय में अधिकतर वैज्ञानिक अनुसंधानों के आधार पर प्रमाणित नहीं होती। इस सिद्धांत के आधार पर निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि परिवार की उत्पत्ति कब किस रूप में तथा किन अवस्थाओं मे हुई।

2- यौन-साम्यवाद का सिद्धान्त-

मानव–जीवन की प्रारम्भिक अवस्था में यौन–साम्यवाद पाया जाता था, ऐसा कतिपय विद्वानों का मत है। लुईस मार्गन, फ्रेजर तथा ब्रिफाल्ट की यह मान्यता है कि प्रारम्भ में परिवार नहीं पाए जाते थे। उस समय यौन–सम्बन्धों पर किसी भी प्रकार का नियंत्रण नहीं था। कोई भी पुरूष किसी भी स्त्री के साथ और कोई भी स्त्री किसी भी पुरुष के साथ स्वच्छन्दतापूर्वक यौन–सम्बन्ध स्थापित कर सकते थे। यह नियंत्रणहीन स्वच्छंद यौन–सम्बन्धों की स्थिति थी, जिसे यौन–साम्यवाद कहा गया है। इस अवस्था में परिवार नाम की कोई संस्था नहीं थी। इस सिद्धांत के प्रतिपादकों ने अपने मत के समर्थन में कुछ आदिम जातियों में पाए जाने वाले ऐसे रीति–रिवाजों का उल्लेख किया है जिनसे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में यौन सम्बंधी नियंत्रण बहुत ही कम मात्रा में पाए जाते थे। ऐसे रीति–रिवाजों में त्यौहारों के अवसर पर यौन सम्बन्धी स्वछन्दता, पत्नियों का आदान–प्रदान और अतिथि सत्कार के लिए पत्नियों को प्रस्तुत करना मुख्य रहा है। इस सिद्धान्त के प्रवर्तक नातेदारी की वर्गीय व्यवस्था से भी काफी प्रभावित थे, जिसके अन्तर्गत एक ही आयु–समूह के सभी व्यक्तियों को पिता, माता, भाई, बहिन, पुत्र अथवा पुत्री के रूप में सम्बोधित किया जाता था। इन सब तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि मानव जीवन के आरम्भिक काल में यौन–साम्यवाद पाया जाता था।

मानवशास्त्री अनुसंधान यौन साम्यवाद के सिद्धान्त की पुष्टि नहीं करते हैं। कुछ जनजातियों में विशिष्ट अवसरों पर कुछ यौन सम्बन्धी शिथिलता अवश्य पाई जाती है और कुछ जनजातियों में यौन सम्बन्धों को कठोरता से नियमित करने के विशेष प्रयत्न नहीं किए जाते, परन्तु तथ्यों के आधार पर यह प्रमाणित नहीं होता कि ये सब यौन साम्यवाद के अवशेष हैं। मानव समाज तो दूर रहा, उन्नत पशु समाज तक में भी यौन साम्यवाद नहीं पाया जाता है। कुछ समूहों में पाई जाने वाली वर्गीय व्यवस्था के आधार पर यह कह देना कि उन लोगों को सम्बन्धों के भेद का अथवा प्राणिशास्त्रीय पितृत्व का ज्ञान नहीं था, एक भ्रम मात्र है। जहां कहीं लोग पिता की प्राणिशास्त्रीय पैतृक भूमिका से अपरिचित रहे हैं, वहां भी परिवार पाए जाते रहे हैं। उस समय आदिम से आदिम लोग प्राणिशास्त्रीय पितृत्व के बारे में उतने सजग नहीं थे जितने सामाजिक पितृत्व के सम्बंध में। वर्गीय व्यवस्था, बहिर्विवाह के नियमों के पालन एवं कुछ अन्य सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक परम्परागत व्यवस्था थी। आज भी सभ्य समाजों तक मे समान आयु के व्यक्तियो के लिए, भाई अथवा बहिन शब्द का प्रयोग किया जाता है। ऐसी दशा में यह नहीं कहा जा सकता कि मानव जीवन की आरम्भिक अवस्था में यौन साम्यवाद पाया जाता था।

3- एक विवाह का सिद्धान्त-

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन वेस्टरमार्क ने अपनी पुस्तक "हिस्ट्री ऑफ ह्यूमन मैरिज" में किया है। उनकी यह मान्यता है कि आरम्भ में एक विवाही परिवार ही थे। डार्विन का कहना है कि परिवार का जन्म पुरुष के आधिपत्य और ईर्ष्या की भावना के कारण हुआ है। वेस्टरमार्क ने डार्विन के इस कथन का पूर्ण समर्थन करते हुए बतलाया है कि पुरुष स्त्रियों पर उसी प्रकार अधिकार रखना चाहता था, जिस प्रकार सम्पत्ति पर। अपनी शक्ति के आधार पर पुरुष स्त्री पर अपना अधिकार स्थापित करने में सफल भी हुआ। फिर जब

इस एकाधिकार को स्त्री–पुरुष दोनों के हित में आवश्यक समझा गया, तो समाज द्वारा इसे मान्यता प्राप्त हो गई, इसने प्रथा का रूप ग्रहण कर लिया। आगे चलकर यही विवाह की रीति बन गई। वेस्टरमार्क ने छोटी पूंछ वाले बन्दरों, गोरिल्ला, चिम्पांजी आदि का अध्ययन करके यह बतलाया है कि इनमे भी एक विवाह प्रथा का ही प्रचलन था और यौन कामाचार की कल्पना व परिवार के न होने का सिद्धान्त अवास्तविक एवं अव्यवहारिक है। जुकरमेन तथा मैलिनोवस्की ने भी वेस्टरमार्क के सिद्धान्त का समर्थन किया है। मैलिनोवस्की ने लिखा है, "एक विवाह ही विवाह का सच्चा स्वरूप है, रहा था तथा रहेगा।" वेस्टरमार्क ने एक विवाह की प्रथा को ही विवाह का स्वस्थ स्वरूप माना है अन्य विवाह प्रथाओं, जैसे बहुविवाह इत्यादि को रोगों के रूप में माना है।"[1]

4- मातृसत्तात्मक सिद्धान्त-

"ब्रिफाल्ट ने वेस्टरमार्क के इस एक–विवाही सिद्धान्त की कटु आलोचना करते हुए अपनी पुस्तक "दी मदर्स" में परिवार की उत्पत्ति के सम्बंध में मातृसत्तात्मक सिद्धान्त प्रस्तुत किया। उन्होनें बतलाया है कि आरम्भ में यौन–सम्बन्धों के बहुत अधिक निश्चित नहीं होने के कारण, बालक अपनी माता को ही जानते थे। माता और सन्तान के सम्बन्धों में ही घनिष्ठता पाई जाती थी। पारिवारिक जीवन में पिता का स्थान महत्वपूर्ण नहीं था, वह शिकार की तलाश में अक्सर घर से बाहर ही रहता था और परिवार का भार माता पर ही होता था। ऐसी दशा में पारिवारिक क्षेत्र मे माता के अधिकार बढ़ गए और मातृसत्तात्मक परिवारों का जन्म हुआ। ब्रिफाल्ट ने कहा है कि माता और उसकी सन्तान की आर्थिक और सामाजिक सुरक्षा की निरन्तर आवश्यकता ने परिवार को जन्म दिया। स्त्रियों ने अपनी मूल प्रवृत्तियों का अनुकरण करते हुए पुरुष पर विजय प्राप्त की और पुरुष अपने यौन–स्वार्थों के कारण परिवार का हिस्सेदार बन गया। इस प्रकार

1- Mailinowski B. "Marriage" in Encyclopaedia of Britannica. Vol.XIV, 14th Edition, 1938, p. 940-950.

पुरुष को अपने प्रेम बन्धन में बांधकर स्त्री ने परिवार की उत्पत्ति में योग दिया। ब्रिफाल्ट ने लिखा है कि परिवार का आरम्भिक रूप मातृसत्तात्मक ही था और बाद में कृषि विकास और पुरुष के आर्थिक प्रभुत्व के कारण, पितृसत्तात्मक परिवारों का उदय हुआ। उन्होने आदिम जातियों मे पाए जाने वाले मातृसत्तात्मक परिवारों के उदाहरणों के आधार पर बतलाया है कि इन परिवारों में न केवल स्त्री का स्थान पुरुष के बराबर है बल्कि कहीं–कहीं तो पुरुष से ऊँचा भी है। टायलर नामक विद्वान ने इस सिद्धान्त का समर्थन करते हुए बतलाया कि आरम्भ में परिवार का रूप मातृसत्तात्मक था, बाद में मातृसत्तात्मक व पितृसत्तात्मक व्यवस्था का मिश्रित रूप हुआ और अन्त में पितृसत्तात्मक परिवारों की स्थापना हुई।

परिवार के विकास में निश्चित रूप से माता का स्थान प्रमुख रहा है, परन्तु यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि परिवार की उत्पत्ति में केवल माता ही एकमात्र कारण रही है। वास्तव में अनेक कारकों के फलस्वरूप परिवार का विकास हुआ है।''[1]

5– उद्‌विकासीय सिद्वान्त–

''परिवार की उत्पत्ति का एक प्रमुख सिद्धान्त उद्‌विकासीय सिद्धान्त है। जिसको सर्वप्रथम बैकोफेन ने प्रतिपादित किया। तत्पश्चात लुईस मार्गन ने इसे विस्तृत रूप से प्रस्तुत किया। हर्बर्ट स्पेन्सर, मैक्लेनन, लुबोक तथा टायलर आदि इस सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक रहे है। बैकोफेन ने अपने इस सिद्धान्त को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया है–

मनुष्य का आरम्भिक पारिवारिक जीवन निम्न स्तर का था उस समय यौन–सम्बन्धी निश्चित नियमों का अभाव था। कुछ उद्‌विकासी लेखकों ने मानव जीवन की इस अवस्था को यौन–स्वच्छन्दता की स्थिति माना है। उस समय

1– मोतीलाल गुप्ता ''भारत में समाज'' पृष्ठ संख्या–286–287
प्रकाशक– राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।

पति–पत्नी के सम्बन्धों में ढीलापन पाया जाता था। बच्चों का सम्बन्ध मुख्यतः माता के साथ ही था क्योंकि यौन–सम्बन्धी शिथिलता के कारण वास्तविक पिता का पता लगाना बहुत कठिन था। बच्चों को समूह के सभी पुरुष सदस्यों का संरक्षण प्राप्त था। इस समय पारिवारिक सम्बंधो में काफी ढीलापन था। इस स्थिति को ही परिवार की आरम्भिक अवस्था माना गया है।

धीरे–धीरे परिवार का रूप स्पष्ट होने लगा। यह दरिद्रता और आर्थिक कठिनाइयों का समय था और लोगों को खाने–पीने की वस्तुएं प्राप्त करने के लिए कठोर परिश्रम और प्रकृति के साथ घोर संघर्ष करना पड़ता था। ऐसी परिस्थितियों में लड़कियों के लिए कठिन परिश्रम करना बड़ा मुश्किल था, अतः उन्हें जन्मते ही मार दिया जाता था। परिणाम यह हुआ कि लड़कियों की कमी होने लगी और बहुपति–विवाही परिवार की उत्पत्ति हुई। साथ ही जीवकोपार्जन के साधनों के बहुत सीमित होने से, एक स्त्री का अपने भरण पोषण के लिए एक ही पति पर आश्रित रहना सम्भव नहीं था। परिणाम यह हुआ कि बहुपति–विवाही परिवार बनने लगे।

इसके बाद जब मनुष्य कृषि अवस्था में आया और भोजन में काम आने वाली वस्तुएं काफी मात्रा में प्राप्त होने लगीं, तो लड़कियों को जन्मते ही मार डालने की प्रथा का अन्त हो गया जिससे समाज में स्त्रियों की संख्या में वृद्धि हुई। आर्थिक कठिनाइयों के दूर होने पर पुरुष के लिए भी एक से अधिक स्त्रियों के साथ वैवाहिक सम्बंध स्थापित करना संभव हो गया। इसके अतिरिक्त कृषि कार्य में अधिक अतिरिक्त व्यक्तियों की आवश्यकता होती थी। ऐसी दशा में एक पुरुष एक से अधिक स्त्रियो के साथ विवाह करने लगा। इस प्रकार मानव विकास के इस स्तर पर बहुपत्नी–विवाह परिवार का जन्म हुआ।

सभ्यता के विकास के साथ–साथ लोगों को बहुपत्नी विवाह के दोषों का पता चलने लगा। विवाह के इन प्रकारो के कारण बहुत से लोग

अविवाहित रह जाते थे। इस समय समानता के विचार पनपने लगे, स्त्रियों द्वारा समान अधिकारों की मांग की जाने लगी। इस सब का परिणाम यह हुआ कि एक पुरुष का विवाह एक ही स्त्री के साथ होने लगा और एक विवाही परिवार बनने लगे। वर्तमान समय में परिवार का सर्वाधिक प्रचलित रूप यही है।

उद्विकासीय सिद्धान्त के समर्थन में आदिम जातियों के सामाजिक संगठनों से अनेक प्रमाण प्राप्त हुए है। आदिम जनजातीय लोगों में ऐसे परिवार अधिक पाए गए। जहाँ वंश माता के नाम से चलता था, अर्थात् इनमें मातृवंशीय परिवारों की अधिकता पाई गई। इससे यह धारणा बनीं कि मातृवंशीय परिवारों की स्थापना पहले हुई। लुईस मॉर्गन ने परिवार के उद्विकास के निम्नलिखित पाँच चरणों का वर्णन किया है उन्होने कहा है कि सर्वप्रथम रक्त सम्बन्धी परिवार का जन्म हुआ। मानव–जीवन के आरम्भिक काल में ऐसे परिवार पाए जाते थे। इस समय यौन–नियंत्रण नहीं पाए जाते थे। कोई भी किसी के साथ ही ऐसे सम्बन्ध स्थापित कर सकता था। इस अवस्था में भाई–बहिनों तक में विवाह होते थे। द्वितीय चरण में समूह परिवार बने। एक परिवार के सभी भाइयों का विवाह, दूसरे किसी परिवार की सभी बहिनो के साथ होता था और इनमें से प्रत्येक व्यक्ति सभी स्त्रियों का पति माना जाता था। तथा प्रत्येक स्त्री सभी पुरुषों की पत्नी। इन परिवारों को समूह–परिवार कहा जाता था। तृतीय चरण में सिंडेस्मियन परिवार की स्थापना हुई ऐसे परिवारों में एक पुरुष का विवाह यद्यपि एक ही स्त्री के साथ होता था तथापि वह परिवार में विवाहित सभी स्त्रियों के साथ यौन–सम्बंध रख सकता था। ऐसे परिवारों को सिंडेस्मियन परिवार कहा गया। चतुर्थ चरण में पितृसत्तात्मक परिवार का विकास हुआ। इस समय परिवार में पिता सर्व–शक्तिशाली हो गया, उसके अधिकार बढ़ गए, वह अपनी इच्छानुसार एक से अधिक स्त्रियों के साथ भी विवाह करने लगा। पंचम चरण में एक विवाही परिवार की स्थापना हुई। ऐसे परिवार उद्विकासीय क्रम में अन्तिम अवस्था है और आधुनिक समय में इन्ही परिवारों का सर्वाधिक प्रचलन पाया जाता है।

ऐसे परिवार में एक पुरुष का विवाह, एक ही स्त्री के साथ होता है और उनके यौन– सम्बन्ध उन्हीं तक सीमित रहते थे। इस प्रकार, उद्‌विकासीय सिद्धान्त के अनुसार, परिवार विभिन्न स्तरों से गुजर कर वर्तमान अवस्था में पहुँचा है।

इस सिद्धान्त के विरूद्ध सबसे बड़ी आपत्ति तो यह है कि मानवशास्त्री अनुसंधानों के आधार पर आज तक ऐसा कोई आदिवासी समूह नहीं पाया गया है जिसमें यौन–कामाचार की स्थिति पाई जाती हो जबकि उद्‌विकासवादी लेखक यह मानते हैं कि आरम्भ में यौन–कामाचार की स्थिति थी। साथ ही इस बात को स्वीकारा नहीं जा सकता कि प्रत्येक स्थान पर और प्रत्येक समाज में, परिवार के विकास का एक ही प्रकार का क्रम रहा है। सभी स्थानों पर उपर्युक्त निश्चित स्तरों से गुजर कर परिवार वर्तमान अवस्था में पहुँचा है, ऐसा नहीं माना जा सकता। वर्तमान में अनेक विद्वान परिवार के अध्ययन सम्बन्धी इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते हैं।"[1]

6– चक्राकार सिद्धान्त–

"इस सिद्धान्त के प्रतिपादको में स्पेंगलर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सोरोकिन, लिप्ले और जिमरमैन इस सिद्धान्त के अन्य प्रतिपादक रहे हैं। इस सिद्धान्त को स्पष्ट करने के दृष्टिकोण से घड़ी के पेन्डूलम का उदाहरण दिया गया है। जिस प्रकार घड़ी का पेन्डूलम एक छोर से दूसरे छोर तक जाता है और पुनः अपने मूल स्थान पर आता है तथा यह क्रम चलता रहता है, ठीक इसी प्रकार से पारिवारिक प्रतिमान एक छोर से दूसरे छोर की ओर बढ़ते हैं और पुनः अपने मूल स्थान पर लौट आते हैं। तत्पश्चात फिर से परिवार का उद्‌विकास आरम्भ होता है।

सोरोकिन ने पारिवारिक विकास के इतिहास की तीन अवस्थाओं का

1– मोतीलाल गुप्ता "भारत में समाज" पृष्ठ संख्या–287–288
प्रकाशक– राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।

उल्लेख किया है और कहा है कि जीवन का आरम्भ जहाँ से होता है, वह पुनः वहीं लौट आता है। पारिवारिक अध्ययन और विकास के सम्बंध में उन्होने अपने इसी विचार को महत्व दिया है। लिप्ले नामक विद्वान ने फ्रेंच पारिवारिक विकास के इतिहास को छः भागों में विभक्त किया है और परिवार की उत्पत्ति के इस चक्राकार सिद्धान्त का समर्थन किया है।"[1]

7- मूलर-लियर का सिद्धान्त-

"मूलर–लियर ने परिवार के इतिहास को तीन भागों मे विभक्त किया है– (1) गोत्र–काल, (2) परिवार काल और (3) व्यक्तिगत काल। उन्होने प्रथम दो कालों को तीन–तीन उप–कालों में बांटा है– प्रारम्भिक काल, मध्य काल और उत्तर (प्राचीन) काल तीसरे काल (व्यक्तिगत) का अभी आरम्भ हुआ ही है। मूलर–लियर की मान्यता है कि अब एक नवीन प्रजातान्त्रिक परिवार की स्थापना हो रही है और यह युग प्रजातान्त्रिक परिवार के आरम्भ का युग है।"[2]

1– मोतीलाल गुप्ता "भारत में समाज" पृष्ठ संख्या–288–289
प्रकाशक– राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।

2– Ibid, Page No. 289

क्षेत्र का परिसीमन

क्षेत्र के परिसीमन से तात्पर्य किसी ऐसी कृत्रिम रेखा के खींचने से नहीं होता जो किसी राजनैतिक और विधिविहित दृष्टिकोंण से नियमित की गई हो, वरन् ऐसे प्राकृतिक सीमांत से है जो उस क्षेत्र के ऐतिहासिक परिवेश, उसकी संस्कृति और भाषा के ऐक्य को सुरक्षित रखते हुए दूसरे जनपदों से अलग करता है। इसलिए एकरूपता के अध्ययन की दृष्टि से क्षेत्र की प्राकृतिक भौगोलिक, विशेषताएं, यथास्थिति, धरातलीय बनावट, जलवायु आदि के साथ–साथ ऐतिहासिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और भाषाई इकाई को भी देखा और समझा जाता है।

"जनपद जालौन, बुन्देलखण्ड का प्रवेश द्वार है और ऐसा प्रवेश द्वार है कि यहां से प्रवेश किया जाए तो सभी सिद्धियां एवं अभीष्ट की प्राप्ति होती है। जनपद जालौन का परिसीमन अत्यधिक रोचक है। जनपद जालौन भारत का ह्रदय क्षेत्र है। बुन्देलखण्ड में अनेकों गढ़ या गढ़ियों के खण्डहर पाए जाते हैं। चन्देल वंश के राजाओं ने आठ प्रसिद्ध गढ़ बनवाए थे उनमें से कालपी भी एक था। कालपी यमुना नदी पर स्थित है कालपी होकर उत्तरी भारत से दक्षिण भारत जाने का यह थल का रास्ता था। जल थल मार्ग के समागम पर स्थित कालपी एक व्यापारिक तथा राजनैतिक केन्द्र हो गया था। कालपी दक्षिण की ओर प्रहार करने का मुख्य स्थल रहा है। भौतिक दृष्टि से यमुना नदी चम्बल नदी के संगम के बाद तेजी से दक्षिण और पूर्व की तरफ बहती हुई उत्तर की ओर मुड़ जाती है। इकौना के पश्चात इसी स्थान पर गंगा और यमुना का दोआब का रास्ता दक्षिण भारत को जाने के लिए बन जाता है। इस स्थान पर नदी पार करना सबसे सुगम रहा है। एटं किंग्शन ने लिखा है कि यही स्थान बराबर दक्षिण की ओर प्रस्थान करने के लिए प्रमुख रहा है। फिलिपि जे0 व्हाईट ने परगना कालपी के बन्दोबस्त में लिखा है कि गंगा

यमुना के दोआबा तथा बुन्देलखण्ड में प्रवेश का मार्ग कालपी होकर हमेशा सरल तथा मुख्य मार्ग रहा है। भौगोलिक दृष्टि से भी विचार किया जाना उचित होगा। बुन्देलखण्ड की स्थिति नक्शे पर 23–45 और 26–50 उत्तरीय तथा 77–52 और 82–0 पूर्वी भूरेखाओं के मध्य में है। बुन्देलखण्ड की सीमा के विषय में अनेकों विद्वानों के अलग–अगल मत हैं, परन्तु सभी विद्वानों का एक ही मत है कि बुन्देलखण्ड के उत्तर में यमुना नदी है।"[1]

जनपद जालौन की सीमा मध्य प्रदेश के जिला भिण्ड और दतिया जिले की परिधि को छूती है तथा उत्तर प्रदेश के जिला झांसी, कानपुर देहात, औरैया, तथा हमीरपुर को स्पर्श करती है। कुछ हिस्सा अत्यधिक उपजाऊ है तथा जिले में सम्पन्नता अधिक है लोग अधिकतर कृषि करते हैं।

मनुष्य भौगोलिक व सामाजिक परिस्थितियों का दास होता है और इन्ही परिस्थितियों से उसका राजनैतिक इतिहास बनता है। इस जनपद का भी इतिहास यहाँ की भौगोलिक परिवेश के अनुरूप ढला है। यद्यपि यह जनपद गंगा यमुना के दोआब क्षेत्र से बाहर है फिर भी यहां की उर्वरक भूमि ने इसे सम्पन्नता से सजा संवार कर रखा है क्योंकि यह जनपद यमुना, बेतवा, एवं पहूँज नामक तीन नदियों से घिरकर अपनी स्वच्छंद प्रकृति का उद्घोष करता है जो कि इस जनपद की संस्कार युक्त संस्कृति का निर्माण करता है। "जनपद जालौन का क्षेत्रफल 4569 वर्ग कि0मी0 तथा जनसंख्या (2001) की जनगणना के आधार पर 1455857 है। जिसमें महिलाएं 667595 पुरुष 788264, ग्रामीण जनसंख्या 1115381 तथा शहरी जनसंख्या 340478 है। जनपद में ग्राम पंचायतों की संख्या 564, नगर पालिका परिषदों की संख्या 4, नगर पंचायतों की संख्या 6, तहसीलों की संख्या 5 है जो उरई, जालौन, माधौगढ़, कोंच, कालपी में स्थित हैं। जनपद में विकास खण्डों की संख्या 9 है जो डकोर, कोंच, नदीगाँव, जालौन, कुठौन्द,

---

1– "जिला विकास पुस्तिक सन् 2001–2002", पृष्ठ संख्या–2, 3
प्रकाशक– सूचना एवं जनसम्पर्क विभाग, जनपद–जालौन (उ0 प्र0)।

रामपुरा, माधौगढ़, महेबा एवं कदौरा हैं। आबाद ग्रामों की संख्या 942, गैर आबाद ग्रामों की संख्या 213, न्याय पंचायतों की संख्या 81 है। प्राथमिक विद्यालयों की संख्या 1107, उच्च प्राथमिक 181, उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों की संख्या 110, महाविद्यालयों की संख्या 8 तथा विश्वविद्यालय 1 है, जो झांसी में स्थित बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय है।"[1] माधौगढ़ तहसील का परिसीमन अन्य तहसीलों की अपेक्षा अलग है। माधौगढ़ के आस पास वन अधिक हैं। इस कारण से भूमि में कटाव तथा कन्दराएं अधिक हैं। भू कटाव कालपी तहसील के आस–पास भी अधिक है। ग्रामीण क्षेत्र के विद्यालयों की दूरी अधिक है इस कारण से बालक, बालिकाओं को पहुँचने में अधिक समय लगता है। कालपी तहसील का परिसीमन उरई तहसील के परिसीमन से अलग है। कालपी तहसील का परिसीमन दो जनपदों से घिरा है, कानपुर देहात और हमीरपुर कालपी $26^0 8^0$ अक्षांश उत्तर तथा $79^0 45^0$ देशान्तर पूर्व में स्थित है 19वीं शताब्दी में कालपी बुन्देलखण्ड के बड़े व्यापारिक केन्द्रों में से एक था। कालपी एक ऐतिहासिक, पौराणिक तथा धार्मिक नगरी है। यह स्थान सूर्य के प्रमुख स्थानों में से एक है। सूर्य का पर्यायवाची नाम कालप्रिय भी है अतः इस स्थान का नाम कालप्रिय से कालपी पड़ा। यह महार्षि वेदव्यास की जन्मस्थली है। यहां की चौरासी गुम्बद प्रसिद्ध है। अकबर के नौ रत्नों में से एक बीरवल भी यहां पैदा हुए थे तथा यहां का सूर्य मन्दिर भी ख्याति प्राप्त है। कालपी को कालप्रियनाथ ऋषि ने बसाया था जो कि एक महान सन्त थे। भोग और मुक्ति देने वाले नौ ऊसर क्षेत्रों में सर्वश्रेष्ठ काल ऊसर क्षेत्र की हृदयस्थली कालपी में जहाँ महाभारत के प्रणेता श्रीकृष्ण द्वैपायन वेद–व्यास को जन्म देने का गौरव प्राप्त किया वहीं गंगापुत्र भीष्म पितामह ने इसी कालपी के यमुना तट से सदैव अपने कर्तव्यों के प्रति सजग रहने हेतु प्रेरणा भी दी है।

1– "जिला विकास पुस्तिक सन् 2001–2002", पृष्ठ संख्या–166, 167
प्रकाशक– सूचना एवं जनसम्पर्क विभाग, जनपद–जालौन (उ0 प्र0)।

"अष्टादश पुराणों में और महाभारत के अमर रचनाकार महाऋषि श्रीकृष्ण द्वैपायन वेद व्यास की जन्मस्थली होने के गौरव से आभामण्डित एवं प्रथम स्वतंत्रता संग्राम की कीर्तिगाथाओं से अनुप्राणित जनपद जालौन का अतीत निःसन्देह महानतम है। जनपद जालौन $26^{0}8^{0}$ उत्तरी अक्षांश एवं $79^{0}21^{0}$ पूर्वी देशान्तर के मध्य स्थित है। 1857 तक यह बुन्देलखण्ड के प्रमुख राज्यों में से एक था। जनपद जालौन की सांस्कृतिक धरोहर एवं पर्यटन स्थलों पर विहंगम दृष्टि निक्षेप किया जाए तो शक्तिपीठ अक्षरा, मध्ययुग में अनन्यतम, बीर आल्हा द्वारा पूजित बैरागढ़ की शारदा देवी का दिग्दर्शन जहाँ उल्लेखनीय है, वहीं पुराण प्रख्यात कलापक ग्राम (कालपी) का चौरासी गुम्बद, लंका मीनार, व्यास टीला तथा स्वतंत्रता संग्राम के पुरोधा नाना साहब, लक्ष्मीबाई और तात्याटोपे की मन्त्रणास्थली, कालपी भी श्री दरवाजा, बीरवल का रंगमहल, पाहूलाल का मन्दिर, किलाधाट, बाराखम्भा, बड़ा मन्दिर, नृत्यमुद्रा में गणेश जी, कनारखेड़ा तथा ताईबाई महल आदि का विशिष्टतम स्थान है। ब्रोकमैन अपनी पुस्तक के पृष्ठ संख्या 45 पर लिखते हैं कि 2 अगस्त 1858 को क्रान्तिकारियों ने जालौन पर आक्रमण करके जालौन थाने के दरोगा तुराब अली को बन्दी बनाकर जालौन पर क्रान्तिकारियों के कब्जे की घोषणा कर दी थी। झांसी के तत्कालीन कमिश्नर जे0 डब्लू0 पिंक ने अपनी फाईल– "नरैटिव आफ ईवेन्ट्स अटैन्डिंग दि आउट ब्रेक आफ डिस्टरबैन्सिज एण्ड दि रैस्टोरेशन आफ अथौर्टी इन दि डिवीजन ऑफ झांसी" में जनपद जालौन के 1857 के युद्ध का वर्णन किया है। उरई नगर का विशेष महत्व है उरई जनपद जालौन का मुख्य नगर है। जनपद के सभी कार्य उरई में होते हैं क्योंकि राज्य सरकार तथा केन्द्रीय सरकार के कार्यालय उरई नगर में स्थित हैं। जनपद की परम्पराएं संस्कृति, लोकजीवन एवं लोकोक्तियां अन्य जनपदों की अपेक्षा बिल्कुल भिन्न हैं। जनपद जालौन एक अनुपम सांस्कृतिक क्षेत्र है जहां पावस की उमड़ती–घुमड़ती काली–काली घटाएं, आल्हा–गायकों के ओजस्वी स्वर, शारदीया सरिताओं की चंचल अठखेलियाँ, वन प्रान्तर में भयावह जन्तुओं की हृदय–विदारक दहाड़े तथा बुन्देली बालाओं के लोकगीत तो सीधे

मस्तिष्क पर प्रभाव डालते हैं। बुन्देली चित्रकला की दृष्टि से बुन्देलखण्ड बड़ा ही गौरवपूर्ण अतीत रखे हुए है। चित्रकला के विकास में तो बुन्देलखण्ड में मानव सभ्यता के विकास की ही परम्परा एक प्रकार से अपनाई है। इस क्षेत्र में प्रागैतिहासिक काल और अद्यैतिहासिक काल के दर्शन देखने को मिलते हैं। बुन्देली चित्रशैली विशेष धार्मिक महत्व एवं विभिन्न प्रकार के अलंकरण भीती चित्र लवर्णता को प्रदर्शित करती है। जनपद के प्रमुख त्यौहारों में गनगौर व्रत, दुर्गाष्टमी (आठें), हरछट तथा हरितालिका (तीजा) व्रत प्रमुख रूप से मनाए जाते है तथा बुन्देलखण्ड के परम्परागत त्यौहारों में कुनघुसी पूनौ, मामुलिया, चपेटा, हरीज्योति पर्व, टेसू–झिंझिंया यहां के प्रमुख लोक जीवन से सम्बंधित त्यौहार हैं।"[1]

जनपद जालौन, बुन्देलखण्ड का पूर्ण वाह्यद्वार है जो सब प्रकार के मनोरथ पूर्ण करने वाला द्वार है बुन्देलखण्ड उत्तरी परिसीमन पर सशक्त प्रहरी बनकर न केवल सम्पूर्ण दक्षिण भारत के रक्षार्थ एवं सर्वमंगल हेतु अडिगरूप से तैयार है। उत्तर प्रदेश के अन्य जनपदों के परिसीमन से जनपद जालौन का परिसीमन अधिक श्रेष्ठ और उचित है। लोग अधिकांशतः जालौन के परिसीमन को सर्वश्रेष्ठ, उचित एवं अतुलनीय मानते हैं। उत्तर वैदिक काल में मतस्य तथा उशीनर जातियों ने इस क्षेत्र को अपना निवास स्थान बनाया। जालौन इन दोनों के निवास क्षेत्र के संधिस्थल पर रहा होगा। यमुना नदी के दक्षिण क्षेत्र में कई ऋषियों ने अपने आश्रम बनवाए। विक्रमी सम्वत् से 1000 वर्ष पूर्व इस जनपद के पश्चिमी किनारे पर स्थित गोपलपुरा ग्राम का प्राचीन नाम गोपालगिरी था यहाँ पर सघन वन के मध्य गोपालबाबा का आश्रम भी था। प्राचीन इतिहासकारों के अनुसार जनपद जालौन का परिसीमन एरच राज्य के अधीन था। सोलह महाजनपदों के समय में यह क्षेत्र चेदि जनपद था। इसका सम्बन्ध अन्य साम्राज्यों से भी था। दतिया (मध्य प्रदेश), सांची (विदिशा म0प्र0), रूपनाथ (जबलपुर म0प्र0) एवं

1– "जिला विकास पुस्तिक सन् 2001–2002", पृष्ठ संख्या–63, 64
प्रकाशक– सूचना एवं जनसम्पर्क विभाग, जनपद–जालौन (उ0 प्र0)।

कौशाम्बी (इलाहाबाद उ0प्र0) से प्राप्त अशोक कालीन लेखों से जनपद जालौन के परिसीमन के सम्बन्ध में कई प्रकार के अनुसंधान हुए जिससे ज्ञात होता है कि जालौन की परिसीमा में चन्द्रगुप्त मौर्य तथा नन्द वंश का आधिपत्य था।

क्षेत्र का परिसीमन भौगोलिक एवं भौतिक दृष्टि के आधार पर किया जाता है। जनपद जालौन का परिसीमन सबसे अनूठा और अलग है। विभिन्न प्रकार का सर्वेक्षण करने पर ज्ञात हुआ कि परिसीमन का सम्बंध धार्मिक, पौराणिक एवं ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर किया जाता है।

सर्वेक्षण की कठिनाइयां

साधारण भाषा में सर्वेक्षण का अर्थ स्वयं घटना का अवलोकन करके उसके विषय में जानकारी प्राप्त करना है। समाज की व्यवस्थाओं, संगठनों तथा समस्याओं का वैज्ञानिक अध्ययन सामाजिक सर्वेक्षण के द्वारा किया जाता है। सामाजिक सर्वेक्षण के द्वारा सामाजिक समस्याओ के कारणों की खोज की जाती है। इसी के आधार पर समस्याओं का समाधान भी किया जाता है।

सर्वेक्षण अंग्रेजी के "Survey" शब्द का हिन्दी रूपान्तरण है "Survey" दो शब्दों से मिलकर बना है– एक 'Sur (Sor), यानि "ऊपर" (Over) एवं दूसरा vey (Veeir) यानी देखना। इस तरह शब्दार्थ की दृष्टि से "सर्वे" का अर्थ ऊपर से देखना, अवलोकन या निरीक्षण करना। सर्वेक्षण एक ऐसी अध्ययन प्रणाली है जिसमें अध्ययनकर्ता घटना स्थल पर स्वयं जाकर घटना और व्यक्तियों का निरीक्षण करता है।

Definition of Social Survey

(A) "A social survey is the collecting of data concerning the living and working conditions, broadly speaking of the people in a given community."

- Bogardus

(B) "......................the social survey is a co-operative undertaking which applies scientific method to the study and treatment of current related social probelems and conditions having definite geographical limits and rearing, plus such a spreading of its facts, conclusions, and recommendations as will make them, as for as

opssibl'e, the common knowledge of the community and a force for intelligent co-ordinated actions."

- Harrison

(C) "The Survey is, in brief, simply a method of analysis in scientific and orderly for defined purposes of a given social situation or problem of populations."

- Herman N. Morse

(D) "..............social surveys are concerned with (i) the formulation of a constructive programme of reform and amelioration of (ii) current or immediate conditions of a social pathological nature which have definite geographic limits and definite social implications and social significance, (iii) these conditions can be measured and compared with situations which can be accepted as a model."

- P. V. Young

(E) "The social survey may be generally defined as a study of social institutions and activities of group of persons living in a particular locality."

- Wells, A. F.

(F) "Survey research refers to the measurement of public opinion by the youth of sampling and questionnaire techniques."

- Chaplin

(G) "Survey research is the branch of social scientific investigation that studies large and small populations to discover the relative incidence, distribution and interrelations of sociological and psycological variables."

- Kerlinger

उक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सर्वेक्षण एक वैज्ञानिक पद्धति है जिसके द्वारा एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में रहने वाले समूह के जीवन या उसके एक या कुछ पहलुओं के सम्बन्ध में निर्भर योग्य तथ्यों को संकलित किया जाता है ताकि घटना की वास्तविकताओं का अध्ययन, विश्लेषण और सामान्यीकरण किया जा सके।

CHARACTERISTIC FEATURES OF SOCIAL SURVEY

1. सामाजिक सर्वेक्षण का सम्बन्ध सामाजिक घटनाओं, सामाजिक तथ्यों तथा सामाजिक समस्याओं से होता है।

2. इसका अध्ययन–क्षेत्र एक समय में एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र के अन्तर्गत सीमित रहता है।

3. इसका सम्बन्ध मूर्त सामाजिक जीवन के प्रत्यक्ष सम्बन्ध से है। अर्थात सर्वेक्षण समाज या समुदाय से सम्बन्धित भिन्न–भिन्न धटनाओं के विषय में तथ्यों का संकलन, पर्यवेक्षण, वर्णन व विश्लेषण करता है।

4. सामाजिक सर्वेक्षण का सम्बन्ध किसी तात्कालिक व्याधिकीय समस्या या व्यवस्था से होता है।

5. सामाजिक सर्वेक्षण का एक उपयोगी पहलू भी होता है जिसमें वह समस्या के समाधान या सुधार करने की एक रचनात्मक परियोजना प्रस्तुत करता है।

6. सामाजिक सर्वेक्षण एक प्रकार का तुलनात्मक अध्ययन है, जिसमे पर्यावरण के साथ सामाजिक समस्याओं एवं दशाओं का सम्बन्ध जोड़ा जाता है।

7. सामाजिक कर्मविषयक (Objective) वैज्ञानिक अध्ययन है। अर्थात सामाजिक सर्वेक्षण अपने को अच्छे–बुरे, सही–गलत, न्याय–अन्याय, नैतिक–अनैतिक के मापदन्डों से पृथक रखता है।

8. सामाजिक सर्वेक्षण किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं बल्कि कई व्यक्तियों द्वारा सामूहिक रूप से किया जाता है। इस प्रकार सामाजिक सर्वेक्षण बहुधा सहकारी अनुसन्धान (Co-operative Study) होता है।

SUBJECT-MATTER OF SOCIAL SURVEY

सामाजिक सर्वेक्षण की विषय–सामग्री के सम्बन्ध में विद्वानों में काफी मतभेद है। मोजर ने सामाजिक सर्वेक्षण की विषय–सामग्री को निम्न चार भागों में विभाजित किया है–

1. **जनसंख्यात्मक विशेषताये**– सामाजिक सर्वेक्षण की विषय–सामग्री के अन्तर्गत किसी विशेष समूह या समुदाय के लोगों की जनसंख्यात्मक विशेषताओं को शामिल किया जाता है। जनसंख्यात्मक विशेषताओं के अन्तर्गत परिवार की संरचना, वैवाहिक स्थिति, जन्म व मृत्यु दर, आयु संरचना, स्त्री–पुरूष का अनुपात आदि का अध्ययन किया जाता है।

2. **सामाजिक पर्यावरण**– इसके अन्तर्गत उन सभी सामाजिक व आर्थिक कारकों को सम्मिलित किया जाता है जो मानव जीवन को सदैव प्रभावित करते रहते है। समूह के लोगों के व्यवसाय, उनकी आय, मकानों की व्यवस्था, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा अन्य सामाजिक तथा भौतिक सुख–सुविधाये आदि विषय इसी के अन्तर्गत आते है।

3. सामाजिक क्रियायें– सामाजिक सर्वेक्षण की विषय–सामग्री के अन्तर्गत समुदाय के लोंगों की क्रियाओं और व्यवहारों को भी सम्मिलित किया जाता है जैसे– खाली समय का उपयोग रेडियो सुनना, समाचार–पत्र पढ़ना आदि।

4. विचार तथा दृष्टिकोंण– समुदाय अथवा समूहों के लोगों के विचारों तथा धारणाओं के विषय में जानकारी प्राप्त करना भी सामाजिक सर्वेक्षण का विषय है।

SOCIAL SURVEY IN INDIA

भारत में सर्वेक्षण के विकास की गति अत्यन्त धीमी है। विकास की धीमी गति के कारण निम्नवत् है–

(1) निर्धनता
(2) भारतीयों की अशिक्षा
(3) यातायात के साधनों की कमी
(4) भौगोलिक कठिनाइयां तथा विषम परिस्थितियाँ
(5) भाषाओं की विविधता
(6) सरकार व जनता की उदासीनता

इतना होने पर भी समय–समय पर सरकार तथा कुछ संस्थाओं के द्वारा सामाजिक सर्वेक्षण किया जाता रहा है। परन्तु सर्वेक्षण मानवशास्त्रीय दृष्टिकोंण से ही किया जाता रहा है। स्वतन्त्र भारत में निम्नलिखित संस्थाओ द्वारा सर्वेक्षण किया जा रहा है।

(1) राष्ट्रीय निर्देशन निदेशालय
(2) नेशनल कौसिल ऑफ एप्लाइड इकॉनोमिक रिसर्च
(3) इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ पब्लिक ओपिनियन
(4) योजना आयोग

(5) यूनिवर्सिटी ग्रांट्स कमीशन

(6) गोखले इंस्टीट्यूट ऑफ पॉलिटिक्स एण्ड इकॉनोमिक्स

(7) इण्डियन इंस्टीट्यूट आफ कम्युनिटी डेवलपमेन्ट

(8) स्टेटिकल इन्स्टीट्यूट आफ कम्युनिटी डेवलपमेन्ट

(9) टाटा संस्थान, कलकत्ता

(10) दिल्ली स्कूल आफ सोशल वर्क

(11) समाजशास्त्रीय कार्य संस्थान, आगरा।

नेशनल सर्वे द्वारा भारतवर्ष के आर्थिक एवं सामाजिक तथ्यों को एकत्र किया जा रहा है। नेशनल काउन्सिल आफ एप्लाइड इकोनोमिक्स रिसर्च के द्वारा भारत के बड़े–बड़े नगरों में सामाजिक तथा आर्थिक तथ्यों को एकत्र किया जा रहा है।

भारत में सन् 1947 के पश्चात अनेक महत्वपूर्ण सामाजिक समस्याओं पर सर्वेक्षण हुए। यह सर्वेक्षण सांस्कृतिक, आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक समस्याओं आदि पर हुए, भारत में निम्नलिखित समस्याओं पर सर्वेक्षण किए गए हैं। निर्धनता, बेकारी, अपराध, आत्महत्या, श्रम–कल्याण, स्त्री–कल्याण, जन–कल्याण, ग्राम विकास, जनस्वास्थ्य, शिक्षा आदि।

जनपद जालौन में सर्वेक्षण सम्बन्धी कठिनाइयां

सामाजिक सर्वेक्षण का प्रमुख उद्देश्य सामाजिक पक्ष से सम्बंधित वैज्ञानिक सामग्री एकत्रित करना है। इसके सर्वेक्षणकर्ता, अनुसंधानकर्ता अनेक विधियों से सूचनाओं को प्राप्त करते हैं सर्वेक्षण गुणात्मक और गणनात्मक दोनों प्रकार के होते हैं सर्वेक्षण प्रारम्भ करने से पूर्व इसका उद्देश्य निश्चित कर लिया जाता है। सर्वेक्षण शैक्षिक समस्याओं पर है इसलिए इसे शैक्षिक सर्वेक्षण कहा जाता है। शिक्षा के क्षेत्र में सर्वेक्षण का महत्वपूर्ण स्थान है। शिक्षा से सम्बंधित तथ्यों की खोज के लिए सर्वेक्षण एक महत्वपूर्ण उपकरण है। प्रशासक

तथा शिक्षक विद्यालय–प्रणाली या सम्प्रदाय के सम्बंध में प्रत्येक बालक, प्रत्येक शिक्षक या प्रत्येक नागरिक से सम्पर्क स्थापित किए बिना भी आवश्यक सूचनाएं हासिल कर सकते हैं। संक्षेप में सर्वेक्षण में विकसित प्रतिचयन विधियों का उपयोग शैक्षिक समस्याओं के समाधान में बहुत लाभप्रद होता है।

शिक्षा के क्षेत्र में अधिकांश शोध प्रायः अयादृच्छिक प्रतिदर्श के आधार पर किए जाते हैं। यदि परिकल्पनाएं स्वीकृत हो जाती हैं तो उनकी जांच पुनः यादृच्छिक प्रतिदर्ष के आधार पर की जाती हैं इससे वाह्य वैधता बढ़ जाती है।

सर्वेक्षण की सहायता से शिक्षा की उचित व्यवस्था में बड़ी सहायता मिलती है। शिक्षा व्यवस्था के सम्बंध में विभिन्न समुदायों के लोगों की मनोवृत्तियों को निर्धारित करने में सुविधा होती है।

शिक्षा के क्षेत्र में सरकार की नई नीतियों के प्रति लोगों की मनोवृत्ति को निर्धारित करने में सुविधा होती है। इससे सरकार की ओर से की गई शैक्षिक व्यवस्था के मूल्यांकन में मदद मिलती है। जैसे– भारत में प्रौढ़ शिक्षा से सम्बंधित व्यवस्था के सम्बंध में विभिन्न समुदायों के लोगों की मनोवृत्तियों की जानकारी प्राप्त करना सम्भव होता है। जिससे शिक्षा के सम्बंध में लोगों के विचारों को निर्धारित करने में काफी सुविधा होती है। शिक्षा के क्षेत्र में समय–समय पर हुए परिवर्तनों के मूल्यांकन में सर्वेक्षण से बड़ी सहायता मिलती है। विभिन्न समुदाय के लोगों की मनोवृत्ति की जानकारी सर्वेक्षण के आधार पर प्राप्त करके परिवर्तन का मूल्यांकन करना सम्भव होता है। इस संदर्भ में पैनल सर्वेक्षण अधिक उपयुक्त तथा उपयोगी उपकरण है।

जनपद की विभिन्न तहसीलों एवं ब्लाकों में शैक्षणिक सर्वेक्षण करने पर बहुत सारी भिन्नताएं पाई गईं क्योंकि शैक्षणिक सर्वेक्षण में सबसे प्रमुख कठिनाई विद्यालयों में छात्र एवं छात्राओं की सही संख्या का ज्ञान नहीं होता है। इसके

अलावा अध्यापक एवं अध्यापिकाएं विद्यालय का सही विवरण नहीं देते हैं। शैक्षणिक सर्वेक्षण में प्रमुख मुद्दा यह भी है कि माता–पिता सही जानकारी से अवगत नहीं कराते हैं कि बच्चे किस कक्षा में पढ़ रहे हैं। शैक्षिक विद्यालय कैसा है सरकारी, गैर सरकारी क्योंकि विद्यालयों के स्तर से परिवारों का मूल्यांकन किया जा सकता है।

ग्रामीण विद्यालयों की दुर्दशा काफी दयनीय है वहां पर न तो अध्यापन कक्षों की सफाई होती है तथा चपरासी भी उपलब्ध नहीं है। इस कारण से स्वयं सफाई व्यवस्था अध्यापक करते है या फिर विद्याथियों के द्वारा कक्षाओं की सफाई कराई जाती है। कोंच तहसील के ग्रामों का सर्वेक्षण करने पर वास्तविक इंगित हुआ कि कई विद्यालयो में सरकारी अध्यापक एवं अध्यापिकाएं समय से विद्यालय नहीं पहुचते हैं यदि पहुंच जाते हैं तो कक्षा में अध्यापन नहीं कराते हैं। अपने घर–गृहस्थी, राजनीति, व्यक्तिगत नैतिकताविहीन वार्तालाप करके अपना समय विताते हैं जिससे शिक्षा व्यवस्था सुचारू रूप से नहीं चल पाती है।

पूर्व प्राथमिक एवं प्राथमिक विद्यालयों के विद्यार्थियों को हिन्दी वर्णमाला एवं गिनती तथा सामान्य ज्ञान का बोध नहीं होता है। अध्यापको का स्तर गिरता जा रहा है क्योंकि उनके पास भौतिक सुख सुविधाएं अधिक उपलब्ध हैं विद्यालय समय में अध्यापक अनेक कार्य भी करते हैं जो कि गैर जिम्मेदारी को प्रदर्शित करते हैं। शैक्षणिक सर्वेक्षण का दृष्टिकोंण व्यवहारिक और उपयोगितावादी होना चाहिए। शैक्षणिक सर्वेक्षण किसी शैक्षणिक समस्या के समाधान के लिए किया जाता है इसमें सबसे पहले विद्यार्थियों की दशाओं के विषय में तथ्य एकत्र किए जाते है। इसके बाद इन तथ्यो के विश्लेषण से सामाजिक समस्याओं के कारणों का पता लगाकर उनको सुलझाने हेतु रचनात्मक सुझाव दिए जाते हैं। शिक्षकों एवं शिक्षिकाओं की कुछ समस्याये भी होती हैं जो कि अध्यापन कार्य को प्रभावित करती हैं राज्य सरकार की ओर से किए गए सर्वेक्षणों से ज्ञात होता है कि

जनपद जालौन के शिक्षक एवं शिक्षिकाओं की समस्या अन्य जनपदों से बिल्कुल भिन्न है। दस्यु समस्या, पकड़ की समस्या एवं राहजनी की समस्या के कारणों से अध्यापक समय से विद्यालय नहीं पहुँच पाते हैं। कई विद्यालयों का सर्वेक्षण करने पर ज्ञात हुआ कि विद्यार्थी तथा शिक्षक दोनों ही नहीं आते हैं। बीहड़ में माधौगढ़ एवं कालपी तहसील के अर्न्तगत जो यमुना किनारे बसे हुए गाँव है उनका सही सर्वेक्षण करना बड़ा कठिन है।

सर्वेक्षण करते समय सारणीयन, वर्गीकरण तथा विश्लेषण किया जाता है। शैक्षिक सर्वेक्षण की नीतियां और योजनाएं निर्धारित करने में कठिनाई आती है सर्वेक्षण करते समय यह निश्चित करना आवश्यक होता है कि तथ्यों मे परिशुद्धता बनी रहे किन्तु गणनात्मक सर्वेक्षण में शत–प्रतिशत अवश्य मानी जाती है। यह गुणात्मक सर्वेक्षण में असम्भव है। शैक्षिक सर्वेक्षण दो प्रकार से होता है–गणनात्मक तथा गुणात्मक। साधारणतया किसी भी सर्वेक्षण में पूर्ण शुद्धता सम्भव नहीं है और न ही इसे आवश्यक ही माना जाना चाहिए। बौद्धिक जानकारी के अलावा व्यक्तित्व के गुणों को अत्यधिक महत्व देना चाहिए।

सर्वेक्षण करते समय स्थानीय लोगों (बौद्धिक वर्ग) की सहायता अवश्य लेनी चाहिए तथा शैक्षणिक सर्वेक्षण का प्रचार–प्रसार प्रदर्शनियों, चार्टों, पम्पलेटों और सिनेमा स्लाइडों आदि के माध्यम से किया जाना चाहिए जिस कारण से छात्र, छात्राओं, अध्यापक एवं अध्यापिकाओं में जागरूकता पैदा हो।

शैक्षणिक सर्वेक्षण के परिणामों को रेखाचित्रो एवं ग्राफ के रूप मे प्रस्तुत किया जाना चाहिए। रेखाचित्र द्वारा प्रस्तुत सामग्री का तुलनात्मक अध्ययन करने से भी आसानी होती है। जिससे कि सर्वेक्षण सम्बंधी कठिनाइयों को सरलतापूर्वक दूर किया जा सकता है।

द्वितीय अध्याय

1- महिला शिक्षा की आवश्यकता

2- विकास एवं महत्व

3- प्राथमिक शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि

4- पूर्व माध्यमिक शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि

5- माध्यमिक शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि

6- महाविद्यालयी शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि

7- सम्बन्धित निर्देश एवं तुलनात्मक अध्ययन

महिला शिक्षा की आवश्यकता

"प्रजातंत्र में राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और आर्थिक दृष्टि से महिला शिक्षा का बहुत अधिक महत्व है। महिला को पुरुष के समान कर्तव्य निर्वाह तथा अधिकारों का उपभोग करने के अवसरों तथा सुविधाओं की प्राप्ति हुई है। यदि महिला पुरुषों के समान योग्य और शिक्षित हो तो वह मतदान का सदुपयोग कर सकती है और राष्ट्र की, समाज की, परिवार की और व्यक्तिगत समस्याओं पर चिन्तन करके उनके हल प्रस्तुत कर सकती है।

स्वतंत्रता का उपभोग तभी उत्तम होता है जब राष्ट्र की सरकार व्यक्ति के हितो की सुरक्षा करने और व्यक्ति के विकास करने में योग्य होती है। राष्ट्रीय सरकार का निर्माण जनमत के हाथ में होता है। यदि जनमत अशिक्षित होता है तो वह जातिवाद, धर्म, वर्ग, प्रदेश और सम्पर्क की संकुचित भावनाओं में वहकर मतदान में उपयुक्त निर्णय नही ले पाता और अनुपयुक्त व्यक्ति को शासन कार्य के संचालन के लिए भेज दिया जाता है। यह बात महिला शिक्षा के प्रसार के अभाव में महिला वर्ग पर बहुत घटित होती है कुछ ही शिक्षित महिलाएं इस सम्बंध में अपना स्वतंत्र निर्णय रखती हैं अन्यथा अधिकांश इस उत्तरदायित्व को बड़ी उदासीनता से निभाती हैं। इसलिए यह आवश्यकता अनुभव होती है कि महिला शिक्षा का समुचित प्रसार किया जाए। सामाजिक क्षेत्र में महिला जाति सामाजिक सुधार की आधारशिला होती है। वह परिवार का सृजन और निर्माण करने वाली होती है। सबसे पहले नागरिकता की शिक्षा उसी के संरक्षण में मिलती है। यदि महिला शिक्षित नहीं होती तो वह परिवार में रहकर नागरिकता का प्रसार करने का उत्तरदायित्व न्यायपूर्वक नहीं निभा सकती। इसलिए महिला शिक्षा की आवश्यकता का अनुभव किया जाता है। महिला बालक की सबसे पहली और महत्वपूर्ण शिक्षक होती है। यदि वह अशिक्षित हुई तो बालक का शैक्षिक तथा सामाजिक विकास उपयुक्त रूप में नहीं होता। महिला समाज की शक्ति होती है, वह प्रेम, दया, प्यार की मूर्ति होती है। उसके इन गुणों के कारण

वह समाज की प्रतिष्ठित शक्ति है। वह सच्चे अर्थों में सृजन की प्रेरणा है जिसको शिक्षित करके मानवीय गुणों की अनुभूति में सहयोग पाया जा सकता है।

महिला देश की संस्कृति, धर्म, साहित्य, कला एवं ज्ञान–विज्ञान का स्तम्भ होती है। उसे शिक्षित बनाकर उनकी सृजनात्मक क्रियाशीलताओं को प्रबुद्ध, शुद्ध और समुन्नत बनाया जा सकता है। यह सृजनात्मक क्रियाशीलता पुरुष का उससे सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, साहित्यिक, कलात्मक और अन्य क्षेत्रों में नेतृत्व और मार्गदर्शन तभी कर सकती है जब वह सुशिक्षित हो, साधन सम्पन्न हो, अतः राष्ट्र में महिलाओं का विकास करने के लिए महिला शिक्षा महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

एक शिक्षित माता शिक्षा का मूल्य समझती है–और माँ के रूप में वह जानती है कि वह अपने बालकों की प्रवृत्ति, रूचि, क्षमता, आवश्यकता के अनुरूप कैसे शिक्षा दे और किस प्रकार मार्ग–दर्शन करे। वह जानती है कि राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, परिस्थितियों में उसका मार्गदर्शन कैसे करें। आज के बालक कल के नागरिक होते हैं जिनका निर्माण माता के हाथ में होता है। अतः महिला शिक्षा की आवश्यकता प्रतीत होती है।

शिक्षित महिला पुरुष से किसी भी कार्य–क्षेत्र में पीछे नहीं रही। कुछ क्षेत्रों में तो वह पुरुष से भी अधिक कुशल सिद्ध हुई है। चिकित्सा, शिक्षण और परिचर्या के क्षेत्र में महिला की तुलना पुरुष कभी भी नहीं कर सकता। यदि महिला को समुचित मार्गदर्शन दिया जाए तो वह कुशल व्यवसायी, समाजसेवी, राजनैतिक नेता और समाज सुधारक बन सकती है। वह कुशल इंजीनियर, शिक्षक, चिकित्सक, परिचारक, अधिवक्ता, कारीगर आदि बनकर राष्ट्र की समृद्धि में भारी योग दे सकती है। अतः महिला शिक्षा का विकास करते हुए उसके लिए उपयोगी सुविधाएं जुटाने का प्रयास करना उत्तम होगा। तभी राष्ट्र की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, व्यावसायिक, सांस्कृतिक और शैक्षिक उन्नति हो सकती है।"[1]

1– डा0 रामशकल पाण्डेय "उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक" पृष्ठ संख्या–684–685 प्रकाशक– विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।

विकास एवं महत्व

"वैदिक काल में महिलाओं को शिक्षा प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार था। वैदिक काल में महिला शिक्षा अपने चरम उत्कर्ष पर थी। महिलाओं को पुरूषों के समान स्वतंत्रता प्राप्त थी। ब्रह्मचर्य व्रत से सम्पन्न शिक्षित कन्या को ही गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त था। ऋग्वेद के आधार पर घोषा, गार्गी, आत्रेयी, शकुन्तला, उर्वशी, अपाला आदि उस समय की विदुषी महिलाएं थी। वेदों का अध्ययन करने की पूर्ण स्वतंत्रता थी और वे पुरुषों के साथ यज्ञ में भाग लेती थीं, किन्तु उनके लिए पृथक विद्यालय की व्यवस्था नहीं थी। हाँ सहशिक्षा का प्रचलन अवश्य था। शकुन्तला ने कण्व के आश्रम में और आत्रेयी ने बाल्मीकि के आश्रम में शिक्षा प्राप्त की थी। वस्तुतः उस युग में परिवार ही बालिकाओं की शिक्षा का केन्द्र था। जहाँ उनको अपने पिता, पति या कुल गुरू से शिक्षा प्राप्त होती थी। बालिकाओं को धर्म और साहित्य के अतिरिक्त नृत्य, संगीत, काव्य रचना, वाद-विवाद आदि की शिक्षा दी जाती थी। वैदिक काल के अंतिम चरण में लगभग 200 ईसा पूर्व से बालिकाओं की विवाह की आयु को कम करके उनकी शिक्षा प्राप्ति के मार्ग के विकास में अवरोध उपस्थित कर दिया गया। परन्तु गौतम बुद्ध ने संघ में बालिकाओं को प्रवेश की आज्ञा देकर उनकी शिक्षा को नव जीवन प्रदान किया किन्तु वह आज्ञाकुलीन व व्यावसायिक वर्गों की बालिकाओं को ही दी गई। इससे बहुसंख्यक सामान्य बालिकाएं शिक्षा से वंचित रहीं।

बौद्ध काल में महिला को पुनः कुछ गौरव मिला और वह अपनी प्रतिष्ठा हासिल न कर सकी। मध्यकाल तक आते-आते महिलाओं की दशा बद से बदतर होती गई। किसी हद तक हमारा पौराणिक साहित्य भी महिलाओं की इस स्थिति के लिए उत्तरदायी है। कहीं नारी को शूद्र कहा गया और कहीं-कहीं नरकस्य द्वारम् कहा जाने लगा और कहीं-कहीं तो नारी जो कल तक नर की अर्धांगिनी थी वह अब अधम कही जाने लगी।

सुविधाएं जुटाने का प्रयास करना उत्तम होगा। तभी राष्ट्र की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, व्यावसायिक, सांस्कृतिक और शैक्षिक उन्नति हो सकती है। मध्य काल में मुस्लिमों का शासन था लेकिन महिलाओ की शिक्षा की कोई समुचित व्यवस्था नहीं थी मुसलमानों में पर्दा प्रथा का प्रचलन होने के कारण अधिकांश बालिकाएं शिक्षा से वंचित रहीं थी। महिला शिक्षा की जो व्यवस्था थी वह केवल शाही घरानों और कुलीन वर्गों की कन्याओं तथा कुछ मध्यम वर्ग की मुसलमान बालिकाओं के लिए थी। जनसाधारण की बालिकाएं अपनी प्रारम्भिक अवस्था में मकतबों में बालकों के साथ केवल थोड़ा सा अक्षर ज्ञान प्राप्त कर सकती थीं। इसके अतिरिक्त बालिका शिक्षा की व्यवस्था केवल नगरों में ही थी। तुर्क अफगान शासन काल में शहजादियों को व्यक्तिगत रूप से शिक्षा दिए जाने का प्रबन्ध था। सुल्तान इल्तुतमिश की पुत्री रजिया सिंहासन पर आरूढ़ हुई। वह विदुषी महिला थी। उसने अश्वारोहण तथा युद्ध कला की भी शिक्षा प्राप्त की थी। मालवा के शासक महमूद खिलजी के पुत्र ग्यासुद्दीन खिलजी ने सारंगपुर में एक मदरसा स्थापित किया था जिसमें महिलाओं को कलाओं तथा शिल्पों की शिक्षा दी जाती थी।

मुगलों के आक्रमण के कारण स्थिति और भी बिगड़ गई। विदेशी आक्रान्ताओं की पाशविक प्रवृत्तियो के भय से महिलाओं ने पठन–पाठन बन्द कर दिया। बाल–विवाह, अनमेल विवाह, सती प्रथा आदि की जंजीरों से बांधकर उसे निरीह पशु बना दिया गया। नर और नारी के कार्य क्षेत्र में विभाजन रेखा खींच दी गई। यह माना जाने लगा कि नारी का कार्य क्षेत्र उसका घर है। नारी विलास का साधन बन कर रह गई। देश के आर्थिक ढांचे ने भी इस भावना के प्रसार में सहायता दी। पुरुष कमाता था, महिला को उसकी कमाई पर आश्रित रहना पड़ता था। उसकी आत्म–निर्भरता लुप्त हो गई। अब वह पुरुष की सहयोगिनी न रहकर आश्रित हो गई।"[1]

1– डा0 रामशकल पाण्डेय "उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक" पृष्ठ संख्या–685 प्रकाशक– विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।

"भारतवर्ष में अंग्रेजों के आगमन के साथ युग ने करवट बदली। अंग्रेज यहां के शासक थे। अंग्रेजों ने अनेक प्रकार के कार्य किए, जो भारतवासियों के लिए नूतन थे। लोगों के विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए और रूढियों को वे छोड़ने लगे। स्वामी दयानन्द, राजा राममोहन राय आदि समाज सुधारकों ने सामाजिक कुरीतियों एवं अन्धविश्वासों का खण्डन करने के उद्देश्य से ब्रह्म समाज व आर्य समाज की स्थापना की तथा समाज में महिलाओं को सम्मान दिलाने की दिशा में सराहनीय योगदान दिया।"[1]

"महिला शिक्षा के विकास में सबसे पहला प्रयास ईसाई मिशनरियों ने किया। सन् 1820 में श्री डेंडिहेयर ने महिला शिक्षा का सबसे पहला विद्यालय कलकत्ता में स्थापित किया। बंगाल की शिक्षा परिषद के प्रधान श्री जे0ई0डी0 वेय्यून ने तो 1849 में अपनी निजी सम्पत्ति से एक बालिका विद्यालय की स्थापना की, पर यह ईसाई मिशनरियों से भिन्न धर्म निरपेक्ष विद्यालय था। राजा राममोहन राय ने भी महिला शिक्षा का प्रसार किया, पर इन प्रयासों का लाभ एक वर्ग विशेष तक सीमित रहा। ईसाई मिशनरियों के धर्म प्रचार के कारण उनके विद्यालयों का लाभ वे ही लोग उठा सके, जो इस "खतरे" को उठा सकते थे। सन् 1872 तक महिला शिक्षा की विशेष उन्नति नहीं हो सकी। जिसके मुख्य कारण निम्नलिखित थे–

(1) भारतीय सामान्य जनता महिलाओं के लिए किसी प्रकार की शिक्षा के पक्ष में न थी, और उच्च शिक्षा से तो जैसे घृणा ही थी।

(2) सरकार ने न कोई सीधा उत्तरदायित्व ही लिया था न लड़कियों के लिए विद्यालय ही खोले थे।

(3) महिलाओं के लिए नौकरी की कोई आशा नहीं थी। अतः इस प्रकार का कोई प्रेरक तत्व नहीं था।

1– डा0 रामशकल पाण्डेय "उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक" पृष्ठ संख्या–686 प्रकाशक– विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।

(4) बाल विवाह की प्रथा अत्यन्त प्रचलित थी। अल्प आयु में ही लड़कियों का विवाह करके ससुराल भेज दिया जाता था। जहाँ सास और बड़ी महिलाओं के निर्देशन में अबोध बालिका पारिवारिक कार्य सीखती थी। दूसरी ओर पर्दा–प्रथा लड़कियों की शिक्षा की ओर से माता–पिता को उदासीन बना रही थी।

सन 1854 के बुड घोषणा पत्र में यह कहा गया है कि महिला शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिए सभी सम्भव प्रयत्न किए जाएं और महिला शिक्षा के प्रसार में लगे व्यक्तिगत प्रयासों को प्रोत्साहन दिया जाए। परिणाम स्वरूप अनेक स्थानों पर बालिका विद्यालयों की स्थापना की गई। 1890 में इंग्लैंड की समाज सेविका कु0 मेरी कारपेन्टर भारत आईं और उनके प्रयत्नो ने महिला शिक्षा के आन्दोलन को और बल दिया।"[1]

"**हन्टर कमीशन (1988)** ने महिला शिक्षा को अत्यन्त पिछड़ी दशा में पाया। अत्यन्त प्रगतिशील प्रान्त में भी अधिक से अधिक दो प्रतिशत लड़कियां शिक्षा प्राप्त कर रहीं थी। अतः इस आयोग ने महिला शिक्षा प्रसार के लिए मुख्य रूप से चार सुझाव दिए–

(1) बालिका विद्यालयों के लिए अनुदान देने की शर्त सरल बनाई जाए।
(2) विधवा महिलाओं को शिक्षित बनाने के लिए प्रोत्साहित किया जाए।
(3) भारत की जनता की शिक्षा के प्रति ब्रिटिश सरकार की नीति उपेक्षापूर्ण थी।
(4) परिणामस्वरूप इन सिफारिशों को क्रियान्वित करने का कोई प्रयास नहीं किया गया।

सन् 1901 में मिशनरियों के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर आर्य समाज ने शिक्षा के विकास की दृष्टि से महिला शिक्षा के लिए शिक्षालयों की स्थापना आवश्यक समझी प्रमुख केन्द्रों एवं नगरों में अनेक कन्या पाठशालाएँ स्थापित

1– डा0 रामशकल पाण्डेय "उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक" पृष्ठ संख्या–686 प्रकाशक– विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।

की गईं। राष्ट्रीय आन्दोलन से प्रभावित होकर आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के तत्वाविधान में हरिद्वार और वृन्दावन में लड़कों के गुरूकुलों के साथ–साथ कन्या गुरुकुल भी खोले गए। इसी समय 1901 में रवीन्द्रनाथ टैगोर ने शान्ति–निकेतन में महिला–शिक्षा विभाग की स्थापना की थी। सन् 1904 में श्रीमती ऐनी बेसेन्ट ने बनारस में सेन्ट्रल हिन्दू बालिका विद्यालय की स्थापना की। सन् 1882 से 1902 तक महिला–शिक्षा की प्रगति मन्द अवश्य थी पर वह निरन्तर होती रही। अतः इस अवधि मे प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में सबसे अधिक उन्नति हुई। क्योंकि 1882 में अध्ययन करने वाली बालिकाओं की संख्या 1,24,491 से बढ़कर 1902 में 3,48,410 हो गई। प्राथमिक विद्यालयों में बालको और बालिकाओं के पाठ्यक्रम में अन्तर कर दिया गया था छात्राओं को गणित, भूगोल और इतिहास के स्थान पर संगीत, चित्रकला और सिलाई, कढ़ाई की शिक्षा दी जाने लगी थी विशेष रूप से हिन्दू इसकी उपयोगिता समझने लगे थे। हिन्दू समाज में इस परिवर्तित दृष्टिकोंण को उपस्थित करने का श्रेय पंडित ईश्वर चन्द्र विद्यासागर और अगरकर जैसे उत्साही समाज सुधारकों को था। इन निःस्वार्थ समाज सेवकों ने महिला विद्यालय के निर्माण के लिए जनता से धन एकत्र करने में अथक प्रयास किए और देश के विभिन्न भागों में महिला विद्यालयों की स्थापना करके शिक्षा प्रसार में सराहनीय योगदान दिया।

गोखले विधेयक (1911)– गोपालकृष्ण गोखले पहले नेता थे जिन्होने ब्रिटिश संसद में भारतीय नागरिकों के लिए अनिवार्य शिक्षा की मांग की। उनकी दूरदर्शिता के कारण अनिवार्य शिक्षा विधेयक प्रस्तावित हुआ। सामाजिक कुरीतियों, प्रथाओं एवं पर्दा प्रथा के कारण अनिवार्य शिक्षा को अपनाना कठिन था, फिर भी उन्होने सरकार को सुझाया कि वह 6 से लेकर 10 वर्ष तक (चार वर्ष) के लिए प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य कर दें। पहले बालकों के लिए और बाद में बालिकाओं के लिए अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की जाए। यह विधेयक पास नहीं हो सका और शिक्षा अनिवार्यता ग्रहण न कर सकी। सन् 1914 में प्रथम

विश्वयुद्ध छिड़ने के कारण शिक्षा की प्रगति अवरुद्ध हो गई। यह विधेयक गोखले के प्रस्ताव पर आधारित था और उसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं–

(1) अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के अधिनियम को उन स्थानीय बोर्डों के क्षेत्रों में लागू किया जाए जहां के बच्चों का एक निश्चित प्रतिशत प्रारम्भिक विद्यालयो में शिक्षा प्राप्त कर रहा है।

(2) स्थानीय बोर्ड सरकार की पूर्व स्वीकृति प्राप्त करके इस अधिनियम को लागू कर सकते है।

(3) प्राथमिक शिक्षा के व्यय के लिए स्थानीय बोर्ड शिक्षा कर लगा सकते हैं।

(4) अभिभावकों के लिए 6 से 10 वर्ष तक की आयु के बालको को प्राथमिक विद्यालयों में भेजना अनिवार्य हो। यदि वे इस नियम का उल्लंघन करें तो उन्हें दण्डित किया जाए।

(5) कालान्तर में बालिकाओं के लिए भी प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य कर दी जाए।

(6) जिस अभिभावक की आय 10 रुपए मासिक से कम हो उससे शिक्षा शुल्क न लिया जाए।

(7) अनिवार्य शिक्षा का व्यय भार स्थानीय बोर्डों और सरकार द्वारा वहन किया जाए, सरकार सम्पूर्ण व्यय का 2/3 भाग दे।

इन सुझावों को देखने से ज्ञात होता है कि गोखले विधेयक अत्यन्त साधारण था। इसको प्रस्तुत करते हुए अति विनम्र भाव से गवर्नर जनरल को संबोधित करते हुए कहा– श्रीमान जी! सारांश में मेरा विधेयक यह है "अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का श्रीगणेश करने का यह लघु एवं तुच्छ प्रयास है।"

विधेयक को जनमत संग्रह के लिए स्थानीय सरकारों, विश्वविद्यालयों एवं कुछ व्यक्तिगत संस्थाओं के पास भेजा गया। 17 मार्च 1912 को सभा में विधेयक पर वाद–विवाद प्रारम्भ हुआ, दो दिन के भीषण संघर्ष के पश्चात 19 मार्च 1912 कों इसे 13 वोटों के विरूद्ध 38 वोटो से गिरा दिया गया। दुःख की बात यह है कि सरकारी सदस्यों ने तो इसके विपक्ष में मत प्रदान किया ही परन्तु उनके साथ–साथ जमींदार सदस्यों ने भी अपने गोरे शासकों को प्रसन्न करने के लिए ऐसा ही किया। इस प्रकार भारत के कतिपय व्यक्तियों की स्वार्थ सिद्धि इस देश की जनशिक्षा में बाधक हुई।

कर्जन ने स्वीकार किया था कि भारत में महिला शिक्षा बहुत पिछड़ी हुई दशा में है। उसके समय में सम्पूर्ण भारत में केवल 4,24,000 लड़कियां विभिन्न प्रकार के स्कूलों में शिक्षा ग्रहण कर रहीं थीं इसमें से लगभग 1/3 ऐंग्लो एण्डियन और भारतीय इसाई थी। कर्जन ने महिला शिक्षा को प्रोत्साहित करने का निश्चय किया परन्तु भारतीयों की रूढ़िवादिता पर्दा प्रथा और बाल विवाह प्रथा की कठिनाइयां उसके समक्ष आईं अतः उसने बालिकाओं के लिए कुछ आदर्श विद्यालयों की स्थापना की और उनमें सुयोग्य अध्यापिकाओं की नियुक्ति करके महिला शिक्षा को विस्तृत करने का मार्ग अपनाया। इन कार्यों के परिणाम संतोषजनक नहीं निकले और बालिका शिक्षा अपनी पूर्व स्थिति मे ही रही।"[1]

"शिक्षा–नीति सम्बंधी सरकारी प्रस्ताव में महिला शिक्षा की ओर ध्यान नहीं दिया गया। इसमे स्वीकार किया गया कि भारतीयों की सामाजिक प्रथाएँ महिलाओं की शिक्षा में अवरोध डालती हैं। समाज के इन बन्धनों को तिरस्कृत करके महिला शिक्षा का प्रसार किया जाना सम्भव नहीं है। अतः प्रान्तीय सरकारों को लिखा गया कि वे स्थानीय सामाजिक परिस्थितियों को अपने दृष्टिकोंण

1– डा0 रामशकल पाण्डेय "उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक" पृष्ठ संख्या–687–688 प्रकाशक– विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।

में रखकर महिला शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिए अपनी योजनाएं भेजें। इसके साथ ही सरकारी प्रस्ताव में महिला शिक्षा के लिए निम्नलिखित सामान्य सिद्धांन्त निर्धारित किए गए–

(1) बालिकाओं को जीवनोपयोगी शिक्षा दी जाए और वह ऐसी हो जिससे वह सामाजिक जीवन में अपना उचित स्थान ग्रहण कर सकें।

(2) बालिकाओं को बालकों से भिन्न शिक्षा दी जाए और इनमें परीक्षाओं को कोई महत्व न दिया जाए।

(3) बालिकाओं की शिक्षा में स्वास्थ्य विज्ञान का विशेष ध्यान दिया जाए और स्थानीय सामाजिक वातावरण को ध्यान में रखा जाए।

(4) बालिका विद्यालयों में शिक्षण तथा निरीक्षण का कार्य करने के लिए स्त्रियां ही नियुक्त की जाएँ।

इस नवीन शिक्षा नीति के फलस्वरूप लड़कियों की शिक्षा को प्रेरणा मिली और उसके प्रत्येक स्तर पर प्रगति के चिन्ह दिखलाई देने लगे। सन् 1921 में प्राथमिक विद्यालयों में पढ़ने वाली बालिकाओं की संख्या 11,98,550 थी। जबकि 1910 में यह संख्या 3,48,510 थी। इस काल में शिक्षण विद्यालयों में दीक्षा लेने वाली छात्राओं की संख्या में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। 1881 में इस प्रकार की छात्राओं की संख्या 515,1901 में 1,412 और 1921 में 4,391 थी। बंगाल में महिला शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिए 1907 में महिला शिक्षा समिति की स्थापना की गई। पर्दानशीन महिलाओं की शिक्षा का भी प्रबन्ध किया गया।

हर्टांग समिति 1927 इस समिति ने बालिका शिक्षा सम्बन्धी विविध संस्तुतियां प्रस्तुत कीं। इस समिति के बालिका शिक्षा सम्बन्धी कुछ प्रमुख सुझाव निम्न हैं–

(1) बालक बालिकाओं के लिए समान रूप से शिक्षा व्यवस्था की

जानी चाहिए तथा समान धन व्यय किया जाना चाहिए।

(2) बालिका विद्यालयों के निरीक्षणार्थ निरीक्षकाओं की संख्या बढ़ाई जानी चाहिए।

(3) ग्रामीण क्षेत्रों में अधिकाधिक बालिका विद्यालय स्थापित करने चाहिए।

(4) बालिकाओं के लिए गृह विज्ञान, संगीत, कला, स्वास्थ्य और परिचर्या की शिक्षा व्यवस्था की जानी चाहिए।

1921 से 1937 तक बालिका शिक्षा में व्यक्तिगत एवं सरकारी प्रयासों द्वारा उन्नति हुई। 1929 में "हरविलास शारदा" द्वारा "बाल विवाह" पर प्रतिबन्ध हेतु प्रस्तावित विधेयक द्वारा बाल विवाह पर निषेध लगाया गया और "शारदा अधिनियम 1929" का निर्माण किया गया। इस नियम से कम आयु की बालिकाओं को शिक्षा ग्रहण करने का अवसर मिला महिलाओं को मतदान का अधिकार मिला। उपरोक्त सामाजिक और राजनैतिक सुधारों से महिला जाति में आत्मसम्मान जाग्रत हुआ। इतना ही नहीं महिलाओं ने 1926 में अखिल भारतीय महिला संघ का निर्माण किया और 1927 में अखिल भारतीय महिला शिक्षा सम्मेलन आयोजित किया जिसमें उन्होने पुरुषों के अनुरूप विविध प्रकार की शिक्षा की अधिकारिणी होने की माँग का नारा बुलन्द किया।

अन्त में समिति ने बलपूर्वक सिफारिश करते हुए लिखा "शिक्षा प्राप्त करना केवल पुरुष का ही विशेषाधिकार नहीं है। अपितु पुरुष और महिला दोनों का समान अधिकार है। सामाजिक एवं राष्ट्रीय व्यवस्था को एवं स्वयं अपने को क्षति पहुंचाए बिना महिला और पुरुष में से कोई भी अकेला प्रगति नहीं कर सकता है। दोनों की शिक्षा में संतुलन करने का समय आ गया है। हमारा यह निश्चित मत है कि समग्र रूप से भारतीय शिक्षा की प्रगति के हित में शिक्षा प्रसार की प्रत्येक योजना में महिला को प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

सन् 1937 में वर्धा शिक्षा योजना के अनुसार 6 से 14 वर्ष तक के बालक बालिकाओं के लिए अनिवार्य बेसिक शिक्षा की निःशुल्क व्यवस्था पर बल दिया गया। बालिकाओं के लिए बालिका उपयोगी पाठ्यक्रम का चयन करके उसका विकास करने की योजना और गृहशिल्प की व्यवस्था की गई। गाँधी जी कहते थे "जनसाधारण में व्याप्त अशिक्षा भारत के लिए कलंक और पाप है, उसका विनाश किया जाना चाहिए।"[1]

"1937 से 1947 तक विशेष रूप से महिला शिक्षा में तीव्र प्रगति हुई। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान भारत के विभिन्न सरकारी विभागों एवं व्यापारिक कार्यालयों में शिक्षित व्यक्तियों की माँग बढ़ी फलस्वरूप अनेक महिलाएं उनमें कार्य करने लगी। नौकरी करने में महिलाओं ने जिस आर्थिक स्वतंत्रता के आनन्द का उपयोग किया उससे उन्हें शिक्षा ग्रहण करने की अधिक प्रेरणा प्राप्त हुई। युद्धकाल में महंगाई अधिक हो जाने के कारण मध्यम वर्ग के व्यक्ति आर्थिक संकट में थे अतः उनमें जो उदार विचार के थे उन्होने अपनी महिलाओं को घर से बाहर जाकर नौकरी करने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं की। इस परिवर्तित दृष्टिकोंण ने महिला शिक्षा के उन्नयन में अतिशय योग दिया। 1947 में महिलाओं के लिए सामान्य तथा विशिष्ट शिक्षा के लिए 16,951 संस्थाएँ थीं, जिनमें 3,55,05,503 लड़कियां शिक्षा का लाभ उठा रहीं थीं।"[2]

"स्वतंत्रता के पश्चात महिला शिक्षा का जो विकास हुआ है वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात बालिका शिक्षा की ओर हमारा दृष्टिकोंण ही बदल गया। महिलाओं को पुरुषों के समान स्तर पर लाने के लिए आवश्यक सामाजिक, आर्थिक और कानूनी परिवर्तन किए गए और एक नए युग का शुभारम्भ हुआ। भारत का संविधान पुरुष और नारी दोनों के लिए समान

1- "The Most Conspicuous blot on educational system of India"

2- Seven Years of Freedom. p.24

अधिकार देता है। कुछ विशेष विधान महिलाओं के सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक स्तर को ऊँचा उठाने हेतु हैं।

अनुच्छेद 15(1), 16(1), 16(2) में उल्लिखित है कि किसी भी नागरिक से लिंग के आधार पर भेदभाव नहीं किया जाएगा। सरकार ने महिला उत्थान के लिए श्रीमती जयन्ती पटनायक की अध्यक्षता में नेशनल कमीशन आफ वीमेन की स्थापना की। महिलाओं के उत्थान के लिए यह कमीशन अच्छा अस्त्र साबित होगा, ऐसी कल्पना की गई।

स्वतंत्र भारत की नारी की सामाजिक स्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहा है। जिन बन्धनों में वह बंधी हुई थी वे धीरे–धीरे ढीले होते जा रहे हैं। जिस स्वतंत्रता से उसे वंचित कर दिया गया था वह उसे पुनः प्राप्त हो रही है। उसके सम्बन्ध में पुरुषों का दृष्टिकोंण बदल रहा है। भारतीय संविधान ने भी महिला को समकक्षता प्रदान करते हुए घोषित किया–"राज्य किसी नागरिक के विरूद्ध केवल धर्म, जाति, लिंग, जन्म स्थान या इनमें से किसी के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा।"[1]

"स्वतंत्रता के पश्चात महिला शिक्षा के संदर्भ में आयोगों एवं समितियों ने निम्न कार्य किए–

राधाकृष्णन कमीशन (1948–49)–राधाकृष्णन कमीशन जिसे विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग भी कहते हैं, ने महिला शिक्षा पर बल देते हुए कहा कि "शिक्षित महिलाओं के बिना शिक्षित व्यक्ति नहीं हो सकते।" इस आयोग ने महिला शिक्षा के विकासार्थ कुछ सुझाव दिए।

(1) महिला को सुमाता तथा सुगृहणी बनाने की शिक्षा दी जाए।
(2) महिलाओं के लिए शिक्षा सुविधाओं का विस्तार किया जाए।

1– भारतीय संविधान की धारा 15 के अनुसार।

(3) महिलाओं को गृह–प्रबंध अध्ययन की प्रेरणा और अवसर प्रदान किए जाएं।

(4) अध्यापिकाओं को समान कार्यों के लिए अध्यापको के बरावर वेतन दिया जाए।

(5) ऐसा पाठ्यक्रम बनाया जाए जो बालिकाओं को समाज में समान स्थान दिला सके।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात राष्ट्रीय सरकार ने महिला शिक्षा के प्रसार के लिए अधिक उत्साह का प्रदर्शन किया। नए संविधान का उद्देश्य भारत में एक ऐसे संविधान की संरचना करनी है जो सब नागरिको को बिना धर्म, जाति अथवा लिंग भेद के न्याय एवं समानता पर आधारित हो। इसीलिए सरकार द्वारा महिला शिक्षा के लिए प्रभावशाली कदम उठाए गए। वर्ष 1949–50 के प्राथमिक स्कूलों में बालिकाओं की संख्या का प्रतिशत मात्र 28 था।

योजना आयोग द्वारा प्रथम पंचवर्षीय योजना में महिला शिक्षा के विकास हेतु जो लक्ष्य निर्धारित किए गए उसके परिणामस्वरूप स्कूल जाने वाली 6 से 11 वर्ष आयु वर्ग की बालिकाओं की संख्या का प्रतिशत वर्ष 1955–56 में 40 प्रतिशत तक पहुंच गया जो कि वर्ष 1950–51 में मात्र 23.3 प्रतिशत था। योजना आयोग द्वारा अत्यंत पिछड़ी बालिकाओं तथा महिलाओं कों शिक्षा प्रदान किए जाने की व्यवस्था हेतु आवश्यक लक्ष्य निर्धारित किए तथा विभिन्न सामाजिक संस्थाओं के सहयोग से उन्हें शिक्षित करने हेतु पूरे प्रयास किए।

इस अवधि में बालिका शिक्षा संस्थाओं की संख्या 61 लाख से बढ़कर 81 लाख हो गई। इस संख्या में अप्रत्याशित वृद्धि का कारण बालिकाओं का सह शिक्षा में प्रवेश लेना था। केवल बालिकाओं की शिक्षा देने वाली संस्थाओं की संख्या इस अवधि में 16,814 से बढ़कर 18,671 तक पहुंच गई जब कि

अध्ययनरत बालिकाओं की संख्या इस अवधि में क्रमशः 64.7 लाख से 93 लाख तक पहुंच गई जो कि लगभग 42.6 प्रतिशत थी।

वर्ष 1951–56 योजना काल में महिला शिक्षा के विकास हेतु सरकार द्वारा पारित कानूनों तथा वैवाहिक जीवन में मधुरता तथा समरसता बनाए रखने के लिए 1955 में बना "हिन्दू विवाह अधिनियम" 1952 में बना विशेष विवाह अधिनियम मुख्य है जिसमें अन्तर्जातीय विवाह को वैध घोषित किया गया तथा वर व कन्या के विवाह की न्यूनतम आयु 21 व 18 वर्ष निश्चित की गई। 1954 में जब यू0 जी0 सी0 विल संसद में पेश किया गया तो मिस जयश्री तथा श्री डी0 सी0 शर्मा ने महिलाओं को भी पुरुषों के समान ही शैक्षिक सुविधाएं उपलब्ध कराने पर विशेष जोर दिया। उन्होने कहा कि पुरुषों के समान महिलाओं को भी विद्यालयों में प्रवेश, शिक्षकों की भर्ती आदि समस्त पहलुओं पर समान रूप से नामित किया जाना चाहिए।"[1]

योजना आयोग द्वारा दूसरी पंचवर्षीय योजना में महिलाओं की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया गया। इस योजना काल में महिला शिक्षकों को शिक्षक प्रशिक्षण हेतु विशेष व्यवस्था की गई क्योंकि महिला शिक्षकों के अभाव में शिक्षा का विकास ठीक प्रकार से नहीं हो पा रहा था। इस योजना में ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाली महिलाओं के लिए मकान आदि की सुविधाएं दिए जाने पर विशेष ध्यान दिया गया। बालिकाओं को शिक्षा के लिए छात्रवृत्तियां एवं विभिन्न राज्यों में महिलाओं को निम्नलिखित अनुदान प्रदान किए जाने की व्यवस्था की गई–

(1) ग्रामीण क्षेत्रों में महिला शिक्षकों के लिए निःशुल्क आवासीय व्यवस्था।

(2) स्कूलों में आया की नियुक्ति हेतु।

(3) शिक्षक प्रशिक्षण हेतु महिला शिक्षकों को छात्रवृत्ति प्रदान करना।

(4) रिफ्रेशर कोर्स की व्यवस्था।

1– यू0 जी0 सी0 विल 11 मई 1956 में हुई बहस के अंश।

इस योजना काल में सरकार द्वारा पारित कानून हिन्दू माइनारिटी एण्ड गार्जियनशिप एक्ट (हिन्दु अल्पवयस्कता तथा अभिभावकता अधिनियम) 1956 में बना। इस अधिनियम ने महिला शिक्षा के विकास में सहयोग किया।

राष्ट्रीय महिला शिक्षा समिति (1958)– राष्ट्रीय महिला शिक्षा समिति को दुर्गाबाई देशमुख समिति के नाम से भी जानते हैं। महिला शिक्षा के विकास पर विशेष ध्यान देने के उद्देश्य से दुर्गाबाई देशमुख की अध्यक्षता में एक समिति गठित की गई। इसका मुख्य उद्देश्य महिला शिक्षा की विभिन्न समस्याओं का समाधान करने के लिए सुझाव देना था। समिति ने 1959 में निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किए–

(1) कुछ वर्षों तक बालिका शिक्षा की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता तथा महिलाओं के लिए अलग से प्रशासनिक व्यवस्था भी की जानी चाहिए।

(2) ग्रामीण क्षेत्रों में महिला शिक्षा के विकास हेतु सरलीकृत अनुदान किए जाने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(3) उपलब्ध धनराशि का उपयोग बालिकाओं के मिडिल तथा माध्यमिक स्तर के विद्यालयों, शिक्षक प्रशिक्षण स्कूलों, छात्रावास तथा महिला अध्यापिकाओं हेतु छात्रावास बनाए जाने के लिए अनिवार्य रूप से किया जाना चाहिए।

(4) राज्यों में बालिकाओं एवं महिला शिक्षा की राज्य परिषदों का निर्माण किया जाए।

(5) बालक तथा बालिका शिक्षा के लिए विषमता को शीघ्र समाप्त किया जाए।

बालिकाओं की शिक्षा हेतु राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में निम्नलिखित सुझाव दिए गए–

(1) बालिकाओं की शिक्षा के लिए परिवेश का निर्माण करना।

(2) औपचारिक तथा अनौपचारिक दोनों प्रकार की शिक्षा के लिए सुविधाएं बढ़ाना।

(3) वर्तमान कार्यक्रम का विस्तार एवं उनके सहायता कार्यक्रम को प्रारम्भ किया जाए जिससे बालिकाओं का स्तर बढ़ाया जा सके।

(4) आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनुपूरक पाठ्यक्रम तैयार करना।

(5) निरक्षर महिलाओं के लिए युद्ध स्तर पर कार्य करके निरक्षरता दूर करने के उपाय किए जाए जिससे स्वयंसेवी संगठन, सम्पूर्ण मानवशक्ति का सहयोग लिया जाए।

राष्ट्रीय समिति का गठन– शिक्षा मंत्रालय भारत सरकार द्वारा महिला शिक्षा के विकास हेतु गठित राष्ट्रीय समिति ने 1974 में अपनी 13वीं बैठक में निम्नलिखित मुख्य सिफारिशें कीं।

(1) केन्द्र द्वारा राज्य सरकारों तथा स्वायत्त सेवा संस्थाओं को अनुदान के रूप मे महिला शिक्षा के विकास हेतु विशेष धनराशि प्रदान की जाए।

(2) लड़कियों के नामांकन मे वृद्धि हेतु विशेष सुविधाएँ उपलब्ध कराई जाएं।

(3) महिलाओं को शिक्षण प्रशिक्षण कण्डेन्स कोर्स के द्वारा प्रदान किया जाए।

(4) स्थानीय महिलाओं को शिक्षक के रूप में कार्य करने हेतु प्रेरित करने का प्रयास किया जाए।

(5) ऐसी बालिकाओं के लिए जो बीच में ही अपनी पढ़ाई छोड़ देती हैं ऐसा पाठ्यक्रम तैयार करना चाहिए जिसे वे अनौपचारिक शिक्षा के रूप में ग्रहण कर सके।

(6) महिला शिक्षकों के लिए शहरों और नगरों में स्टाफ क्वाटर्स बनाए जाने चाहिए तथा उन्हें पूरी सुरक्षा प्रदान किए जाने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

"केन्द्र सरकार ने महिलाओं की समस्याओं का अनुभव किया और पाया कि अधिकांश महिलाएं अभी भी सामाजिक और आर्थिक असमानताओं से प्रभावित हैं लेकिन यह दुर्भाग्य से ही कहा जाएगा कि महिला शिक्षा के विकास के लिए बनाई गई योजनाएं ठीक प्रकार से लागू न हो पाईं और महिलाओं के जीवन और शिक्षा में कोई सकारात्मक प्रगति न हो सकी।

भारतीय महिलाओं के शैक्षिक स्तर सम्बंधी समिति की रिपोर्ट 18 मई 1975 को राज्य सभा के पटल पर रखी गई। इस पर बोलते हुए तत्कालीन शिक्षा मंत्री नुरूल हसन ने कहा "पिछले 28 वर्षों में महिलाओं की दशा में व्यापक सुधार आया है। उन्हें संविधान ने पूरी सुरक्षा के साथ–साथ कई शैक्षिक योजनाओं में भी सहभागी बनाया है तथा कानूनी मापदण्ड भी उनकी प्रगति में सहायक हुए हैं।"

बहस में भाग लेते हुए तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने कहा कि "किसी भी समाज का स्तर वहां की महिलाओं के स्तर से आँका जाता है। महिलाएं आज भी पुरुष प्रधान समाज में रह रही हैं उन्हें जन्म से लेकर जीवनपर्यन्त हर क्षेत्र में इस मानसिकता से गुजरना पड़ता है। चाहे वह शिक्षा का क्षेत्र हो अथवा समाज में रहने की बात।"[1]

1– भारतवर्ष में महिलाओं के स्तर पर राज्य सभा में दिनांक 18 मई 1975 में हुई बहस के अंश।

"महिलाओं का निम्न स्तर अथवा उन्हें विकास की कम सुविधाएं उपलब्ध कराना समाज को कमजोर बना देता है। संसद में स्थित महिलाओं की दशा की सही तस्वीर प्रस्तुत करते हुए राजा देशपाण्डे ने कहा कि यह वर्ष महिला वर्ष है मैं जानना चाहूँगा कि सरकार महिलाओं के विकास के बारे में क्या सोच रही है। यदि आपका उत्तर यह है कि आप उन्हें पुरुषों के समान ही स्तर प्रदान कर रहे हैं तो मैं आपके प्रति अभारी हूँ। मैने देखा कि बहुत से स्थानों पर ऐसे स्कूल तथा हास्टल हैं जहां बालिकाएं स्वयं रहकर पढ़–लिख सकतीं हैं। परन्तु यदि गाँवों में जाकर हम बालिकाओं की शिक्षा के बारे में देखें तो स्थिति पूर्णतः विपरीत है। वहां वालिकाओं को विद्यालय भेजना किसी पर उपकार समझा जाता है। हमें यह स्थिति बदलनी होगी। ऐंसे में हमें विद्यालय तथा छात्रावासों की संख्या बढ़ाना चाहिए जहां बालिकाओं को ऐसी सुविधाएं उपलब्ध हो। विशेष रूप से इस महिला वर्ष में हमें महिलाओं की शिक्षा पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। जिससे महिला शिक्षा का विकास पूर्ण रूप से हो सकें।"[1]

1– लोकसभा में यू0 जी0 जी0 रिपोर्ट पर हुई बहस के अंश, 6 अगस्त 1975।

महिला शिक्षा का महत्व

"विकासशील देशों में स्त्रियों को पुरुषों के साथ पारिवारिक, सामाजिक तथा आर्थिक उत्तरदायित्वों को वहन करना पड़ता है। फलस्वरूप, उनकी शिक्षा की अवहेलना नहीं की जा सकती। नेपोलियन ने कहा था–"मुझे शिक्षित माताएं दो, एक सुशिक्षित राष्ट्र का निर्माण कर दूँगा।" शिक्षाशास्त्रियों ने भी परिवार को प्रारम्भिक पाठशाला के रूप में स्वीकार किया है। स्पष्ट है कि जिस परिवार में सुशिक्षित महिलाएं होंगी, उस परिवार से सम्बंधित सदस्य की शिक्षा भी सुदृढ़ होगी। किसी सुदृढ़ राष्ट्र का निर्माण सुशिक्षित व्यक्तियों से होता है। एक कन्या को शिक्षित कर देने से आगे आने वाली पीढ़ी सुशिक्षित होती है। अतः महिला शिक्षा का उचित प्रबन्ध राष्ट्र का पुनीत कर्तव्य होता है। माता ही बालक की प्रथम शिक्षिका होती है। इसीलिए किसी विद्वान ने कहा है–"जो हाथ पालने को झुलाता है, वह संसार का शासन भी करता है।" परिवार की मेरुदण्ड महिलाएं ही होती हैं इनकी प्रगति पर ही सर्वांगीण विकास आधारित होता है। महिलाएं मात्र परिवार की ही उन्नति ही नहीं करती, बल्कि समाज को सुसंस्कृत कर उन्नतिशील बनाने में महत्वपूर्ण योगदान प्रस्तुत करतीं हैं। "विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग" ने महिला शिक्षा के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा कि महिला शिक्षा के बिना लोग शिक्षित नहीं हो सकते। स्त्रियों का कार्य क्षेत्र मात्र घर तक ही सीमित नहीं होना चाहिए, बल्कि उन्हें इस योग्य बनाना चाहिए कि वे जीवन के विभिन्न क्षेत्रों एवं परिस्थितियों के कार्यों में योजना प्रस्तुत कर सकें।

नेपोलियन का कथन है–"बालक का भावी भविष्य सदैव उसकी माता द्वारा निर्मित किया जाता है।" लिंकन ने कहा है–"मैं जो कुछ भी हूँ और जो कुछ होने की आशा करता हूँ, उसके लिए मैं अपनी माता का कृतज्ञ हूँ।" शिक्षित नारी परिवार, समाज तथा देश की प्रतिष्ठा को ऊँचा उठाती है। अतः सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों को दृष्टिगत रखते हुए पुरूषों के समान स्त्रियों को भी शिक्षित करना चाहिए। पारिवारिक दृष्टि से महिलाओं की शिक्षा बहुत ही महत्वपूर्ण है। परिवार में माँ का स्थान सबसे अधिक महत्वपूर्ण

होता है। उसका अमिट प्रभाव बालक के व्यक्तित्व पर पड़ता है। परिवार में माता ही बालक की प्रथम शिक्षिका होती है। परिवार की समृद्धि शिक्षित महिलाओं पर ही निर्भर करती है। इस प्रकार पारिवारिक उत्तरदायित्व का वहन करने के लिए महिलाओं का शिक्षित होना अति आवश्यक है।

समाज की प्रगति में शिक्षित महिलाओं का योगदान बहुत ही प्रमुख होता है। अतः समाज में महिला और पुरुष दोनों का स्थान महत्वपूर्ण है। परिवार के सीमित क्षेत्र से बाहर निकल कर वह "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना को जागृत कर समाज की प्रगति करने में महत्वपूर्ण योगदान प्रस्तुत कर सकती है। इस प्रकार समाजिक दृष्टि से समाज के स्तर को उन्नयन करने में महिलाओं का महत्वपूर्ण योगदान होता है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में पुरुषों तथा स्त्रियों को समान अधिकार प्रदान किए गए है। राष्ट्र को उन्नत तथा सुदृढ़ बनाने में जितना योगदान पुरुषों का होता है, उतना ही योगदान महिलाओं का भी होता है। राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का ज्ञान शिक्षा के ही माध्यम से प्राप्त होता है अतः महिलाओं को शिक्षित करने पर ही राष्ट्र की प्रगति तथा समृद्धि सम्भव हो सकती है। इस प्रकार राजनैतिक दृष्टि से महिला शिक्षा के महत्व को नकारा नहीं जा सकता।

आज की परिवर्तित परिस्थितियों में पुरुषों के समान ही महिलाओं पर भी प्रत्येक प्रकार का उत्तरदायित्व है। अशिक्षित महिला विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों का सामना नहीं कर सकती है। शिक्षित नारी जीवन का प्रत्येक क्षेत्र—सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक आदि में पुरुषों के समान अपना महत्वपूर्ण योगदान प्रस्तुत कर रही है। देश की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने में शिक्षित महिला अपूर्व योगदान प्रस्तुत करती है तथा वे आर्थिक कठिनाइयों का सामना आसानी से कर सकती हैं। अतः आर्थिक दृष्टि से महिला शिक्षा का महत्व अधिक है।"[1]

1— डा0 बी0 बी0 पाण्डेय, "शिक्षा में नवाचार तथा आधुनिक प्रवृत्तियाँ" पृष्ठ संख्या—252 प्रकाशक : वसुन्धरा प्रकाशन, राउदपुर, गोरखपुर।

प्राथमिक शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि

प्राथमिक शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि का अध्ययन समाजशास्त्र के अनुसार एक अनुपमीय एवं अतुलनीय प्रक्रिया है। प्राथमिक शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि में उनकी सामाजिक, आर्थिक एवं पारिवारिक भूमिका का महत्वपूर्ण योगदान होता है सामाजिक भूमिका के अन्तर्गत हम उन पहलुओं पर विचार करतें हैं जिसका कि प्राथमिक शिक्षिकाओं को सामना करना पड़ता है। समाज में भिन्न–भिन्न प्रकार की मान्यताएं एवं रूढ़ियां होती हैं जिनका कि अनुसरण करना पड़ता है और जिसका प्रभाव शिक्षिकाओं के जीवन पर पड़ता है और उसी के अनुरूप उनकी पृष्ठभूमि का निर्माण होता है। प्राथमिक शिक्षिकाओं की पारिवारिक पृष्ठभूमि पूर्व माध्यमिक, माध्यमिक एवं महाविद्यालयी महिला शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि से भिन्न होती है। क्योंकि शिक्षिकाएं परिवार की इकाई हैं क्योंकि उनके जीवन में निश्चित सकारात्मक एवं नकारात्मक मापदण्ड होते हैं, जो पारिवारिक पृष्ठभूमि का निर्माण करने में सहयोग देते हैं। परिवार पर ही शिक्षिकाओं की समस्त भूमिकाएं और समस्याएं केन्द्रित होती हैं।

जनपद जालौन में प्राथमिक महिला शिक्षिकाओं का पारिवारिक दृष्टिकोंण एवं पृष्ठभूमि एक अनुसंधानात्मक एवं चिन्तनीय विषय है। महिलाओं को परिवार में प्रचलित मान्यताओं को भी अपनाना पड़ता है। जिससे कि वह जीवन में उन्नतिशील तथा प्रगतिशील नवीन ज्ञान की खोज कर सामाजिक, सांस्कृतिक, समानता एवं पारिवारिक न्याय को प्रोत्साहित कर सकें। प्रत्येक परिवार में शिक्षा का विस्तार एवं विकास अलग–अलग है। शिक्षा को गुणात्मक एवं प्रगतिशील बनाने के लिए पारदर्शिता का होना आवश्यक है।

जनपदीय परिवारों में शैक्षणिक स्तर की पृष्ठभूमि में भी भिन्नता पाई जाती है। महिला शिक्षिकाओं के द्वारा परिवार का आधुनिकीकरण करने के लिए विज्ञान और प्रौद्योगिकी का प्रयोग करना चाहिए, जिससे कि परिवारों में चैतन्यता, जागरूक हो सकें और स्वतंत्र विचार पनप सकें।

जनपद के ब्लाकों का मूल्यांकन करने पर महिला शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि में पारदर्शिता स्पष्ट नहीं दिखलाई पड़ती है। भिन्न–भिन्न ब्लाकों की महिला शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि भिन्न है। पृष्ठभूमि के निर्माण में सांस्कृतिक गतिविधियों का महत्वपूर्ण योगदान होता है क्योंकि समाज के विकास में सांस्कृतिक पहलुओं का महत्वपूर्ण योगदान रहता है। जनपद जालौन की प्राथमिक महिला शिक्षिकाओं की पारिवारिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि उत्तर प्रदेश के अन्य जनपदों से भिन्न है। सामाजिक मूल्य और संस्कारों का अभाव है। सामाजिक मूल्यों का दिन प्रतिदिन ह्रास होता जा रहा है। जनपद की पारिवारिक, सामाजिक और आर्थिक पृष्ठभूमि प्रान्त के अन्य जिलों से भिन्न है। आर्थिक स्थिति के आधार पर मूल्यांकन करने पर देखें तो जनपद जालौन की स्थिति बुन्देलखण्ड के सभी जिलों से बेहतर एवं अच्छी है। जनपद के सभी परिवारों में पारिवारिक सम्पन्नता है। कुछ जातियों के पास अधिक जमीन है जिस कारण इनका पारिवारिक और सामाजिक स्तर उच्चकोटि का है।

महिला शिक्षिकाओं के द्वारा पारिवारिक, सामाजिक और आर्थिक विभिन्नताओं को एकता की श्रेणी में पिरोया जा सकता है। जिससे कि महिला शिक्षिकाओं का जीवन सुखमय एवं समृद्ध होता है। प्राथमिक महिला शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि में सामाजिक, पारिवारिक और आर्थिक कारकों की प्रमुख भूमिका होती है जिसका कि महिला शिक्षिकाओं को विभिन्न स्तरों पर सामना करना पड़ता है। जिस कारण उन्हें विभिन्न प्रकार की नकारात्मक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। जिससे उनके पारिवारिक जीवन मे तरह–तरह की बाधाएं उत्पन्न होती हैं।

पृष्ठभूमि में क्षेत्र की भौगोलिक परिस्थिति का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। जिसके अनुसार हमारे सोच–विचार, आदतों का निर्माण होता है, अतः इन सभी परस्थितियों के आधार पर हम प्राथमिक महिला शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि का मूल्यांकन करते हैं।

पूर्व माध्यमिक शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि

पूर्व माध्यमिक शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि का मूल्यांकन सामाजिक एवं पारिवारिक भूमिकाओं पर केन्द्रित रहता है। क्योंकि समाज तथा परिवार पर ही व्यक्ति की समस्त सामाजिक क्रियाएं निर्भर करती हैं। परिवार तथा समाज ही वह स्थान है जिसमें उनके व्यक्तित्व का विकास होता है जिसके अनुरूप उनका आचरण तथा व्यवहार विकसित होता है। जो कि उनकी सामाजिक तथा पारिवारिक पृष्ठभूमि का मूल्यांकन करने में महत्वपूर्ण होता है।

यदि शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि उच्चकोटि की है तो उसका प्रभाव विद्यार्थियों के जीवन पर पड़ता है जिससे कि विद्यार्थी का क्रमोत्तर विकास होता रहता है। इसमें शिक्षिकाओं का महत्वपूर्ण योगदान होता है। पृष्ठभूमि के मूल्यांकन में सामाजिक तथा पारिवारिक परिवेश में उस क्षेत्र की भौगोलिक परिस्थितियों का भी विशेष प्रभाव पड़ता है। जिस क्षेत्र में वह निवास करती हैं क्योंकि भौगोलिक स्थिति का व्यक्ति के ऊपर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। जिसके परिवेश में उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है जो कि समाज तथा राष्ट्र के लिए महत्वपूर्ण है। पृष्ठभूमि के मूल्यांकन में हम उन बिन्दुओं पर भी विचार करते हैं, जिसके परिवेश में हमारी सांस्कृतिक परम्पराओं का विकास होता है। पूर्व माध्यमिक महिला शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि में सामाजिक तथा सांस्कृतिक परम्पराओं का प्रमुख स्थान होता है। जो उनकी परिधि को ज्योतिर्मय एवं सारगर्भित बनाती है।

शिक्षिकाओं को पारिवारिक कुप्रथाओं एवं कुरीतियों का विरोध करना चाहिए जिससे कि उनका सामाजिक, पारिवारिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक विकास हो सके जनपद जालौन में पूर्व माध्यमिक महिला शिक्षिकाओं के द्वारा पारिवारिक पृष्ठभूमि को जनतंत्रीय व्यवस्था की नींव पर खड़ा करना चाहिए। जिससे कि विद्यार्थियों का क्रमोत्तर विकास हो सके और वह अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सकें।

जब हम जनपद जालौन के परिवारों की पारिवारिक रूपरेखा का अध्ययन करते हैं तो हमे यह ज्ञात होता है कि जनपदीय रूपरेखा प्रान्त के अन्य जिलों से काफी भिन्न है। कई बिन्दुओं में दोषपूर्ण संस्कारों से युक्त है। शिक्षित हैं, परन्तु संस्कारित नहीं हैं। परिवारो को नैतिक, चारित्रिक एवं उच्च्च गुणों से युक्त बनाने के लिए महिला शिक्षिकाओं की प्रमुख भूमिका है जो कि उनको हमेशा के लिए प्रेरणा एवं प्रगति के स्तम्भों पर खड़ा कर देगी।

परिवारों को निम्नतम से उच्चतम की ओर ले जाने के लिए महिला शिक्षिकाओं की प्रमुख भूमिका है। परिवार के लोगों में अंतः सम्बन्ध एवं परिवार की भावना को जागृत करने के लिए महिला शिक्षिकाओं का योगदान रहता है।

महिला शिक्षिकाएं विद्यार्थियों के चेतन को जागृत करके उन्हें सूक्ष्म तथा स्थूल आत्मज्ञान की ओर अग्रसर कराती हैं तथा विद्यर्थी जीवन को उपयोगितावाद तथा मौलिकतावाद के माध्यम से जीवन को सार्थक बनाती हैं।

सामाजिक अंधविश्वासों को दूर करने के लिए महिला शिक्षिकाओं को अग्रसारी की अहम भूमिका निभाना चाहिए जिससे कि विद्यार्थियों मे सामाजिक कर्तव्यों एवं मूल्यों के प्रति चैतन्यता के बीजों का रोपण किया जा सके। सामाजिक विषमता को समता एवं समतुल्यता में परिवर्तित किया जा सके। जनपद जालौन में सामाजिक कुरीतियों एवं परम्पराओं को दूर करने में पूर्व माध्यमिक महिला शिक्षिकाओं को सार्थक प्रयास करना चाहिए जिससे कि लोग अपनी अभिवृत्तियों, अभिरूचियों एवं आवश्यकताओं के अनुसार सामाजिक परिप्रेक्ष्य की गरिमा को तैयार कर सकें तथा अपने जीवन को प्रकाशमयी बना सकें। पूर्व माध्यमिक महिला शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि अखण्ड एवं बौद्धिक योग्यता से परिपूर्ण होनी चाहिए। जिससे पारिवारिक एवं सामाजिक मानदण्डों का अत्यधिक विकास किया जा सके।

आर्थिक नियोजन जिलों के सभी ब्लाकों एवं ग्रामों में सही होना चाहिए। महिला शिक्षिकाएं अपने सुझावकारी प्रयासों से आर्थिक विषमताओं एवं समस्याओं

का निराकरण कर सकतीं हैं। आर्थिक स्तर से पारिवारिक एवं सामाजिक, संख्यात्मक एवं गुणात्मक विचारधाराओं एवं अवधारणाओं को परिपक्वता की ओर ले जाया जा सकता है। आर्थिक स्तर से जीवन पद्धति को प्रगतिशील एवं उद्देश्य पूर्ण जैसे बिन्दुओं को रेखांकित कर सकती हैं।

पूर्व माध्यमिक महिला शिक्षिकाएं अपने ज्ञान क्षेत्र के आधार पर विद्यार्थियों को जीवन, प्रकृति, नैतिकता तथा राष्ट्रनीति जैसे विषयों से परिचित कराती हैं उन्हें विभिन्न यथार्थ उन्मुखी विधाओं से परिचित कराती हैं। जिससे उनका जीवन स्तर उच्चकोटि का बन सके पूर्व माध्यमिक महिला शिक्षिकाएं अपनी सार्थक पृष्ठभूमि से विद्यार्थियों की कोमल भावनाओं का विकास कर उनको स्वावलम्बी बनाने का प्रयास करतीं हैं जिससे उनके अन्दर पायी जाने वाली दुर्बलताओं का उन्मूलन किया जा सके और उनके अन्दर प्रकाशमयी भावना को प्रज्जवलित किया जा सके। महिला शिक्षिकाएं विद्यार्थी जीवन को व्यवस्थित कर सकतीं हैं। जिससे उनका पारिवारिक, सामाजिक तथा आर्थिक पक्ष मजबूत और दृढ़ हो सके।

पूर्व माध्यमिक महिला शिक्षिकाओं के सहयोग से विद्यार्थियों का वर्तमान तथा भविष्य के जीवन चक्र का निर्माण होता है समस्त जीवन की आधार शिलाएं हमेशा सर्वकालीन एवं सर्वदेशिक होती हैं जिससे उनमें ज्ञान के प्रति चेतना जागृत हो।

महिला शिक्षिकाओं को विद्यार्थियों की चेतना जागृत करने के लिए ऐसी युक्तिसंगत तकनीक अपनानी चाहिए जो मनोवैज्ञानिक रूप से विद्यार्थियों की रूचि के अनुसार उनके विकास में सहायक हो। महिला शिक्षिकाओं को विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान करने में सदैव मातृ भाषा का प्रयोग करना चाहिए क्योंकि विद्यार्थी की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति उसकी मातृभाष के माध्यम से होती है इसका प्रभाव विद्यार्थियों के मन व मस्तिष्क पर पड़ता है। ऐसे ही विचार प्रख्यात शिक्षाविद् व दार्शनिक गुरुवर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी व्यक्त किए हैं।

माध्यमिक शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि

शिक्षा एक जीवन पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति बचपन से लेकर मृत्यु तक कुछ–न–कुछ अवश्य सीखता रहता है। शिक्षा के क्षेत्र में माध्यमिक शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि का अध्ययन सामाजिक, पारिवारिक एवं सांस्कृतिक भूमिकाओं पर केन्द्रित रहता है। माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में महिला शिक्षिकाओं की अपनी विशेष व्यक्तिगत समस्याएं होती हैं जिसके परिवेश में उनकी पृष्ठभूमि का अध्ययन किया जाता है। जिसके अनुरूप उनका व्यवहार तथा अन्य सामाजिक क्रियाएं विकसित होती हैं, जो कि उनकी पृष्ठभूमि का मूल्यांकन करने में सहायता प्रदान करतीं हैं। माध्यमिक शिक्षिकाओं का विद्यार्थियों के जीवन निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान होता है जिसके द्वारा विद्यार्थी के व्यक्तित्व का विकास होता है और वह शिक्षा के माध्यम से उच्चतम शिखर पर पहुंचता है। माध्यमिक शिक्षा केवल चेतनशील ही नहीं वरन उपयोगी भी है।

माध्यमिक महिला शिक्षिकाओं का दर्शन क्रियात्मक तथा आदर्शों पर स्थापित होना चाहिए जिससे वह विद्यार्थियो को अच्छे नागरिक के रूप में तैयार कर सकें। क्योंकि अच्छे नागरिक राष्ट्र तथा राज्य के स्तम्भ होते है। जनपद जालौन में प्रत्येक माध्यमिक महिला शिक्षिकाओं को ऐसी पृष्ठभूमि को तैयार करना चाहिए जिनसे उनमें चैतन्यता तथा सक्रियता जैसे गुणों का विकास हो सके। शिक्षिकाओं तथा विद्यार्थियों के बीच में अच्छा सम्मानीय सामंजस्य स्थापित हो जिससे एक आदर्श व्यक्तित्व एवं आदर्श नागरिक के रूप में जीवन को सफल बना सकें। शिक्षिकाओं का कर्तव्य माँ की तरह होता है इसलिए उन्हें विद्यार्थियों को प्रेम की शिक्षा भी देनी चाहिए जिसके परिणाम स्वरूप बालक परिवार समाज, देश तथा विश्व से प्रेम करने लगता है।

शिक्षिकाओं के द्वारा तैयार किया गया वातावरण विद्यार्थियों में मानसिक और भावनात्मक प्रकृति का निर्माण करता है। शिक्षिकाओं के द्वारा विद्यार्थियों में

पारिवारिक तथा सामाजिक निःस्वार्थ की भावना उत्पन्न करनी चाहिए। जनपद के ब्लाकों एवं ग्रामों में महिला शिक्षिकाओं के द्वारा बनाई गई शैक्षणिक पृष्ठभूमि प्रशंसनीय एवं अनुसरणीय है वह विद्यार्थियों की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि के आधार पर उन्हें आधुनिक प्रगतिशील एवं विवेकशील बनाती है। वह व्यापक अर्थ में विद्यार्थियों के सम्पूर्ण वातावरण को आकर्षक और शैक्षणिक बनाती हैं।

जनपद के कई ग्रामों में महिला शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि का सम्बंध आध्यात्मिक एवं चारित्रिक विकास से भी है। वह परिवार, समाज तथा देश के लिए गौरव की बात है। क्योंकि उन्हीं के द्वारा व्यक्ति सम्बंधी उद्देश्य, परिवार सम्बंधी उद्देश्य, समाज सम्बन्धी उद्देश्य एवं राष्ट्र सम्बंधी उद्देश्य का क्रियान्वयन होता है। महिला शिक्षिकाओं के द्वारा विद्यार्थियों में सामाजिक वातावरण से सामंजस्य स्थापित करना तथा उसके अनुकूल जीवन–पद्धति का विकास करने की शिक्षा देना चाहिए। जिससे वह समाज के एक अच्छे नागरिक बन सकें। पारिवारिक एवं सामाजिक वातावरण के द्वारा जीवन में प्रगति एवं सफलता को प्राप्त किया जा सकता है। इस कार्य में विद्यार्थी अपने ज्ञान व विवेक की शक्ति का उपयोग कर अयोग्यता से योग्यता की ओर अग्रसर होता है।

महिला शिक्षिकाओं के द्वारा विद्यार्थियों को स्वस्थ्य वातावरण प्रदान करना चाहिए जिससे विद्यार्थी अपने उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए जीवन में प्रगति और सफलता प्राप्त कर सकें। शिक्षिकाओं को विद्यार्थियों के जीवन में विशेष महत्व प्रदान करना चाहिए क्योंकि विद्यार्थी के सर्वांगींण विकास से ही समाज तथा राष्ट्र का भविष्य उज्जवल होता है और वह अपने जीवन में उच्चतम शिखर की प्राप्ति करता है।

माध्यमिक शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि के संदर्भ में वुड–डिस्पैच का विशेष महत्व है। वुड डिस्पैच ने माध्यमिक शिक्षा के लिए नींव का कार्य किया है। राष्ट्रीय प्रवृत्तियों का उद्भव, शिक्षा का माध्यम तथा माध्यमिक विद्यालयों का नियंत्रण

भी पृष्ठभूमि तैयार करने में विशेष भूमिका अदा करता है। माध्यमिक महिला शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि प्राथमिक विद्यालयों की शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि से अधिक विचारणीय मित्तव्ययी, नवीनीकरण तथा उच्चीकरण पर आधारित होती है। माध्यमिक शिक्षा की सफलता उसके उद्देश्य आधारित पाठ्यक्रम पर निर्भर करती है। महिला शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि में नए रूप में प्रस्तुति, अवधि तथा प्रकृति अधिकाधिक प्रभावशाली शिक्षण पद्धति तथा तर्कशक्ति के विस्तार पर अधिक से अधिक गुणात्मक तथ्यों को प्रोत्साहित करना चाहिए।

महिला शिक्षिकाएं विद्यार्थियों के सामाजिक विकास में सहायक होती हैं। वह विद्यार्थियों के मन तथा मष्तिष्क का पूर्ण विकास कर भावी राष्ट्र के निर्माता के रूप में निर्माण करतीं हैं। माध्यमिक महिला शिक्षिकाओं की हमेशा प्रगतिवादी विचारधारा होनी चाहिए जो कि छात्र एवं छात्राओं के जीवन को प्रगतिशील एवं जीवन के प्रतिमानों का प्रतिनिधित्व करके मानसिक मनोवृत्तियों का प्रत्यक्षीकरण करती हैं। विद्यार्थियों की मनोवृत्तियां कर्ता–कर्म से सम्बंध रखती हैं।

माध्यमिक महिला शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि में विशिष्टता, आकर्षण, सौम्यता, गम्भीरता एवं पक्षपात रहितता के सिद्धान्तों पर केन्द्रित होना चाहिए। महिला शिक्षिकाएं अपने छात्र एवं छात्राओं को निश्चित पथ–प्रदर्शन देकर उनमे नई योग्यताओं तथा कुशलताओं का निर्धारण करती हैं। महिला शिक्षिकाओं के द्वारा विद्यार्थियों में संरचनात्मक प्रवृत्ति का जन्म होता है, जिससे उनके दृष्टिकोंण, पृष्ठभूमि, मूल्य, स्थिति, विश्वास, ज्ञान एवं स्मृति और चित्तवृत्ति का विकास होता रहता है। महिला शिक्षिकाओं के द्वारा उत्कृष्ट एवं अनुपम पृष्ठभूमि बड़ी ही हितकारी एवं उपयोगी होती है।

महिला शिक्षिकाओं का वास्तविक त्याग विद्यार्थियों में एकता तथा समरूपता स्थापित करता है जिसमें मनोवृत्ति की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। क्योंकि प्रत्येक क्रिया का प्रारम्भ ज्ञानात्मक प्रक्रिया से होता है। अतः विद्यार्थियों के विकास के लिए शैक्षणिक पृष्ठभूमि ज्ञान की कुंजी होती है।

माध्यमिक महिला शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि में आदर्शवाद का दार्शनिक दृष्टिकोंण अवश्य होना चाहिए। आदर्शवाद की पृष्ठभूमि में हमेशा जीवन के मानदण्डों एवं मापदण्डों पर उसके स्तम्भों को खड़ाकर विद्यार्थियों के जीवन को गतिशील एवं गत्यात्मक बनाना चाहिए। आदर्शवाद के द्वारा व्यक्तित्व, जीवन के पहलू, सत्य ज्ञान तथा तप का आभास कराते हैं। जिससे विद्यार्थियों के जीवन की पृष्ठभूमि की दिशा और दशा का विकास हो सके। महिला शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि में विद्यार्थियों को घर या परिवार में सहयोग तथा सामाजिक जीवन में सम्पर्क बढ़ाने के लिए सहभागिता के बिन्दुओं एवं विचारों को संरक्षण देकर उनको गौरवमयी बनाना चाहिए। माध्यमिक शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि में हमेशा छात्रों में विनय, अनुशासन, शिष्टता, कर्तव्य परायणता व सदाचार आदि का विकास करके उनको विकासवादी तथा आत्मबोध सम्बंधी विचारों से परिपूर्ण करना चाहिए। आधुनिक समय में विद्यार्थियों को विवेकपूर्ण और ज्ञानपूर्ण मार्ग प्रदान कर उनके भविष्य को विकसित करना चाहिए। पृष्ठभूमि के द्वारा विद्यार्थियों के जीवन को गहराई गम्भीरता और सौम्यता जैसे बिन्दुओं पर केन्द्रित करना चाहिए। शिक्षिकाओं का कर्तव्य है कि वे विद्यार्थियों में कार्य करने की इच्छा उत्पन्न करें और उन पर उसको करने के लिए किसी प्रकार का बल प्रयोग नहीं करना चाहिये। ऐसी दशा में ही मार्गदर्शन को सफल माना जाता है। माध्यमिक शिक्षिकाओं के द्वारा अपने ज्ञान क्षेत्र के आधार पर विद्यार्थियों को जीवन, प्रकृति तथा नैतिकता जैसे विषयों से परिचित कराना चाहिए। जिससे उनका जीवन उच्चकोटि का बन सके, महिला शिक्षिकाएं अपनी सार्थक पृष्ठभूमि के माध्यम से विद्यार्थियों के अन्दर पाई जाने वाली दुर्बलताओं का उन्मूलन कर सकती हैं, और प्रकाशमयी भावना को विकसित कर सकतीं हैं जिसके द्वारा विद्यार्थी जीवन व्यवस्थित हो जाता है। इस कार्य में महिला शिक्षिकाओं का विशेष योगदान रहता है। महिला शिक्षिकाओं के सहयोग से विद्यार्थियों का वर्तमान तथा भविष्य के जीवन चक्र का निर्माण होता है और वे अपने जीवन में उच्चतम शिखर की ओर अग्रसर होते हैं। जिसके द्वारा समाज तथा राष्ट्र का विकास सम्भव हो सकता है इस कार्य में महिला शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि की बड़ी प्रासंगिकता है। क्योंकि महिला शिक्षिकाओं के द्वारा भावी कर्णधारों का निर्माण किया जाता है। जिसके द्वारा कोई राष्ट्र अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

महाविद्यालयी शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि

महाविद्यालयी शिक्षिकाओं अथवा प्राध्यापिकाओं का व्यवसाय भारतीय नारी के लिए अन्य व्यवसायों की तुलना में सम्मानीय समझा जाता है। शिक्षिकाओं के द्वारा शैक्षणिक पृष्ठभूमि हमेशा उपकारवर्ती सिद्ध होती है। शैक्षणिक पृष्ठभूमि हमेशा सहानुभूतिमय होनी चाहिए। इससे उनके व्यक्तित्व को प्रखरता मिलती है। तथा उनका जीवन सेवा–कार्य में समर्पित हो जाता है। महिला शिक्षिकाओं को सफल एवं कुशल अध्यापन पृष्ठभूमि मे स्थिरता को स्थापित करना चाहिए। शिक्षिकाओं का मानसिक, मनोवैज्ञानिक, शैक्षणिक एवं नैतिक जगत सामान्य स्त्रियों की अपेक्षा संश्लेषित एवं प्रखर होता है। जो कि विद्यार्थी जीवन को सुखमय एवं क्षमताशील बनाती हैं। महिला शिक्षिकाओं के प्रयास एवं प्रभाव द्वारा विद्यार्थी जीवन को उन्नति का मूल मिलता है जिससे उन्नति की तीव्र आंकांक्षा ही नही बल्कि पूर्ण परितृप्ति के साथ जीवन गम्भीर एवं सौम्य बन जाता है। महिला शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि से विद्यार्थियों की अपूर्व प्रतिष्ठा का सृजन होता है जो कि उनकी कार्यकुशलता का परिचायक है।

महाविद्यालयी महिला शिक्षिकाएं अपनी प्रभावकारी धारणा से विद्यार्थियों के समसामयिक जीवन तथा आदर्श को अनुशासनप्रिय बनाती हैं जिससे उनका जीवन आत्मकेन्द्रित हो जाता है। महिला शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि से चारित्रिक सुदृढ़ता और जीवन की सुरक्षात्मक अवधारणाओं का निर्माण होता है।

जनपद जालौन में महाविद्यालयी महिला शिक्षिकाएं अपनी क्षमता, योग्यता, सामर्थता, सार्थकता के आधार पर नवयुवा विद्यार्थियों को मानवीय व्यवहारिकता के बिन्दुओं का सामंजस्यीकरण का पाठ सिखाती हैं। विद्यार्थियों के जीवन में अनुभूति एवं संवेदना का घनिष्ठ सम्बंध है। जिसका कि विद्यार्थियों के जीवन में विशेष महत्व होता है। विद्यार्थियों के पास एक बौद्धिक शक्ति है। इस बौद्धिक शक्ति

के प्रयोग से वह पारिवारिक एवं सामाजिक व्यवस्था और सांस्कृतिक तथा प्रगति को साकार कर सकते हैं। किन्तु जैसे–जैसे वह सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन में भाग लेते हैं। उनकी अनुभव और इच्छाऐं धीरे–धीरे सामन्जस्य करती हैं।

महिला शिक्षिकाओं को विद्यार्थियों के समग्र विकास हेतु नवीनीकरण एवं एकीकरण के सिद्धान्तों पर उनको केन्द्रित करना चाहिए। महाविद्यालयी शिक्षा के लिए शारीरिक आर्थिक, मानसिक एवं नैतिक परिपक्वता होना आवश्यक है। विद्यार्थियों की अपेक्षित और समेक्षित प्रक्रियाओं का पूर्णतः विकास उपयोगितावादी सिद्धांत पर आधारित होना चाहिए। आज पूरे विश्व में शिक्षा के प्रति आकर्षण है। प्रत्येक व्यक्ति यह चाहता है कि वह उच्च शिक्षा प्राप्त कर अपना सामाजिक, आर्थिक स्तर ऊंचा करे। प्राचीन काल से ही उसकी उच्चशिक्षा प्राप्त करने की प्रबल इच्छा रही है। महिला शिक्षिकाओं को पृष्ठभूमि के मानदण्डों में हमेशा शैक्षिक लक्ष्यों की पूर्ति मानववाद के लिए सहिष्णुता और विवेक के लिए साहस तथा सत्य की खोज पर आधारित बिन्दुओं को समेकित करना चाहिए।

शिक्षिकाओं की नौकरी के साथ समाज तथा राष्ट्र का जीवन जुड़ा हुआ है। राष्ट्र की अभिलाषा तथा आकांक्षा जुड़ी है। इसलिए शिक्षिकाओं की महाविद्यालयी सेवा दूसरी अन्य सेवाओं से अलग है। शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि इतनी मजबूत हो जिससे शैक्षिक स्तर पर छात्र एवं छात्राओं का मार्गदर्शन सकारात्मक हो जिसके द्वारा उनमें शिष्ट व्यवहार तथा सामाजिक नीतियों के प्रति समर्पण का मार्ग प्रशस्त हो सकें। शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि में प्रजातांत्रिकता की भावनाा एवं व्यक्तियों के जीवन आवश्यकताओं और आकांक्षाओ से इसका सम्बंध स्थापित करने का प्रयास किया जाये और इस प्रकार इसको सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तन का शक्तिशाली साधन बनाया जा सकता है। पृष्ठभूमि में शाश्वत मूल्यों तथा सत्य की प्रधानता को रखतें हुए विद्यार्थियों को अग्रसारी एवं निश्चयात्मक प्रक्रियाओं से गुजरने के लिए उनको दिशा बताना चाहिए। उनकी दिशा हमेशा

मूल प्रवृत्तियों तथा परिलक्षणों से परिपूर्ण होना चाहिए। आधुनिक समाज में जीवन की उपलब्धियों को प्राप्त करने के लिए पृष्ठभूमि को प्रगतिशील, विकासशील तथा परिवर्तनशीलता जैसे बिन्दुओ पर केन्द्रित होना चाहिए। पृष्ठभूमि के अन्तर्गत सामाजिक तथा पारिवारिक बिन्दुओं पर विशेष रूप से महत्व देना चाहिए। क्योंकि सामाजिक तथा पारिवारिक परिवेश के अर्न्तगत व्यक्ति का पुर्नविकास होता है। शिक्षिकाओं के द्वारा हमेशा विकास की सतत् प्रक्रिया तथा रचनात्मक क्रियाकलापों को आगे बढ़ाना चाहिए।

जनपद जालौन में महाविद्यालयी शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि उन्मुक्त तथा उपयुक्त है। जिसके द्वारा वह विद्यार्थियों में पारिवारिक जागरूकता तथा उत्तरदायित्व करने की भावना में सक्षम हैं। भारतीय सामाजिक परिवेश विभिन्न प्रान्तों तथा जनपदों से अलग–अलग है। आर्थिक नियोजन तथा सांख्यिकी के तथ्यों से प्राप्त विश्लेषण के आधार पर ज्ञात हुआ कि जनपद जालौन की पारिवारिक स्थिति अन्य जनपदों की अपेक्षा अलग है। इस कारण जिले में सम्पन्नता की स्थिति अधिक है। जब हम शिक्षा के बिन्दु पर विचार करते हैं। तो जनपदीय शिक्षा में उन पहलुओं का विश्लेषण करते है। जिसके आधार पर विद्यार्थियों का सर्वांगीण सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक विकास किया जा सके इस कार्य में शिक्षिकाओं की अनुकरणीय भूमिका है। जिसके माध्यम से हम उच्च शिक्षा को प्रगति की ओर ले जा सकते हैं। यदि व्यक्ति की शैक्षणिक स्थिति उच्चकोटि की होगी तो वह अपने राष्ट्र के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है। इस सम्बंध में यह वाक्य प्रासंगिक है कि शिक्षिकाओं के द्वारा समाज में व्याप्त कुरीतियों एवं रूढिवादी परम्पराओं को समाप्त कर अपनी बौद्धिक योग्यता के आधार पर समाज में उच्च सामाजिक मानदण्डों का विकास किया जा सकता है जिससे हमारी संस्कृति का विकास उज्जवल दिशा में होता है और उसी के अनुरूप हमारा आचरण तथा व्यवहार विकसित होता है।

सम्बन्धित निर्देश एवं तुलनात्मक अध्ययन

इस शोध के अन्तर्गत प्राथमिक, पूर्व माध्यमिक, माध्यमिक एवं महाविद्यालयी महिला शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि का तुलनात्मक अध्ययन कर समानता और विभिन्नताओं का मूल्यांकन करना है। उत्तर प्रदेश के जनपद–जालौन की महिला शिक्षिकाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने पर विभिन्न प्रकार के तत्व और पहलू स्पष्ट नजर आते हैं। सम्बन्धित निर्देश एवं तुलनात्मक अध्ययन में विश्लेषणात्मक दृष्टिकोंण तथा संश्लेषणात्मक पर बल दिया जाता है। संश्लेषणात्मक दृष्टिकोंण में क्षेत्र की सामाजिक संरचना, राजनैतिक दर्शन तथा शैक्षिक दर्शन का विशेष महत्व होता है। तुलनात्मक अध्ययन में औपचारिक और अनौपचारिक दोनों प्रकार के शैक्षिक साधनों के महत्व का अध्ययन किया जाता है। महिला शिक्षिकाओं के तुलनात्मक अध्ययन में जनपद जालौन की शिक्षा प्रणाली और संगठन तथा सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक और धार्मिक परिस्थितियों का भी अध्ययन किया जाता है। जनपद जालौन की प्राथमिक, पूर्व माध्यमिक, माध्यमिक एवं महाविद्यालयी महिला शिक्षिकाओं का तुलनात्मक अध्ययन भौगोलिक, सामाजिक, प्राकृतिक, जातीय और भाषिक घटकों पर विशेष तौर से निर्भर करता है। जनपद की भौगोलिक स्थिति अन्य जनपदों से भिन्न है। अतएव यहां का रहन–सहन, सभ्यता, संस्कृति, सामाजिक व्यवस्था का प्रभाव महिला शिक्षिकाओं पर पड़ता है और उसी के अनुरूप उनकी पृष्ठभूमि का निर्माण होता है क्योंकि रहन–सहन, सभ्यता, संस्कृति, सामाजिक व्यवस्था का प्रभाव शिक्षिकाओं के आचरण पर पड़ता है और उसी के अनुरूप हम उनकी पृष्ठभूमि का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं। प्राथमिक, पूर्व माध्यमिक, माध्यमिक एवं महाविद्यालयी महिला शिक्षिकाओं का आर्थिक, पारिवारिक तथा सामजिक जीवन का तुलनात्मक रूप देखने पर काफी भिन्नताओं से परिपूर्ण दिखता है। प्राथमिक महिला शिक्षिकाओं का पारिवारिक रूवरूप काफी भिन्न होता है जबकि पूर्व माध्यमिक, माध्यमिक एवं महाविद्यालयी महिला शिक्षिकाओं की अपेक्षा प्राथमिक महिला शिक्षिकाओं को पारिवारिक विषमताओं का, संकीर्णताओं एवं विसंगतियों का सामना करना पड़ता

है। सामाजिक जीवन भी कई प्रकार की कठिन अनुभूतियों, अव्यवस्थित चित्र, उन्मुक्त मानसिकताओं एवं उत्तरदायित्वों का सामना करना पड़ता है। आर्थिक दृष्टि से प्राथमिक महिला शिक्षिकाएं कमजोर होती हैं उनका व्यवहारिक एवं आर्थिक जीवन पूर्व माध्यमिक, माध्यमिक एवं महाविद्यालयी महिला शिक्षिकाओं से विलकुल भिन्नताओं को प्रदर्शित करता है। प्राथमिक महिला शिक्षिकाओं के पारिवारिक जीवन में मनोहरता, कटुता एवं हृदयगमता का पारस्परिक समागम देखने को मिलता है जबकि अन्य महिला शिक्षिकाओं का (पूर्व माध्यमिक, माध्यमिक एवं महाविद्यालयी) में ऐसा नहीं है। सामाजिक जीवन में भी उनका अलग महत्व है। शहरी एवं ग्रामीण महिला शिक्षिकाओं का सामाजिक जीवन भिन्नता को प्रदर्शित करता है। शहरी प्राथमिक महिला शिक्षिकाओं का सामाजिक जीवन ग्रामीण महिला शिक्षिकाओं एवं पूर्व माध्यमिक, माध्यमिक एवं महाविद्यालयी महिला शिक्षिकाओं से अलग है। ग्रामीण प्राथमिक महिला शिक्षिकाओं का सामाजिक जीवन गरिमा, प्रतिष्ठा एवं गौरव के अनुकूल होता है क्योंकि सामाजिक परिवेश की सोच, आचार–विचार, रीति–रिवाज शहरी परिवेश से अलग होता है। प्राथमिक महिला शिक्षिकाओं का आर्थिक जीवन भी शहरी एवं ग्रामीण शिक्षिकाओं से भिन्नता को प्रदर्शित करता है। शहरी महिला शिक्षिकाएं आधुनिकता के परिवेश को अधिक पसन्द करती हैं जबकि ग्रामीण महिला शिक्षिकाओं का सामाजिक जीवन वहां की मान्यताओं एवं प्रथाओं के अनुकूल होता है। तुलनात्मक अध्ययन करने पर महिला शिक्षिकाओं के विभिन्न पहलुओं का सरलता पूर्वक विश्लेषण किया जा सकता है। प्रस्तुत शोध के अन्तर्गत महिला शिक्षिकाओं का सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन का अध्ययन करना मुख्य पक्ष है और उसी के अनुरूप विश्लेषण किया जाता है जिससे कि विभिन्न कोटि की महिला शिक्षिकाओं का तुलनात्मक अध्ययन सरलता पूर्वक किया जा सके।

पूर्व माध्यमिक महिला शिक्षिकाओं का पारिवारिक जीवन शहरी एवं ग्रामीण महिला शिक्षिकाओं से अलग होता है, उनके पारिवारिक जीवन में कई प्रकार की विषमताएं पायी जाती हैं। जिसके अनुरूप उनकी जीवन शैली एवं जीवन जीने की पद्धति एवं दिनचर्या प्राथमिक महिला शिक्षिकाओं से अलग होती

है। उनके स्वभाव एवं आचरण भी भिन्नता को प्रदर्शित करते हैं। पूर्व माध्यमिक महिला शिक्षिकाओं का स्नायुकेन्द्र सुविकसित होता है अन्य महिला शिक्षिकाओ की अपेक्षा उनका पारिवारिक जीवन भिन्न–भिन्न प्रकार की चुनौतियों एवं कसौटियों से परिपूर्ण होता है। उनके पारिवारिक लक्षण प्राथमिक महिला शिक्षिकाओं (शहरी, ग्रामीण, सरकारी, अर्धसरकारी एवं प्राईवेट) से कम संकीर्ण होता है इनका बौद्धिक स्तर एवं पारिवारिक स्तर अलग–अलग होता है। पूर्व माध्यमिक महिला शिक्षिकाओं का सामाजिक जीवन प्राथमिक, माध्यमिक एवं महाविद्यालयी महिला शिक्षिकाओं से बिलकुल भिन्न होता है। उनकी सोच अन्य महिला शिक्षित वर्ग से भिन्नता का प्रतिनिधित्व करती है। शहरी एवं ग्रामीण पूर्व माध्यमिक महिला शिक्षिकाओं का सामाजिक जीवन समाज की धरातलता पर समरूपता को प्रदर्शित करता है। महिला शिक्षिकाएं परिवार, समाज एवं देश की युग प्रवर्तक होती हैं। पूर्व माध्यमिक महिला शिक्षिकाओं का आर्थिक जीवन प्राथमिक, माध्यमिक एवं महाविद्यालयी महिला शिक्षिकाओं से बिल्कुल भिन्न होता है। इनका आर्थिक जीवन अधिक आधुनिकता से परिपूर्ण होता है। प्राथमिक महिला शिक्षिकाओं की तुलना में सरकारी तथा अर्धसरकारी विद्यालयों की महिला शिक्षिकाओं की आर्थिक आय अधिक होती है। जबकि प्राईवेट महिला शिक्षिकाओं की आय में भिन्नता पाई जाती है इस कारण से पूर्व माध्यमिक महिला शिक्षिकाओं का जीवन स्तर उच्चकोटि का होता है। उनकी आय अर्ध सरकारी महिला शिक्षिकाओं से अधिक होती है। आर्थिक आय के अनुसार ही जीवन शैली एवं जीवन पद्धति प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होती है। तुलनात्मक अध्ययन करने पर महिला शिक्षिकाओं के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोंणों को ज्ञात किया जा सकता है और उसी के अनुरूप उनका विश्लेषण किया जा सकता है। पूर्व माध्यमिक महिला शिक्षिकाओं में प्राथमिक महिला शिक्षिकाओं की तुलना में प्रखरता, विश्वसनीयता और समर्पण की भावना पाई जाती है। उनके पारिवारिक, सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में स्थूलता पाई जाती है। प्राथमिक, पूर्व माध्यमिक, माध्यमिक एवं महाविद्यालयी महिला शिक्षिकाओं का तुलनात्मक अध्ययन एक समग्रता के दृष्टिकोंण को प्रदर्शित करता है। महिला शिक्षिकाओं के पारिवारिक, आर्थिक तथा सामाजिक जीवन का विश्लेषण करने पर विभिन्न पहलू एवं तथ्य स्पष्ट

होते हैं। जिसका विश्लेषण करने पर हम उनके पारिवारिक, आर्थिक तथा सामजिक जीवन का सरलतापूर्वक तुलनात्मक अध्ययन कर निष्कर्ष प्राप्त कर सकते हैं।

माध्यमिक महिला शिक्षिकाओं का परिवारिक जीवन प्राथमिक, पूर्व माध्यमिक एवं महाविद्यालयी महिला शिक्षिकाओं से भिन्न होता है। माध्यमिक महिला शिक्षिकाओं का पारिवारिक जीवन अधिक उन्नतिशील होता है उनकी मानसिक शक्ति तथा पारिवारिक गतिशीलता उनको अधिक मान–सम्मान एवं आदर प्रदान कराती है। उनमें भाव–वोध एवं विचार वोध अन्य महिला शिक्षिकाओं से अलग होता है। तुलनात्मक अध्ययन करने पर विभिन्न कोटि की महिला शिक्षिकाओं के पारिवारिक जीवन का विश्लेषण आसानी से किया जा सकता है। जिसके आधार पर प्राप्त निष्कर्षों में परिशुद्धता रहती है। तुलनात्मक अध्ययन करने पर हमें समाज के विभिन्न सामाजिक पहलुओ का भी अध्ययन करना पड़ता है क्योंकि सामाजिक मान्यताओं के परिवेश में ही व्यक्ति का विकास सम्भव होता है और उसी के अनुरूप व्यक्ति के आचरण के प्रतिमानों का निर्माण होता है।

माध्यमिक महिला शिक्षिकाओं का आर्थिक जीवन, प्राथमिक एव पूर्व माध्यमिक महिला शिक्षिकाओं से बिलकुल भिन्न होता है। ग्रामीण एवं शहरी महिला शिक्षिकाओं के जीवन में काफी भिन्नता पाई जाती है क्योंकि शहरी परिवेश में महिला शिक्षिकाएं आधुनिकता को अधिक पसन्द करती हैं जबकि ग्रामीण परिवेश की महिला शिक्षिकाओं में अपने समाज एवं संस्कृति के प्रति भावना अधिक विद्यमान होती है। माध्यमिक महिला शिक्षिकाओं का पारिवारिक, सामाजिक एवं आर्थिक जीवन प्राथमिक, पूर्व माध्यमिक महिला शिक्षिकाओं से अलग होता है। उनकी सोच, पारिवारिक स्तर, सामाजिक स्तर तथा आर्थिक स्तर महाविद्यालयी शिक्षिकाओं से बिलकुल अलग होता है क्योंकि महाविद्यालयी शिक्षिकाओं का आर्थिक जीवन अधिक मजबूत होता है। जिससे उनकी जीवन शैली अन्य कोटि की महिला शिक्षिकाओं से भिन्न एवं आधुनिकता के परिवेश से परिपूर्ण होती है। समाज की कलात्मक, रचनात्मक, सांस्कृतिक एवं ललितकलाओं से सम्बन्धित सामाजिक कार्यक्रमों में महाविद्यालयी महिला शिक्षिकाओं को बुलाकर उनका मान–सम्मान किया जाता है। वह आर्थिक दृष्टि से अन्य

महिला शिक्षिकाओं से सुदृढ़ होती हैं। जनपद–जालौन में विभिन्न कोटि की (प्राथमिक, पूर्व माध्यमिक, माध्यमिक एवं महाविद्यालयी) महिला शिक्षिकाओं का पारिवारिक, सामाजिक एवं आर्थिक जीवन उत्तर प्रदेश के अन्य जनपदों से भिन्न है। विभिन्न कोटि की महिला शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि का तुलनात्मक अध्ययन समाजशास्त्र के अनुसार एक अनुपमीय एवं अतुलनीय प्रक्रिया है। क्योंकि विभिन्न कोटि की शिक्षिकाओं की कुछ विशेष, व्यक्तिगत, पारिवारिक, शैक्षणिक एवं सामाजिक समस्याएं होती हैं। जिसके अनुरूप उनके वातावरण एवं पृष्ठभूमि का निर्माण होता है।

प्रत्येक राष्ट्र के जीवन में प्राथमिक शिक्षा प्रथम प्राथमिकता की वस्तु है तथा द्वितीय चरण पूर्व माध्यमिक है। यह सफलता प्राप्त करके ही कोई राष्ट्र अपने अभीष्ट लक्ष्य तक पहुंचता है। प्राथमिक एवं पूर्व माध्यमिक शिक्षिकाओं का राष्ट्रीय विचारधारा एवं चरित्र का निर्माण करने में जितना महत्वपूर्ण योगदान है। उतना किसी अन्य शैक्षणिक वर्ग का नहीं है। प्राथमिक, पूर्व माध्यमिक, माध्यमिक एवं महाविद्यालयी महिला शिक्षिकाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने पर रुचियों, योग्यताओं, क्षमताओं तथा आवश्यकताओं के परीक्षण में काफी भिन्नता पाई जाती है। विभिन्न कोटि की शिक्षिकाओं का शैक्षिक परिवेश अलग–अलग प्रकार का होता है जिसके परिवेश में शिक्षिकाओं के सामाजिक, आर्थिक तथा पारिवारिक भूमिकाओं का निर्माण होता है। प्राथमिक शिक्षिकाओं से लेकर महाविद्यालयी शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि सहयोग, सहानुभूति और पारस्परिक सद्भाव पर आधारित होना चाहिए। माध्यमिक एवं महाविद्यालयी शिक्षिकाओं का तुलनात्मक अध्ययन एक नवीनता और समग्रता को प्रस्तुत करता है। माध्यमिक तथा महाविद्यालयी शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि में काफी भिन्नताएं हैं। तुलनात्मक अध्ययन में कुछ घटनाओं की पारस्परिक तुलना प्रस्तुत की जाती है। इस सम्बन्ध में गिन्सबर्ग लिखते हैं, "तुलनात्मक अध्ययन का कार्य केवल कुछ घटनाओं की तुलना करना ही नहीं है वरन तुलना के द्वारा उनकी व्याख्या करना ही है।" हर्षकोविटस ने तुलनात्मक अध्ययन को स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा हम विभिन्न कोटि की शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि का मूल्यांकन तथा विश्लेषण, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक परिवेश में कर सकते है।

तृतीय अध्याय

1- महिला शिक्षिकाओं की सामाजिक एवं पारिवारिक समस्याएं

2- शिक्षा प्रणाली तथा दृष्टिकोंण

3- सामाजिक एवं पारिवारिक अनुसंधान (जनपद जालौन के विशेष संदर्भ में)

4- शिक्षिकाओं के पारस्परिक विकास एवं परिस्थितियां

महिला शिक्षिकाओं की सामाजिक एवं पारिवारिक समस्याएं

सामाजिक समस्याएं-

महिला शिक्षिकाओं की सामाजिक समस्याएं अपने आप में तर्क संगत तथा गंभीर विषय है। सामाजिक समस्याओं के द्वारा महिला शिक्षिकाओं को विभिन्न प्रकार के अवरोध, संघर्ष एवं बाधाओं का सामना करना पड़ता है। जिस कारण महिला शिक्षिकाएं अपने पूर्ण व्यक्तित्व एवं लगनशीलता को प्रदर्शित नहीं कर पातीं। प्राथमिक महिला शिक्षिकाओं से लेकर महाविद्यालयी महिला शिक्षिकाओं की सामाजिक समस्याएं अलग–अलग हैं। सरकारी, अर्धसरकारी एवं प्राईवेट विद्यालयों की महिला शिक्षिकाओं की सामाजिक समस्या भी अलग–अलग है। सामाजिक समस्याएं अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन दोनों प्रकार की होती हैं। अल्पकालीन सामाजिक समस्याएं कुछ समय के लिए होती हैं जबकि दीर्घकालीन सामाजिक समस्याएं अधिक अवरोधक एवं दुःखदायी होती हैं, सामाजिक समस्याएं क्षेत्रीयता, सामाजिकता, धार्मिकता तथा जातीयता पर निर्भर करती हैं।

सामाजिक समस्याएं, पारिवारिक तथा व्यक्तिगत भी होती हैं। जो कि महिला शिक्षिकाओं को प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती हैं। सामाजिक समस्याओं के द्वारा महिला शिक्षिकाओं का पूर्णरूप से व्यक्तिगत विकास नहीं हो पाता है। सामाजिक समस्याओ के कारण महिला शिक्षिकाएं नवाचार तथा आधुनिक प्रवृत्तियों को अपनाने में संकोच करती हैं। जिससे उनके विकास में संकीर्णता के आयाम दिखलाई पड़ते हैं। सामाजिक समस्याएं सांस्कृतिक, मौलिक, नैतिक, शैक्षणिक विकास में बाधक होती हैं। सामाजिक समस्याओं के कारण से महिला शिक्षिकाएं उचित एवं सही, सार्थक एवं क्रियाशील सिद्धान्तों को ईमानदारी एवं कर्तव्यनिष्ठता के साथ नहीं अपना पाती हैं। सामाजिक समस्याएं प्रगति एवं विकास में अवरोध खड़ा कर देती हैं। सामाजिक समस्याएं भिन्न–भिन्न प्रकार की परिस्थितियों, कर्तव्यों, अधिकारों, दायित्वों का निर्वाह करने में अवरोध उत्पन्न करती हैं।

महिला शिक्षिकाओं की सामाजिक समस्याओं के कारण से मानवीय मानदण्डों, मानवीय मूल्यों एवं प्रजातांत्रिक मूल्यों के लिए सार्थकता एवं सकारात्मक दृष्टिकोंण पर खरी नहीं उतरती हैं। सामाजिक समस्याओं की पृष्ठभूमि, दृष्टिकोंण एवं निरपेक्षता में सामंजस्य को रखना बड़ा कठिन है। क्योंकि इसके लिए प्रत्येक महिला शिक्षक को विषमता को समाप्त कर समता की नीति को अपनाना पड़ेगा। महिला शिक्षिकाएं सामाजिक समस्याओं के प्रतिकूल एवं अनुकूल परिस्थितियों में सार्थकता के संकेतांकों को धारण किए रहती हैं। जिससे सामाजिक समस्याएं जीवन को गतिशील एवं गत्यात्मक बनाने में अवरोध खड़ा न करें।

सामाजिक पिछड़ापन एवं सामाजिक संकीर्णता से सामाजिक समस्याएं बनती हैं। सामाजिक समस्याएं हमेशा व्यर्थ के मानसिक तनाव, मानसिक पीड़ा तथा सामाजिक प्रतिष्ठा एवं गरिमा को कम करती हैं। सामाजिक समस्याएं सतत् एवं व्यापक मूल्यांकन को रोकती हैं जिससे शिक्षिकाएं जीवन पर्यन्त एकरूपता तथा समरूपता जैसे सिद्धान्तों को अपनाने में असमर्थता स्पष्ट करती हैं। सामाजिक समस्याओं के कारण से मूलभूत समानता को स्पष्ट रूप से नहीं अपना पाती हैं क्योंकि सामाजिक समस्याओं का स्तरीकरण होता है प्रत्येक स्तर तथा स्थिति पर सामाजिक समस्याओं के विभिन्न प्रकार के रूप एवं स्थिति का पटाक्षेप करती हैं। सामाजिक समस्याओं के कारण मानसिक पिछड़ापन, बौद्धिक पिछड़ापन एवं सांस्कृतिक पिछ़ड़ेपन को रूप देती हैं। जिस कारण महिला शिक्षिकाओं को पूर्ण स्वतंत्रता एवं खुलेपन से जूझना पड़ता है। महिला शिक्षिकाएं समस्याओं के कारण से विभिन्न प्रकार के विकास एवं आयामों से वंचित रह जाती हैं। वह उन्नति एवं विकास करना चाहती हैं परन्तु समस्याओं के कारण प्रतिकूल परिस्थितियां स्वतंत्र रूप से कार्य नहीं करने देती हैं।

सामाजिक समस्याएं सम्पत्ति, धन, आय, परिवार, नातेदारी, निवास की स्थिति, निवास स्थान की अवधि, व्यवसाय की प्रकृति, शिक्षा, धर्म एवं विकास के लिए बाधक होती हैं। क्योंकि समस्याओं का निर्माण समाज एवं व्यक्ति ही

करता है। समस्याओं को सुलझाने के लिए प्रकृति ने विवेक एवं ज्ञान दिया है। सामाजिक समस्याएं महिला शिक्षिकाओं को पूर्ण आजादी से नहीं रहने देती हैं। उनके साथ बहुत से प्रतिबन्ध लगा देती हैं जो उनको मानसिक रूप से कुंठित कर देती हैं। सामाजिक समस्याएं पुरुष शिक्षकों की अपेक्षा महिला शिक्षिकाओं के विकास में अधिक बाधक होती हैं। महिला शिक्षिकाओं को सामाजिक समस्याएं सीमित कर देती हैं एवं वे पूर्णरूप से विभिन्न स्थानों का अवलोकन एवं विश्लेषण नहीं कर पातीं हैं, जिस कारण से शिक्षिकाओं के ऊपर समस्याओं का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। प्रत्येक समाज में सामाजिक समस्याएं भिन्न–भिन्न होती हैं किन्तु सभी समाजों में इसके प्रकारों या स्वरूपों में भिन्नता पाई जाती है जो कि महिला शिक्षिकाओं को चेतन तथा अचेतन समस्याओं, संस्कारों एवं धार्मिक विश्वासों के सामने खड़ा कर देती हैं। सामाजिक समस्याएं तनाव, संघर्ष, विषयगामी प्रवृत्तियों को जन्म देती हैं जिस कारण से महिला शिक्षिकाओं को समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

सामाजिक समस्याओं के द्वारा संकीर्णताएं, कुन्ठाएं, सीमितता एवं केन्द्रीयता का जन्म होता है। सामाजिक समस्याओं में तेजी से परिवर्तन आता है, जो कि समाज को पृथक–पृथक समूहों में बांट देता है। सामाजिक समस्याओं के द्वारा सामाजिक मूल्यों और व्यक्तिगत मूल्यों में भी काफी परिवर्तन आ जाता है।

महिला शिक्षिकाओं को दो प्रकार से सामाजिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है– नकारात्मक पद्धति में कानून कुछ कार्यों को करने के लिए मना करता है और ऐसा न करने पर दण्ड की व्यवस्था करता है। सकारात्मक पद्धति में कुछ कार्यों को करने का निर्देश दिया जाता है तथा उसके लिए पुरस्कार, पदक, प्रमाणपत्र आदि की व्यवस्था की जाती है।

सामाजिक समस्याएं व्यक्तित्व, सामाजिक जीवन, आर्थिक जीवन, राजनैतिक जीवन एवं मौलिक अधिकारों पर प्रभाव डालती हैं जो शिक्षिकाओं के

सामान्य जीवन को प्रभावित करती हैं तथा जीवन के लिए चुनौती एवं कसौटी बन जाती हैं महिला शिक्षिकाओं का अपना सीमित उत्तरदायित्व एवं जीवन पद्धति होती है। सामाजिक समस्याएं प्रगति में बाधक होती हैं। उनमें सामाजिक उद्‌भव, प्रगति, विकास प्रमुख हैं। परिवर्तन एक तटस्थ क्रिया है। सामाजिक समस्याएं अच्छी एवं बुरी दो रूपों में हो सकती हैं। जो समस्याएं कभी रूढ़िवादी रही होंगी वे आज खत्म कर दी गईं। जो महिला शिक्षिकाओं के जीवन में बाधक थीं। परन्तु आज की समस्याएं सामाजिक परिवर्तन से सम्बन्धित हैं।

सामाजिक समस्याएं प्रतिस्पर्धा या प्रतियोगिता को जन्म देती हैं। इसका कारण यह है कि प्रतिस्पर्धा में कम या अधिक मात्रा में एक–दूसरे के प्रति कुछ ईर्ष्या–द्वेष के भाव पाए जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे को पीछे करके स्वयं आगे बढ़ना चाहता है।[1]

सामाजिक समस्याएं समाज का खण्डात्मक विभाजन करती हैं। समस्याओं का प्रभाव महिला शिक्षिकाओं को मनोवृत्ति रूप से अन्तः–विक्षिप्त कर देता है। सामाजिक समस्याएं आन्तरिक तथा बाह्य व्यवहार में बाधक होती हैं। ग्रामीण महिला शिक्षिकाओं एवं शहरी महिला शिक्षिकाओं की सामाजिक समस्याएं भिन्न–भिन्न होती हैं। इसी प्रकार से प्राथमिक, पूर्व माध्यमिक, माध्यमिक एवं महाविद्यालीय महिला शिक्षिकाओं की सामाजिक समस्याएं भिन्न–भिन्न होती हैं।

महिला शिक्षिकाओं को ग्रामीण सामाजिक समस्याओं से भी गुजरना पड़ता है। जो कि रूढ़िवादिता एवं पिछड़ेपन का प्रतीक है। शहरी सामाजिक समस्याओं का स्वरूप ग्रामीण सामाजिक समस्याओं से भिन्न होता है। पर्दा–प्रथा का सामना करना पड़ता है। महिला शिक्षिकाओं के परिवारों के सदस्य यदि शिक्षित हैं तो सामाजिक समस्याएं कम होंगी। यदि अशिक्षित हैं तो विभिन्न प्रकार की

1– प्रो0 एम0 एल0 गुप्ता एवं डा0 डी0 डी0 शर्मा, "सामाजिक नियंत्रण तथा परिवर्तन", पृष्ठ संख्या–233। साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।

जटिल समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

महिला शिक्षिकाओं के लिए सामाजिक समस्याएं एक कुप्रथा को जन्म देती हैं जिनका प्रभाव आधुनिक एवं वैज्ञानिक प्रवृत्तियों पर पड़ता है। सामाजिक समस्याओं के द्वारा ग्रामीण महिला शिक्षिकाएं शहरी सभ्यता से पूर्ण रूप से परिचित नहीं हो पाती हैं और उनका ज्ञान अपूर्ण ही रहता है।

'''मानव और पशु समाज में मौलिक भेद संस्कृति का ही है। मानव के पास ही कला, धर्म, साहित्य, प्रथाएं, परम्पराएं, ज्ञान–विज्ञान, आचार–विचार, दर्शन, मूल एवं आदर्श पाए जाते हैं। पशु समाज के पास कोई संस्कृति नहीं पाई जाती है। पशु समाज के पास कोई समस्याएं नहीं होती है। महिला शिक्षिकाओं के पास सामाजिक, पारिवारिक, व्यक्तिगत समस्याएं होती हैं। समस्याएं पशुओं की अपेक्षा मानव की अधिक होती हैं। मानव समस्याओं का समाधान कर सकता है। जिस कारण से वह अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है और राष्ट्र की समृद्धि में योगदान दे सकता है।''1

पारिवारिक समस्याएं–

''प्राणीशास्त्रीय सम्बंधों के आधार पर बने समूहों में परिवार सबसे छोटी इकाई है। अनेक समाजशास्त्रियों का मत है कि परिवार समाज रूपी भवन के कोने का पत्थर है। यह सामाजिक संगठन की मौलिक इकाई है। एक मनुष्य किसी न किसी परिवार का सदस्य है। परिवार से ही समाज का विस्तार हुआ है और परिवार पर ही समाज का जीवित रहना निर्भर करता है।

परिवार के समाजशास्त्रीय महत्व पर प्रकाश डालते हुए बीसेन्ज और बीसेन्ज ने लिखा है–''परिवार मौलिक एवं सार्वभौमिक संस्था है प्रत्येक समाज

1– प्रो0 एम0 एल0 गुप्ता एवं डा0 डी0 डी0 शर्मा, ''समाजशास्त्र'', पृष्ठ संख्या–603 साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।

का जीवित रहना इसी पर आधारित है।"[1]

महिला शिक्षिकाओं की पारिवारिक समस्याएं विकास में बाधक होती हैं। पारिवारिक समस्याओं का जीवन पद्धति पर प्रभाव पड़ता है। समस्याएं सभ्यता के उदय एवं सांस्कृतिक विकास में बाधक होती हैं। पारिवारिक समस्याएं बच्चों के विकास, बच्चों के पालन–पोषण पर प्रभाव डालती हैं जिससे कि बच्चों का समुचित रूप से विकास नहीं हो पाता है। महिला शिक्षिकाओं की पारिवारिक समस्याएं अलग–अलग होती है। यदि परिवार के सभी सदस्य शिक्षित एवं संस्कारित हों तो विकास प्रत्यक्ष एवं तेजी से होगा परन्तु परिवार अशिक्षित होने पर महिला शिक्षिकाओं को कई प्रकार की पारिवारिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

पारिवारिक समस्याएं प्राथमिक, पूर्व माध्यमिक, माध्यमिक एवं महाविद्यालयी शिक्षिकाओं की अलग–अलग होती हैं। पारिवारिक समस्याएं परिवार के सदस्यों द्वारा उत्पन्न की जाती हैं जो शिक्षिकाओं की दिनचर्या पर प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालती हैं। पारिवारिक समस्याएं महिलाओं के विचारों को परिवर्तित कर देती हैं जिसके कारण उनको मानसिक दबाव एवं मानसिक पीड़ा से गुजरना पड़ता है। पारिवारिक समस्याओं का क्षेत्र काफी संकीर्ण एवं नकारात्मक होता है। सामाजिक समस्याओं की अपेक्षा पारिवारिक समस्याएं अधिक घातक होती हैं। पारिवारिक समस्याओं के दौरान महिला शिक्षिकाएं समय से विद्यालय नहीं पहुंच पाती है। क्योंकि पारिवारिक समस्याओं के द्वारा मन एवं मस्तिष्क विचलित हो जाने पर विद्यालय में बच्चों को पढ़ाने में रुचि खत्म हो जाती है। पारिवारिक समस्याएं उन परिवारों में अधिक हैं जहां पर कमाने वाला केवल एक ही व्यक्ति है तथा परिवार के अन्य सदस्य कमाने वाले पर निर्भर हैं। इस कारण से परिवार में कलह एवं अशान्ति बनी रहती है।

महिला शिक्षिकाओं के पति यदि अशिक्षित, अयोग्य तथा बेरोजगार

1– Maciver and page, "Society" (Hindi), p.133

हैं तो पारिवारिक समस्याएं बढ़ती चली जाती हैं जिससे परिवार की शान्ति भंग हो जाती है। कई परिवारों में महिला शिक्षिकाएं हैं, परन्तु पति के पास सम्मानीय पद नहीं है तो उन्हे कई बार अपमानित होना पड़ता है

महिलाओं के माध्यमिक या विश्वविद्यालयी शिक्षिका होने के बावजूद भी पति के पास मासिक आमदनी कम है तो वहां पर अहम् एवं जीवन में घुटन देखी जाती है। यदि माध्यमिक विद्यालयी एवं महाविद्यालयी शिक्षिकाओं की आमदनी अधिक है तो भी आमदनी के आधार पर पारिवारिक रिश्ते बनते एवं बिगड़ते हैं।

पारिवारिक समस्याओं के मुख्य विषय हैं– पति एवं बच्चों का व्यवहार, स्वभाव, आचरण, त्याग, सहयोग की भावना, आलोचना, निन्दा, बुराई करना, धन, रीति–रिवाज, प्रथाएं, रूढ़िवादी परम्पराएं, पारिवारिक कुरीतियां, पिछड़ापन एवं नैतिकता सम्बन्धी दृष्टिकोंण आदि। पारिवारिक समस्याएं महिला शिक्षिकाओं को दुर्बल बना देती हैं जिससे कि वह अपना कार्य करने के लिए पूर्ण रूप से त्यागमयी नहीं हो पाती हैं और वह कोई भी कार्य लगनशीलता एवं समयानुसार नहीं कर पाती हैं। जिन परिवारों में पत्नी शिक्षिका एवं पति व्यवसायी हैं तो विचारों में भिन्नता पाई जाती है। पत्नी महाविद्यालयी शिक्षिका है यदि पति तृतीय या चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी है तो वहां पर भी विचारों में भिन्नता पाई जाती है। महिला शिक्षिकाओं के समक्ष कुछ विपरीत पारिवारिक समस्याएं होती हैं, वहां पर उनको सामंजस्य से ही जीवन व्यतीत करना पड़ता है। महिला शिक्षिकाओ की सोच पुरुष शिक्षकों के विपरीत होती है। महिला शिक्षिकाओं को पुरुष वर्ग पर प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से निर्भर रहना पड़ता है। जनपद के भिन्न–भिन्न परिवारों में पारिवारिक समस्याएं अलग–अलग होती हैं कुछ समस्याएं अशोभनीय होती हैं जिनको दूसरों के समक्ष बताने पर परिवार की मर्यादा एवं अनुशासन भंग होने की संम्भावना होती है जो कि महिला शिक्षिकाओं के समक्ष एक कसौटी के रूप में होती है जिसका कि महिला शिक्षिकाओं को जीवन पर्यन्त सामना करना पड़ता है।

महिला शिक्षिकाओं को नौकरी के अतिरिक्त पारिवारिक संस्कार, पति–पत्नी के सम्बंध में मधुरता, बालकों का पालन–पोषण का दायित्व भी निभाना पड़ता है। पारिवारिक समस्याएं शिक्षा की उत्तरोत्तर प्रगति, प्रगतिशील विचारधारा, व्यक्तिवादिता तथा सामाजिक गतिशीलता में बाधक होती हैं। लेकिन महिला तभी सफल हो सकती है जबकि वह अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक हो। क्योंकि कर्तव्य से श्रेष्ठ मानव जीवन भी नहीं है। जीवन का तभी महत्व है जब कि वह कर्तव्य की कसौटी पर खरा उतरे। यह सत्य है कि पुरुष को अपने कर्तव्यों के प्रति उतना ही जागरूक होना चाहिए जैसा कि वह परिवार के अन्य सदस्यों से आशा करता है।

महिला शिक्षिकाओं की कुछ मौलिक आवश्यकताएं भी होती हैं जो कि उनको पारिवारिक एवं सामाजिक अस्तित्व एवं समस्याओं का ज्ञान कराती हैं। पारिवारिक समस्याओं में विचारो, विश्वासों, ज्ञान एवं भावुकताओं का समावेश होता है। पारिवारिक समस्या हमेशा सामाजिक सम्बंधों को कमजोर करती हैं, जिससे कि पारिवारिक स्थिति का ह्रास होता है। जिसका कि हमारी संस्कृति एवं विचारों पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ता है क्योंकि संस्कृति के परिवेश में व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है। यदि पारिवारिक समस्याओं का इन सभी कारकों पर प्रभाव रहता है तो हमारी सामाजिक व्यवस्था भंग हो जाती है और समाज में स्थापित मानवीय मूल्यों एवं प्रतिमानों का ह्रास होने लगता है। जिससे हमारी पारिवारिक व्यवस्था कमजोर पड़ जाती है और पारिवारिक व्यवस्था के कमजोर पड़ जाने से परिवार तथा समाज में विकृतियां उत्पन्न हो जाती हैं जिससे समाज तथा परिवार प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होता है।

ग्रामीण महिला शिक्षिकाओं की पारिवारिक समस्याएं शहरी महिला शिक्षिकाओं से भिन्न होती हैं। क्योंकि ग्रामीण महिला शिक्षिकाएं एक निश्चित परिवेश में कार्य करती है जिसका कि उनके ऊपर प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से प्रभाव पड़ता है। इस कारण ग्रामीण महिला शिक्षिकाओं की पारिवारिक समस्याएं शहरी

महिला शिक्षिकाओं की अपेक्षा कम होती हैं। समस्याओं के दौरान सभ्यता एवं संस्कृति का विकास मंद गति से होता है जिसका प्रभाव हमारी पारिवारिक जीवन प्रणाली पर पड़ता है।

आज कल अनेक परिवारों को अस्थायित्व की समस्या का सामना करना पड़ता है। जिसका मूल कारण परिवारों में व्याप्त तनाव तथा अशान्ति से है। महिला शिक्षिकाओं को परिवार में संतुलन स्थापित करना, सहयोगी भावना को विकसित करना, सांस्कृतिक निरन्तरता को बनाए रखना एवं परिवार के लोगों में सहयोग की भावना स्थापित करने में प्राथमिकता देनी चाहिए तथा परिवार में दमनात्मक तथा शोषणात्मक नीतियों की उपेक्षा एवं विरोध करना चाहिए।

महिला शिक्षिकाओं के द्वारा पारिवारिक समस्याओं को समाप्त कर आदर्श परिवार बनाने का प्रयास करना चाहिए। यदि परिवार आदर्श है तो समाज भी आदर्श होगा क्योंकि महिला शिक्षिकाएं शिक्षित तथा बुद्धि–जीवी वर्ग में आती हैं। उन्हें समस्याओं की हिंसक प्रवृत्तियों को समाप्त करना चाहिए। परिवार में आदर्श मानदण्डों को स्थापित करना चाहिए। जिससे कि समाज तथा परिवार की उन्नति हो सके।

शिक्षा-प्रणाली तथा दृष्टिकोण

किसी भी देश के राष्ट्रीय जीवन में शिक्षा का बड़ा महत्व है। मानव तथा संस्कृति का भविष्य, शिक्षा के प्रश्न, उद्देश्य तथा स्तर पर निर्भर है। क्योंकि शिक्षा मानव कों संकुचित, नियंत्रित या स्वतंत्र, विकसित, उन्नत और संयमी बना सकती है। मानव के अन्तरतम का विकास शिक्षा के द्वारा ही सम्भव है। शिक्षा के द्वारा हम मानव में विश्वास, अर्न्तदृष्टि, सहयोग आदि या घृणा, अविश्वास, अज्ञानता, असहयोग या द्वेष आदि विकसित कर सकते हैं।

शिक्षा–प्रणाली द्वारा किसी भी देश की नवीन पीढ़ियों का समुचित और संतुलित निर्माण किया जा सकता है। इसी दृष्टि से भारत की पंच–वर्षीय योजनाओं में भी शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। अपने देश की शिक्षा–प्रणाली का ठीक तरह से विकास करने के लिए यह आवश्यक है कि हम दूसरे देशों की शिक्षा प्रणालियों की भी आवश्यक जानकारी प्राप्त करें। हमें एक–दूसरे के अनुभव से लाभ उठाना चाहिए ताकि जो गलतियां दूसरे देशों ने की है वे हम न दोहराएं। यद्यपि हमारे पैर अपनी जमीन पर मजबूत रहने चाहिए। फिर भी हमें किसी भी दूसरे देश के अच्छे अनुभवों से पूरा लाभ उठाने में किसी प्रकार का संकोच नहीं करना चाहिए जैसा कि महात्मा गांधी ने एक वार कहा था, "हमारे देश के नए भवन के दरवाजे और खिड़कियां खुली रहनी चाहिए ताकि चारों ओर से स्वच्छ हवा अन्दर आ सकें और हमें प्रेरणा देती रहे। किन्तु हम यह बर्दाश्त नहीं कर सकते कि बाहर से एक तूफान आए और हमारे भवन की नीव व छत को ही उखाड़ दे। दूसरे देशों के अनुभव के बारे मे हमारा यही बुनियादी दृष्टिकोंण होना चाहिए।"

शिक्षा–प्रणाली राष्ट्रीय जीवन एवं संस्कृति को विकसित करती है और शिक्षा से लोग समृद्ध एवं सुसंस्कृत बनते हैं। अतः किसी भी देश की

शिक्षा–प्रणाली का स्वरूप उसकी सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक और भौगोलिक परिस्थितियों एवं विचारधाराओं के द्वारा निर्धारित किया जाता है।

"किसी भी राष्ट्र के विकास में उस राष्ट्र की संस्कृति विशेष योग देती है। शिक्षा का कर्तव्य है कि वह राष्ट्र की संस्कृति को सुरक्षित रखने, उसका विकास करने और प्रसार करने में योग दे। यदि राष्ट्र के लोग अपनी संस्कृति के प्रति सचेत हैं तो शिक्षा–प्रणाली द्वारा नागरिकों में सांस्कृतिक चेतना लाने का प्रयास वांछनीय है। शिक्षा–प्रणाली का पहला उद्देश सांस्कृतिक चेतना है। अतः राष्ट्र की शिक्षा का पहला उद्देश्य यही होना चाहिए कि वह राष्ट्र के नागरिकों को राष्ट्र की संस्कृति का परिचय देकर उनमें अपनी संस्कृति के प्रति प्रेम पैदा करें। इस प्रकार की चेतना लाते समय इस बात का ध्यान रखना होगा कि राष्ट्र के सभी वर्ग सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से संतुष्ट हो सकें। भारत जैसे देश में विभिन्न प्रकार के धर्म, जातियां, सम्प्रदाय, भाषाएं आदि हैं। उनके विभिन्न परम्पराओं तथा विश्वासों की अवहेलना नहीं होनी चाहिए। भारत में हिन्दू, मुसलमान और ईसाई तीन प्रमुख धार्मिक सम्प्रदाय हैं।"[1]

"भारत एक लोकतांत्रिक और धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र है। यहां सांस्कृतिक चेतना की दृष्टि से ऐसी शिक्षा–प्रणाली होनी चाहिए जो लोगों में राष्ट्रीयता की भावना पैदा करे और सांस्कृतिक चेतना लाए। हमें सांस्कृतिक चेतना प्रधान शिक्षा प्रणाली लागू करनी होगी। जिससे कि हम राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित रहें। यदि हम राष्ट्रीय संस्कृति को एक वृक्ष मान लें तो उसकी शाखाएं उप–संस्कृतियां होंगी। हमें राष्ट्रीय संस्कृति रूपी वृक्ष का पालन–पोषण इस प्रकार करना होगा कि उसकी शाखाएं और उप शाखाएं (उप–संस्कृतियां) भी फलें–फूलें। तभी हमारी शिक्षा–प्रणाली उन्नति कर सकेगी और हम विविधता में एकता लाकर राष्ट्रीय समन्वय

1– प्रो0 सरयू प्रसाद चौबे, "स्वदेश विदेश में शिक्षा", पृष्ठ संख्या–25
विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।

पैदा कर सकेंगे।"[1]

"शिक्षा–प्रणाली राष्ट्र की अर्थव्यवस्था को निर्धारित करने में महत्वपूर्ण योग देती है। दूसरे शब्दों में, "शिक्षा" और "अर्थव्यवस्था" दोनों का आपस में घनिष्ठ सम्बंध है। भारत जैसे विकासशील देश में आज भी शिक्षा–प्रणाली में आत्म निर्भरता का गुण नहीं आ सका है। आज की शिक्षा छात्र को आत्म निर्भर बना कर उसे अपने पैरों पर खड़ा होना नहीं सिखाती, क्योंकि शिक्षा व्यवसाय–प्रधान नहीं है इससे देश में बेरोजगारी की समस्या बढ़ती जा रही है। देश भी आर्थिक दृष्टि से तीव्र विकास नहीं कर रहा है। अच्छी शिक्षा–प्रणाली वही है जो नागरिकों को सुरक्षा प्रदान करती है। जब हम शिक्षा–प्रणाली की बहुमुखी योजना बनाएं तो हमे छात्र–छात्राओं में आत्म–निर्भरता लाने के लिए शिक्षा को व्यवसायिक और उत्पादनशील बनाना चाहिए।"[2]

"शिक्षा–प्रणाली पर देश के शासनतंत्र और सरकार का सीधा प्रभाव पड़ता है। जहाँ जैसा शासनतंत्र और राजनीतिक दर्शन होता है, वहां की शिक्षा–व्यवस्था का स्वरूप भी वैसा ही होता है। भारत में लोकतान्त्रिक समाजवाद है। यहां व्यक्ति को स्वतंत्रता प्राप्त है और प्रजातन्त्र का दृष्टिकोंण पैदा करना शिक्षा का उद्‌देश्य है। शैक्षिक नियोजन में शासन तंत्र और राजनीतिक दर्शन को आधार बनाकर शिक्षा–प्रणाली का विकास करना चाहिए। किसी भी देश के राष्ट्रीय चरित्र में शिक्षा–प्रणाली का महत्वपूर्ण स्थान होता है। शिक्षा राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण का साधन है और साध्य भी है। शिक्षा–प्रणाली राष्ट्र के चरित्र को प्रभावित करती है, राष्ट्रीय चरित्र शिक्षा–प्रणाली को भी प्रभावित करता है।"[3]

1– प्रो० सरयू प्रसाद चौबे, "स्वदेश विदेश में शिक्षा", पृष्ठ संख्या–26
विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।

2– Ibid, Page No. 27

3– Ibid, Page No. 29

"वैदिक काल में जिस शिक्षा प्रणाली का विकास हुआ उसे वैदिक शिक्षा प्रणाली कहते है। पूरे वैदिक काल में शिक्षा का प्रशासन एवं संगठन तो सामान्यतः एक सा रहा परन्तु समय की परिस्थितियों और ज्ञान एवं कला–कौशल के क्षेत्र में विकास के साथ–साथ उसकी पाठ्यचर्या और शिक्षण विधियों में विकास होता रहा। वैदिक काल में प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था परिवारों और उच्च शिक्षा की व्यवस्था गुरुकुलों में होती थी। ये गुरुकुल प्रायः जन कोलाहल से दूर प्रकृति की सुरम्य गोद में स्थापित होते थे परन्तु उत्तर वैदिक काल में बड़े–बड़े नगरों और तीर्थ स्थानों पर स्थापित होने लगे। उस काल में तीर्थ स्थान धर्म प्रचार के केन्द्र होने के साथ–साथ उच्च शिक्षा के केन्द्रों के रूप में विकसित हुए बड़े–बड़े नगरों में तक्षसिला, पाटलीपुत्र, मिथिला, धार, कन्नौज, केकय, कल्याणी, तंजौर, मालखण्ड और तीर्थ स्थानों में प्रयाग, काशी, अयोध्या, उज्जैनी, नासिक, कर्नाटक और कांची उस समय के मुख्य शिक्षा केन्द्र थे।

शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है। समाज इसकी व्यवस्था अपने उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु करता है। साफ जाहिर है कि किसी समाज की शिक्षा उसकी तत्कालीन परिस्थितियों और उसके भविष्य की सम्भावनाओं एवं आंकांक्षाओं के अनुकूल होनी चाहिए।

वैदिककाल में गुरूकुलों में शिष्यों से किसी भी प्रकार का शुल्क नहीं लिया जाता था। उस समय शिष्यों के आवास, भोजन एवं वस्त्रादि की व्यवस्था भी निःशुल्क होती थी। इस व्यय की पूर्ति राजा एवं धनी लोगों से प्राप्त दान, भिक्षाटन और गुरूदक्षिणा द्वारा होती थी। आज भी संसार के सभी देशों में एक निश्चित स्तर तक ही शिक्षा निःशुल्क है, हमारे देश भारत में भी। वैदिक काल में शिक्षा के उद्देश्य अति व्यापक थे उस काल में शिक्षा द्वारा मनुष्यों का शारीरिक एवं मानसिक विकास किया जाता था, उन्हें सामाजिक एवं राष्ट्रीय कर्तव्यों का बोध कराया जाता था, उनका नैतिक एवं चारित्रिक विकास किया जाता था, उन्हें कर्म (व्यवसाय) की शिक्षा दी जाती थी और इसके साथ–साथ

उनका आध्यात्मिक विकास भी किया जाता था। वैदिककाल में गुरूकुलों के नियम बड़े कठोर होते थे और गुरू एवं शिष्य, दोनों ही इनका पालन करते थे। उस काल में गुरू बहुत अनुशासित जीवन जीते थे, उनकी कथनी और करनी समान होती थी। गुरूओं के आदर्श आहार–विहार और आचार–विचार का शिष्यों पर सीधा प्रभाव पड़ता था और वे भी उचित आहार–विहार और उचित आचार–विचार का पालन करते थे। गुरू और शिष्य दोनों सादा जीवन जीते थे, जो अनुशासित जीवन होता था।"[1]

वर्तमान की नींव अतीत में होती है। हमारे देश में वैदिककाल में जिस शिक्षा प्रणाली का विकास हुआ वह हमारे आधुनिक शिक्षा प्रणाली का नींव का पत्थर है। यूँ वैदिक शिक्षा प्रणाली के बाद हमारे देश में क्रमशः बौद्ध शिक्षा प्रणाली, मुस्लिम शिक्षा प्रणाली और अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली का विकास भी हुआ परन्तु वैदिक शिक्षा प्रणाली प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से निरन्तर चलती रही और आज भी चल रही है। आज भी देश भर में वैदिक शिक्षा प्रणाली पर आधारित धार्मिक शिक्षा केन्द्र, गुरूकुल एवं संस्कृत विद्यालय चल रहे हैं। परन्तु इनका स्वरूप वैदिककालीन ऋषि आश्रमों और गुरूकुलों से काफी भिन्न हैं पर मूल आधार तो वही है। आधुनिक भारतीय शिक्षा प्रणाली के विकास में भी इसकी आधारभूत भूमिका है। वैदिक शिक्षा प्रणाली में शिक्षा पर गुरूओं का नियंत्रण था।

बौद्धकाल में बौद्ध भिक्षुओं द्वारा एक नई शिक्षा प्रणाली का विकास हुआ। जिसे बौद्ध शिक्षा प्रणाली कहते हैं। बौद्ध भिक्षुओं द्वारा विकसित बौद्ध शिक्षा प्रणाली की पहली विशेषता यह थी कि यह सीधी बौद्ध संघों के नियंत्रण में थी, उस पर व्यक्ति विशेष का नहीं, संघ का नियंत्रण था। बौद्धकाल में शिक्षा संस्थाओं को शासन का सहयोग वैदिक काल की अपेक्षा बहुत अधिक प्राप्त हुआ तत्कालीन राजाओं ने इनके भवन निर्माण के लिए धन उपलब्ध कराया और इनके

1– रमन बिहारी लाल, "भारतीय शिक्षा का इतिहास एवं समस्याएं", पृष्ठ संख्या–18–19 रस्तोगी पब्लिकेशन, मेरठ।

संचालन के लिए गाँव के गाँव दान में दिए। इस शिक्षा प्रणाली में बच्चों की प्राथमिक एवं उच्च दोनों स्तरो की शिक्षा की व्यवस्था की गई पर प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था निःशुल्क थी और उच्च शिक्षा के छात्रों से शुल्क लिया जाता था।

बौद्ध शिक्षा प्रणाली में शिक्षा को तीन स्तरों में बांटा गया था।

1- प्राथमिक शिक्षा-

बौद्ध शिक्षा प्रणाली में प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था भी बौद्ध मठों एवं विहारों में की जाती थी। यह 6 वर्ष की आयु से 12 वर्ष तक चलती थी।

2- उच्च शिक्षा-

प्राथमिक शिक्षा पूरी करने के बाद उच्च शिक्षा में प्रवेश हेतु प्रवेश परीक्षा होती थी और योग्य छात्रों को उच्च शिक्षा में प्रवेश दिया जाता था। यह शिक्षा सामान्यतः 12 वर्ष की आयु से शुरू होती थी और 20–25 वर्ष की आयु तक चलती थी।

3- भिक्षु शिक्षा-

उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बाद जो छात्र बौद्ध धर्म के प्रचार एवं प्रसार के कार्य में लगना चाहते थे उन्हें उपसम्पदा संस्कार के बाद भिक्षु शिक्षा में प्रवेश दिया जाता था, यह शिक्षा सामान्यतः 8 वर्ष की अवधि की थी। इस शिक्षा को प्राप्त करने बाद वे भिक्षु कहलाते थे और धर्म प्रचार और शिक्षण कार्य करते थे। जो व्यक्ति भिक्षु शिक्षा के बाद बौद्ध धर्म दर्शन में विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करना चाहते थे वे और अधिक वर्षों तक अपनी भिक्षु शिक्षा जारी रख सकते थे।"[1]

1– रमन बिहारी लाल, "भारतीय शिक्षा का इतिहास एवं समस्याएं", पृष्ठ संख्या–29–30 रस्तोगी पब्लिकेशन, मेरठ।

"बौद्ध अहिंसा के पुजारी थे। युद्धों को अनावश्यक समझते थे इसलिए उन्होने अपने कुछ शिक्षा केन्द्रों में ही सैनिक शिक्षा की व्यवस्था की थी। बौद्धों ने एक ओर देशवासियों में अहिंसा की भावना का विकास किया और दूसरी ओर सैनिक शक्ति में ह्रास किया, परिणामतः आगे चलकर देश को विदेशियों की आधीनता स्वीकार करनी पड़ी आज शान्ति का दूत भारत भी देश की रक्षा के लिए सैनिक शिक्षा आवश्यक मानता है।

बौद्ध शिक्षा प्रणाली बौद्ध भिक्षुओं द्वारा विकसित हुई थी, उसमें बौद्ध धर्म की शिक्षा अनिवार्य थी। परन्तु इसके साथ–साथ इसके उद्देश्य अति व्यापक थे– मनुष्यों के ज्ञान में वृद्धि की जाती थी, उन्हे समाज सेवा का पाठ पढ़ाया जाता था, उन्हें संस्कृति को जीवित रखने का प्रशिक्षण दिया जाता था, उनका चरित्र निर्माण किया जाता था और साथ ही उन्हें कला–कौशलों एवं व्यवसाय की शिक्षा दी जाती थी। बौद्ध शिक्षा प्रणाली के विकास के साथ शिक्षण की मौखिक विधियों में सुधार किया गया उनमें छात्रों की भागीदारी को महत्व दिया गया। इस काल में अनेक ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियां तैयार की गईं, इन्हें पुस्तकालयों में स्थान दिया गया और उच्च शिक्षा के छात्रों को स्वाध्याय द्वारा ज्ञान प्राप्ति के अवसर प्रदान किए गए।

बौद्ध शिक्षा प्रणाली का आधार बौद्ध धर्म था जिसमें मानव मात्र के कल्याण की बात है, करूणा और दयाभाव की बात है। यही कारण है कि बौद्ध शिक्षा केन्द्रों मे गुरू और शिष्यों के बीच पवित्र एवं मधुर सम्बन्ध थे, गुरू शिष्यों को पुत्रवत मानते थे और शिष्य गुरूओं को पिता तुल्य मानते थे और दोनों एक–दूसरे के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन निष्ठा से करते थे। उस समय की शिक्षा प्रणाली में कर्मकाण्ड प्रधान वैदिक धर्म की शिक्षा पर अधिक बल दिया जाता था और बौद्ध शिक्षा प्रणाली में करूणा और दया प्रधान बौद्ध धर्म की शिक्षा पर बल दिया जाता था और मानवमात्र के कल्याण की शिक्षा दी जाती थी। इसे आज की भाषा में मानवतावादी दर्शन कहते हैं।

बौद्ध शिक्षा प्रणाली अपने समय की संसार की सर्वश्रेष्ठ शिक्षा प्रणाली थी। परन्तु आज के भारतीय समाज के स्वरूप एवं उसकी भविष्य की आकांक्षाओं एवं सम्भावनाओं की दृष्टि से उसके कुछ तत्व ग्रहणीय हैं और कुछ तत्व त्याज्य हैं। जो तत्व ग्रहणीय हैं उन्हे हम उसके गुणों की संज्ञा देते हैं और जो तत्व त्याज्य हैं उन्हें हम उसके दोषों की संज्ञा देते हैं। हम बौद्ध शिक्षा प्रणाली के ग्रहणीय तत्वों को ग्रहण कर अपनी वर्तमान शिक्षा प्रणाली को और अधिक प्रभावी बनाना चाहिए। हमारी आधुनिक शिक्षा प्रणाली की नींव तो वैदिक शिक्षा प्रणाली में रख दी गई थी परन्तु उसका पूर्ण ढांचा (केन्द्रीय प्रशासन, विद्यालयी शिक्षा, सामूहिक शिक्षा, बहु शिक्षक–प्रणाली) आदि बौद्ध शिक्षा प्रणाली में तैयार किया गया। बौद्ध शिक्षा प्रणाली के बाद इस देश में क्रमशः मुस्लिम शिक्षा प्रणाली एवं अंग्रेजी शिक्षा प्रणालियों का विकास हुआ। यूँ तो ये दोनों प्रणालियां भारत में एक विदेशी पौधा थी पर हमारी आधुनिक शिक्षा प्रणाली के विकास में उनका भी अपना योगदान रहा।''[1]

''हमारे देश में मध्यकाल में मुसलमान शासकों के सहयोग से एक नई शिक्षा प्रणाली का विकास हुआ जिसे मुस्लिम शिक्षा प्रणाली कहते हैं। मध्यकाल के सभी मुसलमान बादशाहों ने इस्लाम धर्म और संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार के लिए मकतब और मदरसों का निर्माण कराया और उन्हे आर्थिक सहायता दी। तब इनके द्वारा शासनानुकूल कार्य करना स्वभाविक था। इसे हम राज्य का परोक्ष नियंत्रण कह सकते हैं। मकतब और मदरसों में छात्रों से किसी प्रकार का शुल्क नहीं लिया जाता था। मदरसों के छात्रावासों में रहने वाले छात्रों को भोजन एवं वस्त्र भी निःशुल्क दिए जाते थे। मेधावी छात्रों को छात्रवृत्तियां भी दी जाती थीं। इस काल के सभी बादशाहों ने इन मकतब और मदरसों को आर्थिक सहायता दी। शासन में उच्च पदो पर आसीन लोग भी इन्हें आर्थिक

1– रमन बिहारी लाल, ''भारतीय शिक्षा का इतिहास एवं समस्याएं'', पृष्ठ संख्या–51–54 रस्तोगी पब्लिकेशन, मेरठ।

सहायता देते थे। मुस्लिम शिक्षा का सर्वप्रमुख उद्देश्य एवं आदर्श इस्लाम धर्म एवं संस्कृति का प्रचार एवं प्रसार था। इसके साथ–साथ इसमे ज्ञान के विकास, कला कौशल के प्रशिक्षण और सांसारिक ऐश्वर्य की प्राप्ति पर भी बल दिया गया था। इस्लाम धर्म के प्रवर्तक हजरत मोहम्मद साहब ज्ञान को अमृत मानते थे, निजात (मुक्ति) का साधन मानते थे। ज्ञान से उनका तात्पर्य भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकर के ज्ञान से था और आध्यात्मिक ज्ञान से तात्पर्य इस्लाम के ज्ञान से था। कुरान शरीफ में कलम की स्याही को शहीदों के खून से भी अधिक पवित्र बतलाया गया है। मध्यकालीन मुस्लिम शिक्षा प्रणाली में शिक्षा दो स्तरों में विभाजित थी–प्राथमिक और उच्च। प्राथमिक स्तर पर सभी विषय अनिवार्य रूप से पढ़ाए जाते थे और उच्च स्तर पर अरबी और फारसी के अतिरिक्त अन्य विषय वैकल्पिक रूप से पढ़ाए जाते थे। इस शिक्षा प्रणाली में प्राथमिक स्तर पर लिपि ज्ञान, कुरान शरीफ का 30वां भाग, लिखना, पढ़ना, अंकगणित, पत्रलेखन, बातचीत और अर्जीनवीसी पढ़ाई–सिखाई जाती थी। बच्चों को प्रारम्भ से ही कुरान शरीफ की कुछ आयतें कंठस्थ कराई जातीं थीं और इस्लाम के पैगम्बरों और मुसलमान फकीरों (सन्तों) की जीवनियां पढ़ाई जाती थीं। जो बच्चों के नैतिक एवं चारित्रिक विकास में सहायक होती थी। इसके अलावा उन्हें शेख शादी की प्रसिद्ध पुस्तकें गुलिस्तां और बोस्तां पढ़ाई जाती थीं। इनके अतिरिक्त अरबी–फारसी के कवियों की कविताएं पढ़ाई जाती थीं। इस काल में प्रारम्भ से ही बच्चो के उच्चारण और लेख पर बहुत ध्यान दिया जाता था और उन्हें शुद्ध उच्चारण और सुलेख का अभ्यास कराया जाता था। इस शिक्षा प्रणाली में उच्चस्तर की शिक्षा का पाठ्यक्रम अति विस्तृत था। इस स्तर की पाठ्यचर्या को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है–लौकिक और धार्मिक। लौकिक पाठ्यचर्या में अरबी तथा फारसी भाषाएं एवं उनके साहित्य, अंकगणित, ज्यामिती और विभिन्न कला–कौशलों एवं व्यवसायों की शिक्षा को स्थान दिया गया था। धार्मिक पाठ्यचर्या में कुरान शरीफ, इस्लामी इतिहास, इस्लामी साहित्य, सूफी साहित्य और शरिअत

(इस्लामी कानून) को स्थान दिया गया था।"[1]

"मध्यकालीन शिक्षा प्रणाली में शिक्षार्थियों को मकतब और मदरसों के कठोर अनुशासन में रहना होता था, उन्हें किसी भी प्रकार की स्वतंत्रता नहीं दी जाती थी। वे मकतब और मदरसों में दबे–दबे रहते थे। पर इस काल में वे वैदिक एवं बौद्ध काल की तरह कठोर जीवन नहीं जीते थे, आराम दायक जीवन जीते थे, छात्रावासों में कालीनों पर सोते थे और अच्छा भोजन करते थे। प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था मुख्यरूप से मकतबों और उच्च शिक्षा की व्यवस्था मदरसों में होती थी। उनके अतिरिक्त खानकाहें, दरगाहें, कुरान स्कूल, फारसी स्कूल, फारसी–कुरान स्कूल और अरबी स्कूलो की व्यवस्था भी थी। शिक्षा प्रणाली में धर्म के नाम पर इस्लाम धर्म की शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाती थी और नैतिकता के नाम पर शरिअत (इस्लामिक नियम और कानून) की शिक्षा दी जाती थी। यह धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा का संकुचित रूप था।

प्राचीन काल मे भारत में दो शिक्षा प्रणालियों का विकास हुआ, प्रारम्भ में वैदिक शिक्षा प्रणाली का और उसके बाद बौद्ध शिक्षा प्रणाली का इन दोनों प्रणालियों को हिन्दू शिक्षा प्रणाली कहते हैं। हिन्दू शिक्षा प्रणाली के नाम से दोनों शिक्षा प्रणालियों का विकास भारत में अपनी पृष्ठभूमि, अपनी सभ्यता और अपनी संस्कृति के आधार पर हुआ था। यही कारण है कि दोनों में आधारभूत समानता थी। परन्तु मध्यकाल में जिस मुस्लिम शिक्षा प्रणाली का विकास हुआ उसकी पृष्ठभूमि विदेशी थी, वह इस्लाम धर्म और मुस्लिम संस्कृति पर आधारित थी, इसलिए यह प्राचीन कालीन हिन्दू शिक्षा प्रणाली से बहुत भिन्न थी। मध्यकालीन मुस्लिम शिक्षा प्रणाली इस देश में एक विदेशी पौधा था, वह इस देश के मूल निवासियों को इतनी उपयोगी नहीं हो सकी जितनी कि किसी भी शिक्षा प्रणाली को होना चाहिए। परन्तु इस प्रणाली में कुछ ऐसी अच्छी आदतें

1— रमन बिहारी लाल, "भारतीय शिक्षा का इतिहास एवं समस्याएं", पृष्ठ संख्या—57,58,59 रस्तोगी पब्लिकेशन, मेरठ।

भी थीं जो अब किसी भी देश की शिक्षा प्रणाली में आवश्यक समझी जाती हैं, जैसे– शिक्षा संस्थाओं को राज्य का संरक्षण और नियमित आर्थिक अनुदान, निःशुल्क शिक्षा और छात्रवृत्तियों की व्यवस्था और शिक्षा की व्यवस्था में राज्य का हस्तक्षेप आदि। हमने अपनी आधुनिक शिक्षा प्रणाली में इन सबकों व्यापक रूप से अपनाया है। विकास का यही क्रम है–उपयोगी को अपनाना, अनुपयोगी को त्यागना और अधिक उपयोगी की निरन्तर खोज करना।"[1]

"भारत प्रारम्भ से ही विदेशियों के आकर्षण का केन्द्र रहा है। 15वीं शताब्दी के अन्त (1498) में पुर्तगाली नाविक वास्कोडिगामा ने यूरोप से भारत आने के समुद्री जलमार्ग की खोज की वह पहला यूरोपीय व्यक्ति था जो जलमार्ग द्वारा भारत के पश्चिमी बन्दरगाह कालीकट पहुंचने में सफल हुआ। लगभग 100 वर्ष तक पुर्तगालियों का व्यापार के क्षेत्र में एकछत्र राज्य रहा। 17वीं शताब्दी के प्रारम्भ (1613) में यहां अंग्रेज व्यापारियों का प्रवेश हुआ उनके बाद इसी शताब्दी में क्रमशः डच, फ्रांसीसी और डेन व्यापारियों का आगमन हुआ। इन यूरोपीय व्यापारियों में संघर्ष होना स्वभाविक था। अन्त में यहां अंग्रेज व्यापारी पैर जमाने में सफल हुए।

भारत में आधुनिक शिक्षा प्रणाली की शुरूआत 1510 ई0 में पुर्तगाली ईसाई मिशनरियों ने कर दी थी। इसके बाद 1613 में अंग्रेज ईसाई मिशनरियों का प्रवेश हुआ। उन्होने यहां आधुनिक अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली की नींव को मजबूत किया। इनके साथ–साथ फ्रांसीसी और डेन मिशनरियों ने इस कार्य को अपने–अपने तरीकों से किया।

पुर्तगाली व्यापारियों ने सर्वप्रथम गोआ में अपना व्यापारिक केन्द्र स्थापित किया। पुर्तगाली मिशनरियों ने भी यहीं से अपना काम शुरू किया। यहां उन्होने प्राथमिक स्कूलों की स्थापना की। इन स्कूलों में उन्होने पुर्तगाली भाषा, स्थानीय भाषा, गणित और स्थानीय शिल्पों की शिक्षा की व्यवस्था की और साथ ही ईसाई

1– रमन बिहारी लाल, "भारतीय शिक्षा का इतिहास एवं समस्याएं", पृष्ठ संख्या–58,59,64 रस्तोगी पब्लिकेशन, मेरठ।

धर्म की शिक्षा की व्यवस्था की। इन स्कूलों में ईसाई धर्म स्वीकार करने वालों के बच्चों को निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी। निर्धन बच्चों को भोजन, वस्त्र और पाठ्य पुस्तकें भी निःशुल्क दी जाती थीं। 1556 में इन्होने यहां एक प्रिन्टिंग प्रेस खोला जिसमें धर्म पुस्तके और पाठ्य पुस्तकें तैयार की जाती थीं। और जैसे–जैसे पुर्तगाली व्यापारियों का क्षेत्र बढ़ता गया वैसे–वैसे पुर्तगाली मिशनरियों का कार्यक्षेत्र भी बढ़ता गया। गोआ के बाद इन्होने दमन, ड्यू, हुबली, कोचीन, चटगाँव और बम्बई में प्राथमिक स्कूलो की स्थापना की। इसके साथ–साथ पुर्तगाली मिशनरियों ने भारत में आधुनिक प्राथमिक शिक्षा के साथ–साथ आधुनिक शिक्षा की भी शुरूआत की। इन्होने सर्वप्रथम 1575 में गोआ में जैसुएट कॉलिज की स्थापना की और उसके बाद 1577 में बम्बई के निकट बाँद्रा में सेंट एनी कालिज की स्थापना की इन कालिजों में लैटिन भाषा, व्याकरण, तर्कशास्त्र और संगीत की शिक्षा की व्यवस्था की गई और साथ ही ईसाई धर्म की शिक्षा की व्यवस्था की गई। जैसुएट पादरियों से प्रभावित होकर तत्कालीन बादशाह अकबर ने भी आगरे में भी जैसुएट कालिज की स्थापना की थी। पुर्तगाली भारत में यूरोपीय शिक्षा प्रणाली की नींव रखने वाले माने जाते हैं।"[1]

"17वीं शताब्दी के मध्य में भारत में हॉलैण्ड निवासी डच व्यापारियो ने प्रवेश किया इन्होने अपने व्यापारिक संस्थान समुद्र के किनारे बंगाल में चिनसुरा और हुगली में तथा मद्रास में नागापट्टम् और बिल्लीपट्टम् में स्थापित किए। इनके साथ डच ईसाई मिशनरीज भी आए थे। इन डच ईसाई मिशनरियों ने कारखानों में काम करने वाले डच नागरिकों और भारतीय नागरिकों, दोनों के बच्चो की शिक्षा के लिए प्राथमिक विद्यालयों की स्थापना की। इन विद्यालयों में सामान्य भारतीय नागरिकों के बच्चे प्रवेश ले सकते थे। इन स्कूलों मे डच भाषा, स्थानीय भाषाओं, भूगोल, गणित और स्थानीय कला–कौशलों की शिक्षा की व्यवस्था थी।

1– रमन बिहारी लाल, "भारतीय शिक्षा का इतिहास एवं समस्याएं", पृष्ठ संख्या–77, 78 रस्तोगी पब्लिकेशन, मेरठ।

1667 में भारत में फ्रांसीसी व्यापारियों ने प्रवेश किया ये भी अपने साथ फ्रांसीसी ईसाई पादरी लाए थे। उन्होने अपने कारखाने माही, यनाम, कारीकल, चन्दनगर और पाण्डिचेरी में स्थापित किए। इन्होने कारखानों के निकट प्राथमिक विद्यालयों की स्थापना की। इन विद्यालयों की व्यवस्था फ्रांसीसी ईसाई मिशनरियों के हाथ में थी। इन विद्यालयों में फ्रांसीसी और स्थानीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा दी जाती थी। इनमें फ्रांसीसी माध्यम से शिक्षा देने हेतु फ्रांसीसी शिक्षक नियुक्त किए जाते थे और भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा देने हेतु भारतीय शिक्षक नियुक्त किए जाते थे। इनमें ईसाई धर्म (कैथोलिक) की शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाती थी और इसके लिए प्रत्येक स्कूल में एक पादरी शिक्षक अवश्य नियुक्त किया जाता था। फ्रांसीसियों ने पाण्डिचेरी में एक माध्यमिक स्कूल की स्थापना भी की इसमें फ्रांसीसी भाषा और ईसाई धर्म की शिक्षा अनिवार्य थी।

17वीं शताब्दी के अन्त (1680) में भारत में डेनमार्क निवासी डेन व्यापारी और डेन ईसाई मिशनरी आए। डेन व्यापारियों ने सीरामपुर, ट्रावनकोर, तंजौर और चित्रनापल्ली में अपने कारखाने स्थापित किए। इनका उद्देश्य व्यापार के साथ–साथ ईसाई धर्म का प्रचार एवं प्रसार करना भी था। इन्होने धर्म प्रचार के लिए शिक्षा को साधन बनाया और ट्रावनकोर, तंजौर और मद्रास में प्राथमिक स्कूलों की स्थापना की और इनकी व्यवस्था डेन मिशनरियो के हाथों में सौंप दी। इन स्कूलों में शिक्षा का माध्यम स्थानीय भाषाएं थीं, इनमें ईसाई धर्म की शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाती थी। डेनों ने 1716 में ट्रावनकोर में एक शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालय की स्थापना भी की। इस महाविद्यालय में अंग्रेजी और विभिन्न भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षण प्राप्त करने का प्रशिक्षण दिया जाता था।

"भारत में आधुनिक शिक्षा प्रणाली के विकास में सबसे अधिक योगदान अंग्रेज ईसाई मिशनरियों का रहा। 1613 में इस देश में ईस्ट इंडिया कम्पनी ब्रिटेन का प्रवेश हुआ। ऐसा उल्लेख मिलता है कि इंग्लैंड से ईस्ट इंडियां कम्पनी

के प्रत्येक जहाज के साथ एक पादरी आता था। इन पादरियों का उस समय एक ही उद्देश्य था–ईसाई धर्म एवं संस्कृति का प्रचार। इस कार्य के लिए इन्होने बंगाल को अपना केन्द्र बनाया। इन्होने यह कार्य दो माध्यमों से करना शुरू किया–एक शिक्षा के माध्यम से और दूसरा दीन–हीनों की सेवा के माध्यम से इस कार्य के सम्पादन के लिए इन्होने इंग्लैंड के अनेक मिशनरीज संगठनों से सहायता प्राप्त की, साथ ही इन्हें इस देश में कार्यरत ईस्ट इंडिया कम्पनी का संरक्षण एवं आर्थिक सहायता प्राप्त थी। अंग्रेज ईसाई मिशनरियों ने यहां कलकत्ता, बम्बई में अनेक धर्मार्थ विद्यालयों की स्थापना की। इनमें दो प्रकार के विद्यालय थे–एक ऐसे जिनमें अंग्रेजी भाषा के माध्यम से शिक्षा दी जाती थी और दूसरे ऐसे जिनमें स्थानीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा दी जाती थी। पर दोनों प्रकार के विद्यालयों में ईसाई धर्म की शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाती थी।

ईसाई मिशनरियों ने भारत में शिक्षा का प्रसार किया जो ईसाई धर्म के प्रचार के लिए था। परन्तु इस प्रयास में उन्होने भारत में अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली की शुरूआत कर दी–स्कूलो की पाठ्यचर्या निश्चित की, पाठ्यचर्या के अनुकूल पाठ्य पुस्तके तैयार की और उनका प्रकाशन किया और शिक्षण की पाठ्य पुस्तक प्रणाली की शुरूआत की। ईसाई मिशनरियों ने ही भारत में प्रथम बार क्षेत्रीय भाषाओं के माध्यम से जन शिक्षण व्यवस्था की, विद्यालयों में समय–सारणी के अनुसार शिक्षण कार्य शुरू किया, कक्षा प्रणाली लागू की और कक्षोन्नति के लिए परीक्षा की व्यवस्था की गई।

अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली, बौद्ध शिक्षा प्रणाली तथा मुस्लिम शिक्षा प्रणाली से बिल्कुल भिन्न थी। भारत में अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली सबसे अधिक लोकप्रिय हुई।"[1]

1– रमन बिहारी लाल, "भारतीय शिक्षा का इतिहास एवं समस्याएं", पृष्ठ संख्या–80, 84 रस्तोगी पब्लिकेशन, मेरठ।

शिक्षा का दृष्टिकोंण विकासात्मक एवं सकारात्मक होना चाहिए। भारतवर्ष में शिक्षा का दृष्टिकोंण दो प्रकार से मिलता है– सकारात्मक एवं नकारात्मक दृष्टिकोंण। सकारात्मक दृष्टिकोंण के द्वारा व्यक्तिगत, सामाजिक एवं राष्ट्र का विकास होता है। नकारात्मक दृष्टिकोंण के द्वारा व्यक्तिगत, सामाजिक और राष्ट्र का विकास रुक जाता है। शिक्षा का दृष्टिकोंण उच्च एवं पारदर्शी होना चाहिए। शिक्षकों का दृष्टिकोंण जनहित, सामाजिक एवं राष्ट्र का विकास करने के लिए होना चाहिए। शिक्षकों में त्याग एवं श्रम की भावना एवं दृष्टिकोंण व्यवहारिक होना चाहिए। सीमित एवं संकुचित दृष्टिकोंणों से विकास अवरुद्ध हो जाता है। दृष्टिकोंण वर्तमान में औद्योगिक एवं तकनीकी होना चाहिए। जिससे विद्यार्थियों का तकनीकी शिक्षा के द्वारा जीविकोपार्जन की ओर रुझान हो। शैक्षिक दृष्टिकोंण धार्मिक और नैतिक होना चाहिए। यदि दृष्टिकोंण रूढ़िवादी है तो उसे बदलने का प्रयास करना चाहिए।

शैक्षिक दृष्टिकोंण में कला, संगीत, पेंटिंग, वाणिज्य, नृत्य एवं धातु कला का सुझाव रखना चाहिए। हमें अपने देश में निरक्षरता का दृष्टिकोंण समाप्त कर साक्षरता को अधिक से अधिक प्रोत्साहित करना चाहिए। शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है जिसका कभी अन्त नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यवसाय, पारिवारिक जीवन, अवकाश के सदुपयोग की ओर कितनी ही अन्य बातों में कुछ न कुछ सीखता ही रहता है। यदि वह सीखना बन्द कर देता है तो उसके व्यवसायिक एवं अन्य कार्यों से सम्बंधित उसकी कुशलता का ह्रास होने लगता है। फलस्वरूप वह त्वरित गति से परिवर्तित होने वाले संसार से अपना सांमजस्य स्थापित नहीं कर पाता है और असंतुष्ट जीवन व्यतीत करने लगता है। इसलिए जीवन में दृष्टिकोंण हमेशा सकारात्मक एवं विकासवादी होना चाहिए।

हमारी वर्तमान शिक्षा नवीन जटिल समस्याओ से ग्रसित है। शैक्षिक दृष्टिकोंण सारगर्भित एवं विचारशील होना चाहिए। दृष्टिकोंण हमेशा अच्छा एवं प्रभावशाली होना चाहिए। दृष्टिकोंण में नवीनता को समाहित करना चाहिए। शैक्षणिक

विचारधाराओं के मूल्यों, प्रतिमानों एवं आदर्शों को जीवन में व्यवहारिक होना चाहिए। दृष्टिकोंण हमेशा आत्म–शुद्ध एवं सामाजिक दायित्वों पर आधारित होना चाहिए।

शैक्षणिक दृष्टिकोंण में सामाजिक स्तरीकरण के उभरते प्रतिमान होने चाहिए। दृष्टिकोंण उपयोगी एवं संरचनात्मक होना चाहिए। मापदण्ड स्वतंत्र सर्व स्वीकृत दृष्टिगोचर हों दृष्टिकोंण तनावरहित एवं स्पष्ट होना चाहिए। दृष्टिकोंण में बहुत सी अपेक्षाएं एवं आशाएं छिपी रहती हैं।

वर्तमान समय में शैक्षणिक दृष्टिकोंण में परिवर्तन आ रहा है। शिक्षा का व्यवसायीकरण हो रहा है। गुणात्मक दृष्टिकोंण में गिरावट आई है। मात्रात्मक दृष्टिकोंण काफी तेजी से बढ़ा है। विद्यार्थियों के पास शैक्षणिक गहराई का अभाव है। परन्तु बहुत से अलंकारों से सुशोभित है। वर्तमान समय में शिक्षा के स्तर में गिरावट आई है जिसके कारण महाविद्यालय मात्र डिग्री देने के साधन रह गए हैं।

आर्थिक दृष्टिकोंण का सम्बंध शैक्षणिक दृष्टिकोंण से है। समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति कई प्रकार के विधानों से कर सकते हैं शैक्षणिक दृष्टिकोंण के द्वारा सामाजिक कुरीतियों एवं सामाजिक विघटन को समाप्त कर समाज को सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित कर सकते हैं।

शैक्षणिक दृष्टिकोंण भारतीय सामाजिक परम्पराओं को ध्यान में रखते हुए समाज में लागू करना चाहिए। रूढ़िगत सिद्धान्तों के स्थान पर उपयोगी एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोंणों को समाज में प्रभावशाली होना चाहिए। सभी धर्मों एवं जातियों को ध्यान में रखते हुए दृष्टिकोंणों का प्रभावशाली बनाना चाहिए क्योंकि भारत एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र है। दृष्टिकोंण में मानवता, राष्ट्रसेवा एवं समाजसेवा के प्रतिमानों को रखकर विद्यार्थियों को सही मार्ग देकर राष्ट्र के योग्य बनाना चाहिए।

सामाजिक एवं पारिवारिक अनुसंधान

जालौन-जनपद के विशेष संदर्भ में

सामाजिक अनुसंधान-

"अनुसंधान शब्द से एक ऐसी पद्धति का ज्ञान होता है जिसके आधार पर कुछ सामान्य नियमों का निर्धारण या किसी नवीन सत्य की प्राप्ति होती है। सामान्य व्यक्ति जब किसी समस्या पर चिंतन आरम्भ करता है तो उसके चिन्तन में कोई व्यवस्था नहीं होती है वह अपनी व्यक्तिगत धारणाओं को समझने में समर्थ नहीं होता। किन्तु इसके विपरीत एक अनुसंधानकर्ता अपनी धारणाओं को समझता है। उसका चिन्तन तर्क के आधार पर उद्देश्य पूर्ण होता है।

रैडमैन के अनुसार– "नवीन ज्ञान प्राप्त करने हेतु व्यवस्थित प्रयास ही अनुसंधान है।"

कुक के अनुसार– "अनुसंधान किसी समस्या के प्रति, ईमानदारी, विस्तृत तथा समझदारी के साथ की हुई खोज है। यह खोज तथ्यों तथा उनके अर्थों का पता लगाने के लिए भी की जाती है। अनुसंधान द्वारा प्राप्त परिणाम प्रमाणिक तथा समर्थन प्राप्त करने योग्य हों तथा इसके उपर्युक्त क्षेत्र में नवीन ज्ञान की वृद्धि होनी चाहिए।"

रॉबिन्सन के अनुसार– "अनुसंधान एक परिश्रम के आधार पर की गई एक खोज है। यह उसी प्रकार है जिस प्रकार परिश्रम पुरातन काल में आखेट के लिए आवश्यक था।"

वेवस्टर का शब्दकोश– "अनुसंधान केवल सत्य की खोज करना मात्र नही वरन यही दीर्घकालीन प्रगाढ़ तथा उद्देश्यपूर्ण शोध है।"

DEFINITION OF SOCIAL RESEARCH

1- "We may define social research as the systematic method of discovering new facts or verifying old facts, their sequences, interrelationships, causals explanations and the natural laws which govern them."

-P. V. Young,

Scientific social surveys and research p. 50

2- "A searching for something of somebody specialy with care, also, a continued careful enquiry or investigation into a subject in order to discover facts or principles."

-The New Century Dictionary

Appleton Century Crofts Inc., New York, 1927 p.153

3- "Systematized effort to gain new knowledge we call research"

- L.V. Redman and A.V.H. Mory

The Romance of Research .(1932) p.10

4-"Any scholarly investigation in search for truth, for fact, for Certainties,"

-W.E. Spaher and R.J. Swenson.

Methods and Status of scientific research with particular application to the social science (1930), p.1

5-"Research may or may not come to success ; it may or may not add anything to what is already known . it is sufficient that its objective be new knowledge or at least a new mode or orienation of knowledge"

- F.A.Oagg.

समाज विज्ञानो के विश्वकोश में डोनाल्ड स्लेसिगर और मेरी स्टीफेन्सन ने अनुसंधान की व्याख्या करते हुये लिखा है, "अनुसंधान ज्ञान के विस्तार, संशोधन अथवा सत्यापन के प्रयोजन के लिये वस्तुओं, प्रत्ययों और प्रतीकों का प्रहस्तन है भले ही ज्ञान किसी सिद्वान्त की रचना करनें में अथवा किसी कला के व्यवहार में लाभदायक हो। अस्तु कारीगर अथवा चिकित्सक यदि समस्त स्वतःचालित वाहनों अथवा किसी वर्ग के समस्त रोगियों के विषय में सामान्यीकरण करने का प्रयास करता है तो वह एक अनुसंधान कार्य करता है।

बोगार्डस के अनुसार "सामाजिक अनुसंधान अन्तर्निहित प्रक्रमों का सर्वेक्षण है जो समूह में रहने वाले व्यक्तियों के जीवन में क्रियाशील रहते हैं"

सामाजिक अनुसंधान की परिभाषाओं में विभिन्न विद्वानों के उपरोक्त कथनों से स्पष्ट है कि सामाजिक अनुसंधान का लक्ष्य सामाजिक घटनाओं और प्रक्रियाओं का अध्ययन करके तथ्यों के संकलन, विश्लेषण और निर्वचन तथा सामान्यीकरण द्वारा उनके विषय में सामान्य नियम निकालना तथा इनके आधार पर भविष्यवाणी करना और भावी परिवर्तनों और प्रतिक्रियाओं की ओर संकेत करना है। स्पष्ट है कि सामाजिक अनुसंधान का उद्देश्य विशुद्ध रूप से मौखिक और वैज्ञानिक है। संक्षेप में सामाजिक अनुसंधान के लक्ष्यों को निम्नलिखित दो वर्गों में बांटा जा सकता है–

(1) सैद्धान्तिक लक्ष्य– सामाजिक अनुसंधान सामाजिक तथ्यों के विषय में अनुसंधान है। वह मानव–प्राणियों का समाज के सदस्यों के रूप में अध्ययन करता है। जैसा कि सामाजिक अनुसंधान की पी0 वी0 यंग द्वारा दी गई परिभाषा से स्पष्ट होता है, अन्य सामान्य अनुसंधानों के समान उसका लक्ष्य भी ज्ञान प्राप्त करना है। सामाजिक तथ्यो के विषय में जिज्ञासा को लेकर अनेक अनुसंधानकर्ताओं ने विभिन्न क्षेत्रों में अनुसंधान किए हैं। इसमें हानि–लाभ का कोई विचार नहीं किया गया। यह विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टिकोंण है। वैज्ञानिक अपनी खोज के परिणामों की चिन्ता किए बिना सतत् अनुसंधान में लगा रहता है।

सामाजिक अनुसंधान का लक्ष्य मानव समाज और उसके कार्य तथा प्रक्रियाओं की जांच करना और उसमें काम करने वाले नियमों का पता लगाना है। अधिकतर समाजशास्त्रियों ने सामाजिक अनुसंधान के इसी लक्ष्य को लेकर अनुसंधान और सर्वेक्षण में अन्तर किया है।

(2) उपयोगितावादी लक्ष्य– उपरोक्त विवेचन से नहीं समझना चाहिए कि व्यवहार में सामाजिक अनुसंधान का मानव कल्याण से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह ठीक है कि उपयोगितावादी लक्ष्य को लेकर सामाजिक अनुसंधान प्रारम्भ नहीं किया जाता किन्तु अन्त में सभी अनुसंधानों के व्यवहार में भी कुछ–न–कुछ लाभ होता ही है जैसा कि श्रीमती यंग ने लिखा है, "अनुसंधान का निकट अथवा दूरगत प्राथमिक लक्ष्य सामाजिक जीवन को समझना और उनके द्वारा सामाजिक व्यवहार पर अधिक नियंत्रण प्राप्त करना है।" इस प्रकार सामाजिक अनुसंधान से सामाजिक व्यवहार पर जो नियंत्रण प्राप्त होता है उससे अनेक कल्याणकारी काम सम्भव हो पाते हैं। सामाजिक अनुसंधान की सहायता से अनेक प्रकार के सामाजिक उद्देश्यों जैसे संघर्षों, हत्याओं, आत्म–हत्याओं, चोरियों, डकैतियों, तनावों आदि को सुलझाने में सहायता मिली है। लगभग सभी सामाजिक समस्याओं के मूल में मानव समाज की रचना और प्रक्रिया से सम्बंधित कोई–न–कोई तथ्य होता है। सामाजिक घटनाएं अकारण और आकस्मिक नहीं होतीं। कोई भी मनुष्य जन्म से अपराधी नहीं होता, उसकी सामाजिक परिस्थितियां उसको अपराध की ओर ले जाती हैं। दण्ड देने से अपराध को एक सीमा तक दूर किया जा सकता है। किन्तु उसका समूल उन्मूलन करने के लिए उन सामाजिक परिस्थितियों को दूर करना होगा जिनके कारण अपराध होते हैं। किन्तु उपरोक्त विवेचन द्वारा यह नहीं समझना चाहिए कि सामाजिक अनुसंधान का उद्देश्य समाज सुधार करना है अथवा सामाजिक दोषों के उपचारों का पता लगाना है। इस सम्बन्ध में श्रीमती यांग ने कहा है कि "सामाजिक अनुसंधान व्याधिकीय की समस्याओं से केवल वहीं तक सम्बंधित है जहां तक वे मौलिक सामाजिक प्रक्रियाओं, मानव व्यवहार

और व्यक्तित्व के विकास अथवा विघटन पर प्रकाश डालती हैं।'' इस बात को और भी स्पष्ट करते हुए उन्होने लिखा है, ''सामाजिक अनुसंधान न तो व्यवहारिक और निकट भविष्य के सामाजिक आयोजन अथवा सामाजिक इन्जीनियरिंग से सम्बंधित है और न सुधारवादी अथवा उपचारात्मक योजनाओं से सम्बंधित है, वह न तो प्रशासनिक परिवर्तनों और प्रशासनिक विधियों के परिष्कार से सम्बंधित है और न समाज सुधार से ही सम्बंधित है।'' इस प्रकार सामाजिक अनुसंधान का लक्ष्य समाज सुधार, सामाजिक परिवर्तन अथवा सामाजिक समस्याओं को सुलझाना नहीं है। उसमे तो मानव व्यवहार के मूल–भूत सामाजिक कारकों का पता लगाने का प्रयास किया जाता है। इस अध्ययन से जिन कार्य–कारण सम्बंधों का पता चलता है उसमें विभिन्न सामाजिक क्षेत्रों में अनेक लाभ होते हैं। अन्त में यह बात आवयश्क है कि सामाजिक अनुसंधान के उपरोक्त दोनों लक्ष्य केवल मौखिक रूप से ही अलग किए जा सकते हैं। प्रत्येक सफल व्यवहार की एक सैद्धांन्तिक पृष्ठभूमि होती है। दूसरी ओर मानव कल्याण के लिए किए गए विभिन्न सामाजिक प्रयासों के मूल में तद्विषयक सामाजिक सिद्धान्त काम करते है। अस्तु, सामाजिक अनुसंधान के सैद्धान्तिक और उपयोगितावादी लक्ष्य परस्पर घनिष्ठरूप से सम्बंधित है।''[1]

OBJECTS OF SOCIAL RESEARCH

''सामाजिक अनुसंधान द्वारा हमारे सामाजिक ज्ञान में वृद्धि होती है। यह जानने के लिए सामाजिक अनुसंधान के उद्देश्य क्या हैं ? हमें इसकी विषय–वस्तु का अध्ययन करना पड़ता है। जब सामाजिक अनुसंधान का प्रयोग एक साधन के रूप में किया जाता है तो समाज ही हमारी विषय–वस्तु बन जाती है। हम कह सकतें है कि सामाजिक अनुसंधान का उद्देश्य जीवन की वैज्ञानिक व्याख्या करना है।

1– डा0 रामनाथ शर्मा, ''सामाजिक अनुसंधान एवं सर्वेक्षण की विधियां और प्रविधियां' पृष्ठ संख्या–3, 4, 5। राजहंस प्रकाशन मन्दिर, मेरठ।

काफमैन ने वैज्ञानिक अनुसंधान का उद्देश्य इस प्रकार बताया है– "अपने सर्वेक्षण के परिणामों द्वारा मानवता के कल्याण की वृद्धि करना एक वैज्ञानिक उद्देश्य हो सकता है। दूसरा, वैज्ञानिक भौतिक कल्याण और सामाजिक प्रतिष्ठा को अपना लक्ष्य बना सकता है। तीसरा, वैज्ञानिक स्वयं अन्वेषण को ही इस दृष्टि से लक्ष्य बना सकता है कि अपने वैज्ञानिक कार्यों से उसे जो संतोष प्राप्त होता है वह इन कार्यों के करने का पर्याप्त कारण है।"

MAIN CHARACTERISTICS OF SOCIAL RESEARCH

"सामाजिक अनुसंधान व्यक्ति के सामाजिक जीवन से सम्बन्ध रखता है। सामाजिक जीवन क्या है ? सामाजिक सम्बन्धों, प्रतिक्रियाओं तथा सामाजिक परिस्थितियों के सम्मिलित स्वरूप को सामाजिक जीवन कहा जाता है। सामाजिक अनुसंधान सामाजिक घटनाओं के नए तथा पुराने दोनों ही तथ्यों के विषय में खोज करता है। सामाजिक जीवन गतिशील हैं। अतः दोनों का ही सम्बंध नवीनता से है। सामाजिक अनुसंधान नए तथ्यों की खोज करता है जिनके आधार पर सामाजिक घटनाएं घटतीं हैं। सामाजिक अनुसंधान एक महत्वपूर्ण कार्य है जिसके द्वारा हम कार्य–करण का पता लगाते हैं। यह सामाजिक घटनाओं के विभिन्न तथ्यों के आपसी सम्बन्धों की खोज करता है।

MOTIVATING FACTORS OF SOCIAL RESEARCH

(1) **अज्ञात के प्रति जिज्ञासा–** जिज्ञासा मानव मस्तिष्क का एक मूल लक्षण है। जिज्ञासा की प्रेरणा से मनुष्य अपने चारों ओर के परिवेश में खोज करता है। छोटा बालक भी अपने चारों ओर की वस्तुओं, जीवधारियों और मनुष्यों को समझने का प्रयास करता है। वैज्ञानिक भिन्न–भिन्न क्षेत्रों में घटनाओं के मूल में हुए तथ्यों के प्रति जिज्ञासा को लेकर उनकी खोज करते हैं। इस प्रकार मनुष्य जो कुछ अज्ञात है, उसे जानना चाहता है। उसके समस्त ज्ञान–विज्ञानों का जन्म अज्ञात के प्रति जिज्ञासा में हुआ है विभिन्न सामाजिक घटनाओं में

जिज्ञासा से नए–नए सामाजिक विज्ञानों का जन्म हुआ। अस्तु, अज्ञात के प्रति जिज्ञासा सामाजिक अनुसंधान की एक मूल प्रेरणा है।

(2) सामाजिक समस्याओं के कार्य कारणों को जानने की इच्छा– विज्ञान मानव की इस आस्था पर आधारित है कि सभी घटनाओं के मूल में कुछ–न–कुछ कार्य–कारण सम्बंध निहित होते हैं। मनुष्य सब कहीं इन कार्य–कारण सम्बंधो को जानने का प्रयास करते हैं। विभिन्न विज्ञानों ने तथा कई वैज्ञानिकों ने अतीत काल से ही कार्य–कारण सम्बन्धों का पता लगाने के लिए असीम मानव शक्ति व्यय की है। इन प्रयासो से अनेक समस्याएं हल हुई हैं, अनेक अनिश्चितताओं का स्थान निश्चित तथ्यों ने ले लिया है और सामाजिक प्रक्रियाओं के मूल में काम करने वाले अनेक कारकों का पता चला है। सब कहीं वैज्ञानिक केवल घटनाओं का वर्णन ही नहीं बल्कि उनकी व्याख्या भी करना चाहते हैं। यह व्याख्या घटनाओं में निहित कार्य–कारण सम्बन्धों के आधार पर की जाती है। अस्तु, कार्य–कारण को समझने की व्यापक इच्छा सामाजिक अनुसंधान में एक प्रमुख प्रेरक तथ्य है।

(3) नवीन और अप्रत्याशित परिस्थितियों का अध्ययन– मनुष्य के सामाजिक जीवन में समय–समय पर अनेक नवीन और अप्रत्याशित परिस्थितियां उत्पन्न होती रहती हैं। जिनके कारण समाज वैज्ञानिक बराबर सामाजिक अनुसंधान में लगे रहते हैं। यदि ये न हो तो सामाजिक अनुसंधान को प्रेरणा न मिले।

(4) विधियों और प्रविधियों के ज्ञान की इच्छा– सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करने के लिए विभिन्न प्रकार की विधियां और प्रविधियां प्रयोग में लाई जाती हैं। नई–नई विधियों और प्रविधियों का पता लगाने की प्रेरणा से समाज विज्ञानों में बराबर अनुसंधान होते रहते हैं। ये भी सामाजिक अनुसंधान है और इनकी सहायता से महत्वपूर्ण विधियों का पता लगा है। उदाहरण के

लिए आधुनिक काल में सामाजिक अनुसंधान में सांख्यिकी विधियों के उपयोग के विषय में आधुनिक प्रयास किया गया है।

BASIC ASSUMPTIONS OF SOCIAL RESEARCH

(1) **निश्चित क्रम**– सामाजिक अनुसंधान की मान्यता यह है कि सामाजिक घटनाएं अचानक घटित नहीं होती। उनका निश्चित क्रम होता है। कोई भी सामाजिक घटना स्वतंत्र नहीं होती। वह किसी अन्य घटना पर आधारित होती हैं। भविष्य के बारे में अनुमान लगाने के लिए घटनाओं का ज्ञान होना आवश्यक है।

(2) **कार्य–कारण का सम्बन्ध**– सामाजिक घटनाओं में कार्य–कारण का सम्बन्ध होता है। सामाजिक अनुसंधान इसी सम्बन्ध की खोज करता है। सामाजिक अनुसंधान यह मानकर चलता है कि सामाजिक घटनाओं के कुछ कारण होते हैं। यदि हम चाहते हैं कि एक विशेष सामाजिक घटना न घटित हो तो हमें उस कारण का पता लगाकर उसका निराकरण करना चाहिए।

(3) **समान तत्वों के आधार पर वर्गीकरण**– सामाजिक घटनाओं के तथ्य नितान्त अलग नहीं होते अर्थात बिल्कुल स्वतंत्र नहीं होते। अनेक तथ्यों में समानता होती है। इस समानता के आधार पर उनका वर्गीकरण सम्भव है। ये वर्ग घटना के समान तत्वों के आधार पर बनते हैं।

(4) **प्रतिनिधित्व**– यदि समाज में कुछ इकाईयों को चुन लिया जाए तो वे सम्पूर्ण समाज का प्रतिनिधित्व कर सकतीं हैं। इस प्रकार बने हुए निर्देशों का अध्ययन सारे समाज पर लागू किया जा सकता है। यदि सामाजिक अनुसंधान की यह मान्यता न हो तो अनुसंधान लगभग असम्भव ही है।

1– जी0के0 अग्रवाल, एस0के0 मुकर्जी, के0के0 गुप्ता, "सामाजिक अनुसंधान एवं सांख्यिकी" पृष्ठ संख्या–29, 30। कमल प्रकाशन, आगरा।

(5) तटस्थता– सामाजिक अनुसंधान में अनुसंधानकर्ता सामाजिक घटना का एक अंग होता है। उसकी भावनाएं, दृष्टिकोंण आदि अनुसंधान को प्रभावित करते हैं। परन्तु वैज्ञानिक अध्ययन में रुकावट पैदा करती हैं। अतः अनुसंधानकर्ता तटस्थ रहकर अनुसंधान करता है। तटस्थ अनुसंधान कठिन होते हुए भी सम्भव है।

सामाजिक अनुसंधान की उपयोगिता

सामाजिक अनुसंधान का एक वैज्ञानिक प्रणाली के रूप में बड़ा महत्व है। उसमें विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टिकोंण से समाज का अध्ययन होता है। सामाजिक अनुसंधानकर्ता सामाजिक समस्याओं का निष्पक्ष विश्लेषण करता है।इस प्रकार सामाजिक अनुसंधान में सामाजिक घटनाओ के विषय में विश्वसनीय साम्रगी प्राप्त होती है जिसके आधार पर सामान्य नियम निकाले जा सकते है और उनके विषय में भविष्यवाणी की जा सकती है। अनुसंधान का उददे्श्य तत्काल या विलम्व से सामाजिक जीवन को समझना है और उसके द्वारा सामाजिक व्यवहार पर अधिक नियन्त्रण प्राप्त करना हैं। इस प्रकार यद्यपि सामाजिक अनुसंधान का मानव–कल्याण से कोई प्रत्यक्ष संबधं नहीं है परन्तु अप्रत्यक्ष रूप में उसका ज्ञान मानव–कल्याण में महत्वपूर्ण सहायता प्रदान करता है। संक्षेप में सामाजिक अनुसंधान की उपयोगिता के विषय में निम्नलिखित बातें कहीं जा सकतीं हैं–

(1) नवीन ज्ञान की उपलब्धि– रेडमैन तथा मोरी ने कहा है कि ''नवीन ज्ञान प्राप्त करने के लिए व्यवस्थित प्रयत्न को हम अनुसंधान कहते हैं'' इस प्रकार सामाजिक अनुसंधान का सबसे बड़ा महत्व नवीन ज्ञान की उपलब्धि में है। इससे मानव समाज की निरन्तर प्रगति होती रहती है। सामाजिक अनुसंधान में मुख्य प्रेरणा जिज्ञासा है और उसके मुख्य लाभ इस जिज्ञासा की शान्ति है।

(2) अज्ञान को दूर करना– सामाजिक अनुसंधान के अभाव मे

विभिन्न क्षेत्रों में अनेक विषयों के बारे में व्यापक अज्ञान दिखलाई पड़ता है। सामाजिक अनुसंधान इस अज्ञान को दूर करने में सहायक होता है। उदाहरण के लिए अपराध के क्षेत्र में सामाजिक अनुसंधान होने के पहले अपराध के कारण ज्ञात नहीं थे। सामाजिक अनुसंधान से अपराध के सामाजिक कारणों के विषय में अज्ञान दूर हुआ। सच तो यह है कि मानव समाज की अधिकतर समस्याएं विशिष्ट क्षेत्रों में अज्ञान पर आधारित हैं और इस अज्ञान को दूर करना इन समस्याओं के सुलझाव की ओर निश्चित कदम है। जे0 सी0 मरियम के शब्दों में, "आज हम जिन कठिनाइयों का सामना करते हैं उनमें से अधिकतर अज्ञान के कारण हैं। इन परिस्थितियों के उपचार सामाजिक अनुसंधान में निहित हैं।"

(3) **अन्धविश्वास मिटाना**– मानव समाज के विभिन्न क्षेत्रों में अज्ञान के कारणों को मिटाना तथा रुढ़िवादिता को समाज से समाप्त करना सामाजिक अनुसंधान का प्रमुख उद्‌देश्य है।

(4) **सामाजिक समस्याओं का विश्लेषण**– सामाजिक समस्याओं को सुलझाने के लिए सबसे पहले उनका विश्लेषण करके उनमें निहित कारकों को पहचानना आवश्यक है ताकि उनका नियंत्रण करके समस्याओं का समाधान किया जा सके। अन्य व्यक्ति जो विश्लेषण करता है वह निष्पक्ष नहीं होता, उसके मूल में अनेक प्रकार के पूर्वाग्रह और अंधविश्वास काम करते रहते हैं। सामाजिक अनुसंधान से दोनों प्रकार के सामाजिक तनावों जैसे जातिवाद, प्रजातिवाद, क्षेत्रवाद, भाषावाद, सम्प्रदायवाद आदि के मूल में निहित कारक स्पष्ट हुए हैं। और इनकी समस्याओं का निष्पक्ष विश्लेषण हो सका है।

(5) **जिज्ञासा की पूर्ति**– सामाजिक अनुसंधान में मूल प्रेरणा जिज्ञासा है। मनुष्य एक सामाजिक परिवेश में रहता है और इस सामाजिक परिवेश की विभिन्न घटनाओं को समझने के लिए सदैव जिज्ञासु रहता है । यह जिज्ञासा सामाजिक अनुसंधान की सहायता से पूरी की जाती है ।

(6) **विश्वसनीय ज्ञान प्रदान करना–** सामाजिक धटनाओं के विषय में सामान्य लोगों मे जो विचार प्रचलित होते हैं वे विश्वसनीय नहीं होते है और उनके आधार पर किसी प्रकार का कोई आयोजन नहीं किया जा सकता। सामाजिक अनुसंधान समाज के विभिन्न क्षेत्रों में विश्वसनीय ज्ञान प्रदान कराता है। सामाजिक अनुसंधान में वैज्ञानिक विधि का प्रयोग किया जाता है और इसीलिए उससे प्राप्त निष्कर्ष वैज्ञानिक होते है। इस विश्वसनीय ज्ञान के आधार पर समाज सुधार को आगे बढ़ाया जा सकता है।

(7) **समाज का वैज्ञानिक अध्ययन–** सामाजिक अनुसंधान की सहायता से समाज के विभिन्न अंगों, घटनाओं और प्रक्रियाओं का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है। वैज्ञानिक अध्ययन नियन्त्रित परिस्थतियों में अध्ययन है, और इसीलिए उससे मिली हुई सामग्री में यथार्थता अधिक होती है।

(8) **भविष्यवाणी करने में सहायता–** सामाजिक अनुसंधान के द्वारा मिले इस ज्ञान के आधार पर सामाजिक घटनाओं की दिशा के विषय में भविष्यवाणी करने की सामर्थ से भावी दुर्घटनाओं के विषय में पहले से ही सावधानी बरती जा सकती है। भविष्यवाणी संभव होने के कारण हम विशेष परिस्थितियों में विशेष परिणामों के लिए पहले ही तैयार रहते हैं और इनके घटित होने पर हमें कोई आश्चर्य नहीं होता, इस प्रकार भविष्य का आयोजन सम्भव हो पाता है। जैसे–जैसे सामाजिक अनुसंधान का क्षेत्र बढ़ता गया वैसे–वैसे सामाजिक घटनाओं के विषय में भविष्यवाणी का क्षेत्र भी व्यापक होता चला गया और इन घटनाओं का नियन्त्रण करने में आसानी हुई।

(9) **व्यवहारिक सफलता–** भविष्यवाणी करने की सामर्थ्य सामाजिक विज्ञानों को व्यवहारिक सफलता की ओर ले जाती है। जब हम घटना का ज्ञान पहले ही ज्ञात कर सकते हैं तो हम उस प्रकार उसको सफलतापूर्वक मोड़ सकते हैं।

इस प्रकार सामाजिक अनुसंधान मनुष्य की सामाजिक प्रक्रियाओं में महत्वपूर्ण योगदान देता है। इनके आधार पर सबसे पहले हमें ज्ञान प्राप्त होता है और फिर इस ज्ञान का व्यवहारिक प्रयोग सामाजिक समस्याओं को सुलझाने और भविष्य का आयोजन करने में किया जाता हैं। मनुष्य की भावी सामाजिक प्रगति बहुत कुछ सामाजिक अनुसंधान की प्रगति पर आधारित है।

पारिवारिक अनुसंधान-

समाजशास्त्र को वैज्ञानिक स्तर पर लाने का श्रेय पारिवारिक अनुसंधान को है पारिवारिक अनुसंधान का इतिहास समाजशास्त्र से कहीं अधिक पुराना है। पारिवारिक अनुसंधान समाजशास्त्र के अतिरिक्त अन्य सामाजिक विज्ञानों में भी प्रयोग किया जाता हैं। वास्तव में पारिवारिक अनुसंधान वैज्ञानिक विधि का दूसरा नाम है। पारिवारिक अनुसंधान की विभिन्न परिभाषाओं से इस बात की पुष्टि होती है कि मानव समाज का इतिहास परिवार का ही इतिहास है क्योंकि मानव जीवन के प्रारंभ से ही परिवार उसके साथ है और किसी न किसी रूप में सांस्कृतिक विकास एवं अनुसंधान सभी स्तरों पर पाया जाता है पारिवारिक अनुसंधान से पारिवारिक नियम एवं इसकी विशेषताओं की वास्तविक रूप से पहचान की जा सकती है। पारिवारिक अनुसंधान के द्वारा पारिवारिक समस्याओं का समाधान किया जा सकता है परिवार मानव अनुभवों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुंचाता है। यदि प्रत्येक पीढ़ी में प्रत्येक बालक को मानव अनुभवों और सभ्यता की सम्पूर्ण प्रक्रिया को फिर से दोहराना पड़े और और प्रत्येक वस्तु का नए सिरे से अनुसंधान करना पड़े तो शायद मनुष्य जंगली अवस्था में ही बना रहेगा। परिवार मानव अनुभवों को पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित करता है। इससे सभ्यता का विकास भी सरल हो जाता है।

पारिवारिक अनुसंधान परिवारों के सदस्यों के मनोरंजन की व्यवस्था भी करता है। सामाजिक जीवन के एक प्रमुख आधार के रूप में परिवारिक अनुसंधान के महत्वपूर्ण कार्य होते हैं।

BASIC ASSUMPTIONS OF FAMILY RESEARCH

(1) **यौन–व्यवहारों का नियमन–** परिवार वह प्रमुख संस्था है जिसके द्वारा मानव की यौन–क्रियाओं का नियन्त्रण और नियमन होता है। मानव की एक मौलिक आवश्यकता यौन–इच्छा भी है। इसकी पूर्ति किसी–न–किसी रूप में अवश्य होना चाहिए। यौन–व्यवहारों के नियन्त्रण में परिवार का मुख्य हाथ रहता है। वास्तव में यह परिस्थिति सामाजिक नियन्त्रण का ही एक भाग है।

(2) **सदस्यों की सामान्य देख–रेख–** परिवार अपने सदस्यो की सामान्य रूप से देख–रेख भी करता है और इस रूप में वह सामाजिक नियंत्रण के एक प्रमुख साधन के रूप में सिद्ध होता है। प्रत्येक सदस्य को अपने व्यवहारों को करते समय यह ध्यान रखना पड़ता है कि कहीं उसके व्यवहार से परिवार के दूसरे सदस्य को कोई कष्ट तो नहीं हो रहा है। इस रूप में पारिवारिक अनुसंधान की महत्ता प्रकट होती है। जिसके द्वारा हम परिवार के विभिन्न पहलुओं पर विश्लेषण कर सकते हैं और सफलता पूर्वक पारिवारिक अनुसंधान को पूर्ण करने में सहायता मिलती है।

(3) **समाजीकरण द्वारा नियंत्रण–** पारिवारिक अनुंसधान के द्वारा समाजीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाया जा सकता है। जीवन पर्यन्त समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा व्यक्तित्व एवं चरित्र का निर्माण होता है। पारिवारिक अनुसंधान एवं प्राणीशास्त्रीय अनुसंधानों के आधार पर जब बच्चा परिवार में जन्म लेता है तो उसमें कई प्रकार के पारिवारिक, सामाजिक, नैतिक, चारित्रिक एवं मनोवैज्ञानिक गुणों का विकास किया जा सकता है। अनुसंधानों से यह सिद्ध हुआ है कि परिवार से बाहर रहने वाले बच्चों में सामाजिक गुणों का विकास नहीं हो पाता। यह परिवार ही है जो बच्चों में सामाजिकता लाता है।

बच्चे के जन्म लेने के पश्चात जब बच्चा कुछ–कुछ व्यवहार सीखता

है तो माता–पिता या अन्य सदस्य उसके व्यवहारों को सुधारते हैं एवं नियमित करते हैं। उदाहरणार्थ, जब बच्चा किसी गलत आदत की नकल करता है, तो उसे ऐसा न करने के लिए कहा जाता है। अक्सर बड़े सदस्यों को गाली या बुरा शब्द कहते देखकर बच्चा भी वही करने लगता है जिस पर उसको माँ या पिता की डांट व फटकार पड़ती है। इससे वह उस बात को दुबारा करने से भय खाता है। इसी प्रकार यदि कोई बच्चा अनुकरण के आधार पर चोरी आदि करना सीख जाता है तो परिवार ही उसकी इस आदत को सुधारता है। पारिवारिक अनुसंधानों के आधार पर इस बात का विश्लेषण किया गया कि समाज में प्रचलित आदर्श, रूढ़ियाँ, प्रथाओं, परम्पराओं आदि का ज्ञान उसे परिवार के द्वारा ही प्राप्त होता है। जो कि उसके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बन जाते है। पारिवारिक अनुसंधान के आधार पर हम कह सकते हैं कि परिवार में व्यक्ति केवल इन आचार, विचार, प्रथा, परम्परा, रूढ़ि आदि को सीखता नहीं, वरन उनका पालन भी करना सीखता है और उसको पालन भी करना पड़ता है क्योंकि इनका न करना समाज–विरोधी व्यवहार या कार्य समझा जाता है और ऐसा करने पर व्यक्ति को अपने माता–पिता, पति–पत्नी, भाई–बहिन और सामज के अन्य लोगों द्वारा अपमान, तिरस्कार, निन्दा या कोप का पात्र बनना पड़ता है। स्वभावतः जो उसके प्रियजन हैं, और जिनके बीच उसे अपने जीवन का अधिकतर समय बिताना पड़ता है, उनके द्वारा तिरस्कार या निन्दा का डर उसे सदैव ही समाज–विरोधी कार्यों को करने से रोकता है। इस प्रकार पारिवारिक अनुसंधान इस कार्य में सहायक सिद्ध होता है।

(4) पारिवारिक गुणों का विकास करके– पारिवारिक अनुंसधान की विधियों के द्वारा पारिवारिक गुणों के विकास का मूल्यांकन तथा अवलोकन किया जा सकता है। पारिवारिक गुणों में सहयोग, आत्म–त्याग, अनुकूलन, कर्तव्य और आज्ञा–पालन तथा परोपकारिता जैसे गुणों की क्रमोत्तर वृद्धि की जा सकती है।

(5) **कर्तव्य–पालन की आज्ञा का विकास करके–** पारिवारिक अनुसंधान के आधार पर यह स्पष्ट हुआ है कि परिवार मे ही बच्चे कर्तव्य पालन और आज्ञा–पालन की शिक्षा प्राप्त करते हैं। माता और पिता बच्चे के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं, बच्चा यह सभी देखता है और उसके अन्दर भी यही गुण विकसित हो जाते हैं जो कि उसे एक आदर्श नागरिक बनने में सहायता प्रदान करते हैं क्योंकि समाज के बाहर जितने भी प्रकार के सम्बन्ध होते हैं वे किसी न किसी रूप में आदेश देने वाले व आदेश मानने वाले सम्बन्ध होते हैं। ऐसे सम्बन्धों का विकास करने के लिए परिवार ही मानसिक रूप से तैयार करता है। जिसका कि अध्ययन वैज्ञानिक रूप में पारिवारिक अनुसंधान द्वारा ही सम्भव हुआ है।

(6) **शिक्षात्मक कार्यों के द्वारा–** पारिवारिक अनुंसधान के द्वारा यह स्पष्ट हुआ है कि परिवार के शिक्षात्मक कार्यों के द्वारा बच्चे को एक आदर्श नागरिक बनाने में मदद मिलती है। जिससे कि समाज में सुव्यवस्था और शान्ति स्थापना में सहायता मिलती है। कूले ने परिवार को प्राथमिक समूह के रूप में माना है जो कि बच्चे को एक आदर्श नागरिक बनाता है। पारिवारिक अनुसंधान के आधार पर हम कह सकते हैं कि बच्चा नागरिकता का प्रथम पाठ माँ के चुम्बन और पिता के आलिंगन में ही सीखता है। यह नागरिकता की पाठशाला बच्चे को एक आदर्श नागरिक बनाती है।

(7) **विवाह सम्बन्धी नियंत्रण–** पारिवारिक अनुंसधान के आधार पर विभिन्न समाजशास्त्रियों के द्वारा कहा गया है कि परिवार अपने सदस्यों पर अनेक विवाह सम्बन्धी नियंत्रण भी लागू करता है। परिवार ही यह निश्चित करता है कि विवाह कब, किससे और कैसे करें। परिवार हमें यह बताता है कि हमें किस आयु में विवाह करना चाहिए।

(8) आर्थिक ढांचे की धुरी– पारिवारिक अनुंसधान के आधार पर हम कह सकते हैं कि परिवार आर्थिक ढांचे की धुरी है और इस रूप में वह सामाजिक नियंत्रण का एक महत्वपूर्ण साधन है। परिवार ही अपने सदस्यों का आर्थिक जीवन निश्चित करता है। सम्पत्ति का उत्तराधिकारी कौन होगा या किस–किस को कितनी सम्पत्ति मिलेगी। यह परिवार ही निश्चित करता है। आयु लिंग और शारीरिक क्षमता के अनुसार परिवार ही सदस्यों में श्रम–विभाजन करता है। सरल व छोटे समाजों में परिवार का यह कार्य विशेष महत्व का है। यद्यपि आधुनिक समाज में इसकी स्थिति इसके विपरीत है। इस आधार पर कह सकते हैं कि परिवार हमारे आर्थिक ढांचे की धुरी है और इसी के ऊपर हमारी पारिवारिक व्यवस्था निर्भर करती है।

पारिवारिक अनुसंधान की उपयोगिता-

परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है तथा समाज और उसके विभिन्न भाग भी प्रकृति का ही अंग हैं, अतः परिवर्तन के नियम समाज पर भी समान रूप से लागू होते हैं। समाज की आधारभूत इकाई परिवार है और यह परिवार भी परिवर्तन से परे नहीं है। पारिवारिक अनुसंधान के द्वारा मानव इतिहास में समय–समय पर परिवर्तन होता रहता है पर इसका रूप या स्वरूप सदा एक–जैसा नहीं रहता है। दूसरें शब्दों में, इसमें भी समय–समय पर परिवर्तन होता रहता है। आधुनिक समय में यह परिवर्तन महत्वपूर्ण है क्योंकि यह युग औद्योगिक है। इसके पहले परिवार कृषि–युग में था। कृषि–युग की संस्कृति, सभ्यता आचार–विचार आदर्श आज जैसे नहीं थे। पर आधुनिक युग में औद्योगीकरण के कारण इन सब में काफी परिवर्तन आ रहे हैं और इन परिवर्तनों का महत्वपूर्ण प्रभाव परिवार के स्वभाव पर पड़ा है। पारिवारिक अनुसंधान के आधार पर यह निष्कर्ष निकाले गए हैं कि आज परिवार की नियंत्रण शक्ति इतनी प्रभावशाली नहीं रह गई है। जितनी कि पहले थी। दूसरे शब्दों में, सामाजिक नियंत्रण के एक साधन के

रूप में परिवार का महत्व आज काफी कम हो गया है। निष्कर्षों के आधार पर ज्ञात परिणामों से यह बात पूर्णतः विश्लेषण की कसौटी पर खरी उतरी है।

समाज वैज्ञानिकों द्वारा किए गए पारिवारिक अनुंसधानों के आधार पर यह विदित होता है कि समय के साथ परिवार के कार्यों में भी अनेक परिवर्तनों ने जन्म ले लिया है। पहले परिवार स्वयं पूर्ण होता था और अपनी सारी प्राथमिक और द्वैतियक आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं ही कर लेता था परन्तु आज ये सभी कार्य, विशेषकर आर्थिक कार्य बाहर की विशेष समितियां करती हैं और हमारे परम्परागत कार्य भी अन्य समितियां और संस्थाएं करने लगी हैं।

सामाजिक तथा पारिवारिक अनुसंधान वैज्ञानिक विधि पर आधारित है। इस दृष्टि से इसकी प्रकृति वैज्ञानिक है। इसके अन्दर केवल वास्तविक और यथार्थ तथ्यों का समावेश होता है। अनुसंधान वैज्ञानिक विधि की सहायता से सामाजिक तथा पारिवारिक ज्ञान की वृद्धि करता है। इसके द्वारा हम जनपद के सामाजिक तथा पारिवारिक तथ्यों के पारस्परिक सम्बंधों तथा प्रक्रियाओं के बारे में यथार्थ जानकारी प्राप्त करते हैं।

विज्ञान का संबंध यथार्थ ज्ञान से है, जो सामाजिक तथा पारिवारिक अनुसंधान की प्रकृति पर भी लागू होता है। अनुसंधान नए ज्ञान की खोज और उपलब्ध ज्ञान के पुनः परीक्षण के लिए क्रियाशील रहता है। वह किसी सामाजिक तथा पारिवारिक समस्या के कारणों को ज्ञात करने और उसके निदान तक ही सीमित नहीं है।

सामाजिक तथा पारिवारिक अनुसंधान में उन प्रक्रियाओं का अध्ययन किया जाता है जो समुदाय के रहने वाले लोगों के जीवन में क्रियाशील रहती है। इसके लिए तथ्यों का संकलन, वर्गीकरण, निरीक्षण और परीक्षण को अपनाया जाता है। इस प्रकार सामाजिक तथा पारिवारिक अनुसंधान वैज्ञानिक विधि के अनुसार

सम्पन्न होता है। अतः सामाजिक तथा पारिवारिक अनुसंधान की प्रकृति वैज्ञानिक है। यह कार्य–करण के सम्बन्धों की व्याख्या द्वारा समाज तथा परिवार विषयक भविष्यवाणी कर सकता है। समाज तथा परिवार में प्रचलित मान्यताओं, रूढ़ियों, प्रथाओं, परम्पराओं आदि का विश्लेषण सामाजिक तथा पारिवारिक अनुसंधान के लिए महत्वपूर्ण तथ्य हैं।

इस सम्बंध में अनेक मतभेद भी हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार, सामाजिक तथा पारिवारिक अनुसंधान की प्रकृति वैज्ञानिक नहीं है, क्योंकि इसमें प्राकृतिक विज्ञानों की भांति भविष्यवाणी नहीं कर सकते। प्राकृतिक विज्ञानों के अनुसार सामाजिक तथा पारिवारिक अनुसंधान के परिणामों को तभी विश्वसनीय माना जा सकता है जबकि इसमें प्राकृतिक विज्ञानों की भांति पद्धतियों का अनुकरण किया जाए। विशेषतः भौतिकशास्त्र का। इसमें सन्देह नहीं कि सामाजिक अनुसंधान के परिणाम प्राकृतिक विज्ञानों के परिणामों की भांति सार्वभौमिक और सार्वकालिक नहीं होते। इसके मूल में दो कारण हैं– सर्वप्रथम, सामाजिक तथा पारवारिक अनुसंधान मानव समाज तथा उसके परिवार से सम्बंधित है। जिसकी संरचना में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। द्वितीय, मनुष्य एक चेतन प्राणी है। भौतिक पदार्थों की भांति, मानव स्वभाव के बारे में तथा परिवार के बारे में कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। यही कारण है कि सामाजिक तथा पारिवारिक अनुसंधान की पद्धतियां, प्राकृतिक विज्ञानों की पद्धतियों की भांति स्पष्ट नहीं है। सामाजिक तथा पारिवारिक अनुसंधान के क्षेत्र में यदि प्राकृतिक विज्ञानों की पद्धति को अपनाए तो अनेक व्यवहारिक कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं। फिर भी प्राकृतिक विज्ञानों की अनेक कार्य–प्रणालियों को सामजिक तथा पारिवारिक अनुसंधान के क्षेत्र में अपनाया गया है। इससे सामाजिक तथा पारिवारिक अनुसंधान में यथार्थता बढ़ी है। फलस्वरूप परिस्थिति विशेष के संदर्भ में सामाजिक तथा पारिवारिक अनुसंधान के परिणाम सही होते हैं। अतः इस आधार पर हम कह सकते हैं कि सामाजिक तथा पारिवारिक अनुसंधान की प्रकृति वैज्ञानिक है।

प्रत्येक कार्य का एक निश्चित प्रयोजन और उद्देश्य होता है। सामाजिक तथा पारिवारिक अनुसंधान इसका अपवाद नहीं है। इसके उद्देश्यों को सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दो श्रेणियों में बांट सकते हैं जो इसके महत्व को भी दर्शाते हैं–

सैद्धान्तिक उद्देश्य -

सामाजिक तथा पारिवारिक अनुसंधान के सैद्धान्तिक उद्देश्य निम्न प्रमुख हैं–

(1) ज्ञान की वृद्धि– सामाजिक तथा पारिवारिक अनुसंधान मूल रूप से मनुष्य के समाज तथा परिवार सम्बन्धी ज्ञान की वृद्धि करता है। इसके माध्यम से हमें सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन में कार्यशील अनेक प्रक्रियाओं का ज्ञान होता है।

(2) सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन की व्याख्या– एक साधन के रूप मे जब अनुसंधान का उपयोग समाज तथा परिवार पर किया जाता है, तो सम्पूर्ण सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन इसकी विषय–वस्तु बन जाती है। इस दृष्टि से सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन की व्याख्या करना भी सामाजिक तथा पारिवारिक अनुसंधान का मुख्य उद्देश्य है।

(3) तथ्यों का स्पष्टीकरण– हमारा सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन अनेक तथ्यों द्वारा प्रभावित होता है। इन तथ्यों को स्पष्ट करना भी सामाजिक तथा पारिवारिक अनुसंधान का उद्देश्य है।

(4) सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन की जानकारी– सामाजिक तथा पारिवारिक अनुसंधान का तात्कालिक और दूरस्थ उददेश्य सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन को समझना है। इसके माध्यम से हम सामाजिक तथा पारिवारिक घटनाओं और उनके निर्धारक कारकों का अध्ययन करते हैं। फलस्वरूप हमें सामाजिक

तथा पारिवारिक विषयक ज्ञान की वृद्धि होती है।

(5) भविष्यवाणी– सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन के बारे में भविष्यवाणी करना भी सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन का उद्देश्य है। पॉल लेजरफील्ड व मॉरिस रोजेनवर्ग के शब्दों में– "अनेक अनुसंधानों का उद्देश्य निर्धारित परिस्थितियों के अर्न्तगत, विशेष प्रकार के व्यवहार के बारे में भविष्यवाणी को सम्भव बनाना है।"

व्यावहारिक उद्देश्य -

सैद्धान्तिक उद्देश्यों के साथ–साथ, सामाजिक तथा पारिवारिक अनुसंधान में अनेक व्यवहारिक उद्देश्यों का भी समावेश होता है। इनमे प्रमुख निम्न प्रकार हैं–

(1) मानव कल्याण में वृद्धि– मानव समाज अनेक अवैज्ञानिक विचारों से प्रभावित है। यथा प्रजातिवाद, साम्प्रदायिकता आदि। इन समस्याओं का अस्तित्व समाज तथा परिवार विषयक ज्ञान की कमी के कारण सामाजिक तथा पारिवारिक अनुसंधान समाज तथा परिवार के बारे में स्वस्थ्य ज्ञान का विकास करता है। इस प्रकार इसका प्रमुख लक्ष्य परोक्षरूप में मानव कल्याण की वृद्धि करना है।

(2) सामाजिक तथा पारिवारिक नियंत्रण– समाज तथा परिवार में निरन्तर परिवर्तनों से मानव व्यवहार प्रभावित होता है। सामाजिक तथा पारिवारिक परिवर्तनों का प्रभाव मानव पर प्रतिकूल न पड़े, जो सामाजिक तथा पारिवारिक नियंत्रण का कार्य करते हैं। इस प्रकार सामाजिक तथा पारिवारिक नियंत्रण में वृद्धि भी अनुसंधान का एक प्रमुख उद्देश्य है।

(3) नियोजित परिवर्तन– समाज तथा परिवार की प्रगति के लिए नियोजित परिवर्तन आवश्यक है। सामाजिक तथा पारिवारिक अनुसंधान द्वारा उन कारकों की खोज होती है, जो नियोजित परिवर्तन में सहायक होते हैं।

(4) वैज्ञानिक उन्नति– सामाजिक तथा पारिवारिक अनुसंधान द्वारा समाज तथा परिवार विषयक वैज्ञानिक ज्ञान की वृद्धि होती है। इससे वे सभी विज्ञान लाभान्वित होते हैं जिसका समाजशास्त्र से निकट सम्बन्ध है।

(5) सामाजिक तथा पारिवारिक समस्याओं का विश्लेषण और निदान– सामाजिक तथा पारिवारिक अनुसंधान द्वारा विभिन्न सामाजिक तथा पारिवारिक समस्याओं का विश्लेषण भी होता है। इससे समस्याओं का निदान सरल हो जाता है।

किसी भी अनुसंधान कार्य की कठिनाइयां उसकी विषय–वस्तु पर आधारित होती हैं सामाजिक तथा पारिवारिक अनुसंधान में अध्ययन की विषय–वस्तु मानव समाज तथा परिवार है, जिसमें रहने वाले सदस्य सामूहिक चेतना द्वारा परस्पर सम्बद्ध होते हैं। इनका व्यवहार संस्कृति, प्रथाओं और परम्पराओं द्वारा प्रभावित होता है।

सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन में सभी परिवर्तन होते रहते हैं। इसलिए जनपद में सामाजिक तथा पारिवारिक समस्याओं को उत्पन्न करने देने व कारकों को ज्ञात करने के बाद भी उनके सापेक्षित महत्व को निर्धारित करना कठिन है। सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन में होने वाले परिवर्तनों के फलस्वरूप किसी सार्वकालिक नियम अथवा सिद्धान्त की प्रतिस्थापना में बाधा उत्पन्न होती है। जिस प्रकार सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन बड़ा जटिल है, उसी प्रकार जनपदीय सामाजिक तथा पारिवारिक समस्याओं की प्रकृति भी बड़ी जटिल है,

"The most frequently urged obstacle to a true science of human group behaviour is the complexity of its subject in social problems."

जनपद जालौन के सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन से सम्बंधित, एक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि विभिन्न समस्याओं का स्वरूप विभिन्न काल–क्रमों के अन्तर्गत अलग–अलग है। इसमें एकरूपता का अभाव है, जबकि प्रकृति विज्ञान

के अर्न्तगत, घटनाओं की प्रकृति एवं गुण सदैव समान रहते हैं। विभिन्न काल एवं स्थानों में इनका स्वरूप समान रहता है। लेकिन सामाजिक तथा पारिवारिक समस्याओं का स्वरूप सभी काल तथा समाज की भौतिक परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है। यह इसलिए कि मनुष्य चेतन व सजीव है। जनपद जालौन की सभ्यता व संस्कृति का विकास सदैव समय व स्थिति के अनुरूप होता आया है। इसलिए जनपदीय सभ्यता व संस्कृति प्रत्येक समय में परिवर्तित होती रहती है। जिसका प्रभाव हमारे सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन पर दृष्टिगोचर होता है। हमारे जनपद की सामाजिक तथा पारिवारिक प्रथाएं, परम्पराएं इत्यादि मानवीय भावनाओं के ऊपर आधारित है। मानव का अन्तर्जगत ही इसका केन्द्रीय आधार है। लेकिन प्राकृतिक विज्ञानों के भीतर घटनाओं का उदय, अपने पूर्व प्रक्रम के अनुसार होता है। इसलिए जनपदीय अनुसंधान में घटना के कारणों का प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट अवलोकन किया जाता है। जिससे निष्कर्ष में परिशुद्धता बनी रह सके।

जनपद जालौन में सामाजिक तथा पारिवारिक अनुसंधान एक महत्वपूर्ण एवं समाज तथा परिवार उपयोगी विषय है। जिसके आधार पर हम जनपदीय समाज तथा परिवारों में व्याप्त विविधताओं का अध्ययन एक विशेष सामाजिक तथा साहित्यिक परिपेक्ष्य में करते हैं। जिससे कि जनपद के परिवारों की विशेषताओं का अध्ययन सरलता पूर्वक किया जा सके। सामाजिक तथा पारिवारिक अनुसंधान के द्वारा संवेगात्मक, आवेगात्मक, ज्ञानात्मक, भावात्मक एवं क्रियात्मक विचारधारा कों जनपद के विभिन्न ग्रामों, ब्लाकों कस्बों एवं अर्ध–विकसित नगरों में अनुसंधानी धारा को विकसित कर सकें जिसका कि प्रभाव जनपद के विभिन्न व्यक्तियों पर पड़े तथा उसी के अनुरूप उनके सामाजिक तथा पारिवारिक स्वरूप का विकास हो सके। शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षक एवं शिक्षिकाएं विद्यार्थियों में चेतन्य अनुभूति का विकास कर सकें।

सामाजिक तथा पारिवारिक अनुसंधान के आधार पर ज्ञात हुआ कि

सृजनात्मकता का हमेशा अभाव रहा है। सृजनात्मकता को विकसित करने के लिए अभूतपूर्व एवं अपबिन्दुता चिन्तन महिला शिक्षिकाओं को हमेशा करते रहना चाहिए जो कि विद्यार्थियों एवं समाज के लिए उपयोगी होता है। सृजनात्मकता के सहायक कारक हमेशा धनात्मक सामाजिक तथा पारिवारिक अनुसंधानों को विकसित करने के लिए बड़े उपयोगी होते हैं। बालकों के ज्ञान को सृजनकारी बनाने के लिए अनुसंधानी विकास को चिन्तनीय, तार्किक एवं प्रत्यक्षीकरण से युक्त बनाना चाहिए।

सामाजिक तथा पारिवारिक अनुसंधान के द्वारा सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन के उन तथ्यों का चुनाव किया जाता है जो निरीक्षण के समय समस्या की वास्तविकता के ऊपर अधिकाधिक प्रकाश डाल सकें। तथ्यों के इस संग्रहण कार्य के लिए अनुभव एवं समस्या के विभिन्न पहलुओं की जानकारी होना आवश्यक है। जो कि विभिन्न सामाजिक तथा पारिवारिक तथ्यों को स्पष्ट करने में सहायता प्रदान कर सकें। इसका आधार समस्या से सम्बंधित तथ्य तथा स्पष्ट एवं सूक्ष्म कल्पनाशक्ति से है, जो प्रारम्भ में केवल परिणाम की ओर संकेत करती है किन्तु उसकी पुष्टि नहीं करती। इस संदर्भ में हमें उपकल्पनाओं का ज्ञान होना आवश्यक है। जिसके आधार पर हम पूर्व अनुभव व समस्या से सम्बंधित पूर्व विचार की प्रतिस्थापना कर सकें।

(1) "A hypothesis is a tentative generalization, the validity of which remains to be tested. In is most elementary stage, the hypothesis may be any hunch, guess imaginative, idea or intention whatever which becomes the basis for action or investigation."

- George Lundberg

(2) "The formulation of a deduction how ever constitutes a hypothesis. If verified it becomes a part of theoretical construction."

- Good e and Hatt

(3) "...................provisional cental idea which becomes the bias for fruitiful investigation is known as a working hypothesis."

- P. V. Young

(4) "In practice a theory is an elaborate hypothesis which deals with more types or facts than does the simple hypothesis the distinction is not clearly define."

- William George

मानव समाज की सामान्य संस्कृति, जिसमें विज्ञान का विकास होता है उपकल्पनाओ को उत्पन्न करती है। समस्या से सम्बंधित उपलब्ध तथ्य, अनुसंधानकर्ता के रचनात्मक विचार व उसकी सूक्ष्म कल्पनाशक्ति को प्रभावित करते हैं। अपने प्रारम्भिक स्वरूप में उपकल्पना समस्या के प्रति संकेत मात्र है। जनपदीय अनुसंधान में उप–कल्पना की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। उप–कल्पना अनुसंधानकर्ता को मार्ग की निश्चित दिशा बतलाती है और उसे अनावश्यक तथ्यों से बचाती है। सामाजिक तथा पारिवारिक अनुसंधान में उप–कल्पना अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण होती है। इसके आधार पर अनुसंधानकर्ता समस्या के संदर्भ में उसका प्रतिस्थापित विचार कहां तक सत्य है के बारे में अनुमान लगा सकता है। सामाजिक तथा पारिवारिक अनुसंधान में विभिन्न उप–कल्पनाओं के आधार पर समाज तथा परिवार का अध्ययन किया जाता है, जनपदीय सामाजिक तथा पारिवारिक अनुसंधान का मुख्य पहलू घटना की प्रकृति समझना आवश्यक है। क्योंकि सामाजिक घटना की प्रकृति निरन्तर परिवर्तित होती रहती है। इस आधार पर घटना की प्रकृति का महत्वपूर्ण योगदान होता है। चूंकि सामाजिक तथा पारिवारिक घटनाओं का क्षेत्र समाज और परिवार है अतः समाज और परिवार मानवीय सह अस्तित्वपूर्ण क्रियाओं, अन्तःक्रियाओं और पारस्परिक सम्बंधों का ज्ञान होना आवश्यक है। क्योंकि बिना घटना के पहलू को समझे हम इसका समाधान नहीं कर सकते।

जनपद जालौन में हुए विभिन्न सामाजिक तथा पारिवारिक अनुसंधानों के आधार पर हम जनपदीय समाज तथा उसकी पारिवारिक प्रथाओं जैसे–रूढ़िवादिता, अज्ञानता, अंधविश्वास, पिछड़ेपन आदि का विश्लेषण वैज्ञानिक विधि के आधार पर कर सकते हैं जिससे कि जनपद की सामाजिक तथा पारिवारिक आस्थाओं तथा विभिन्न पहलुओं के सम्बन्ध में उचित निष्कर्ष ज्ञात किया जा सकता है।

जनपद में हुए अनुसंधानों के आधार पर प्राप्त निष्कर्ष शिक्षा के विकास में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। यदि स्वयंसेवी संगठन, शिक्षा विभाग के अधिकारी तथा बुद्धिजीवी वर्ग के लोग इस दिशा में सार्थक प्रयास करें, क्योंकि अनुसंधानों से प्राप्त निष्कर्ष इस बात को इंगित करते हैं कि शिक्षा के विकास में कौन सी तकनीक सहायक सिद्ध हो सकती है जो पिछड़े क्षेत्र के लोगों में जागरूकता पैदा कर सके। अनुसंधानों पर आधारित शिक्षा से लोगों की समस्याओं को सुलझाने में सहायता मिलती है क्योंकि यह समस्याओं का परिस्थितियों के सन्दर्भ में विभिन्न पहलुओं से अध्ययन कर निवारण करने की कोशिश करती है जिससे कि शिक्षा जनोपयोगी बन सके क्योंकि शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य व्यक्ति व समाज का सर्वांगीण विकास करना है। जिससे कि सभ्य समाज का निर्माण हो सके।

शिक्षिकाओं के पारस्परिक विकास एवं परिस्थितियां

जनपद जालौन का साहित्य और सामाजिक पुर्ननिर्माण का प्रारूप एवं प्रतिछाया मान्यताओं पर केन्द्रित है। सामाजिक पुर्ननिर्माण के अभिकर्ताओं में सुधारवादी समूह, परोपकारी संगठन एवं प्रशासनिक इकाइयां अग्रणी रहीं हैं। शिक्षा का सामाजिक पुर्ननिर्माण में सबसे बड़ा योगदान है। साहित्य सामाजिक पुर्ननिर्माण का महत्वपूर्ण साधन है। शिक्षिकाओं को शिक्षा के क्षेत्र में पारस्परिक सामंजस्य की भावना को विकसित करना चाहिए। महिला शिक्षिकाओं को एक दूसरे के सहयोग एवं जनहित का ध्यान रखते हुए विकासवादी विचारधाराओं को अपनाकर समाज का अंधकार दूर कर पूरे जनपदीय समाज को एक शैक्षणिक वातावरण के प्रारूप मे ढालना चाहिए।

महिला शिक्षिकाओं में सहयोग एवं पारस्परिक विकास की भावना को प्रेरित करना चाहिए। सहयोग सामाजिक जीवन का एक मूलभूत आधार है। इसके अभाव में सामूहिक जीवन, समाज, परिवार और राष्ट्र की कल्पना तक नहीं की जा सकती। महिला शिक्षिकाओं के पारस्परिक सहयोग से छात्र एवं छात्राओं के व्यक्तित्व का विकास एवं अच्छा नागरिक बनाने में योगदान देती हैं जिससे कि राष्ट्र की समृद्धि हो सके तथा योग्य और महत्वपूर्ण नागरिकों का विकास हो सके। इस संदर्भ में महिला शिक्षिकाओं को विशेष प्रयास करना पड़ता है जनपद जालौन में महिला शिक्षिकाओं के पारस्परिक विकास एवं परिस्थितियों में भिन्नता दिखलाई पड़ती है। ग्रामीण एवं शहरी महिला शिक्षिकाओं के विचारों एवं पारस्परिक सहयोग की नीतियों, सोच एवं दृष्टिकोंण में प्रतिस्पर्धा एवं प्रतिकूलता की स्पष्ट झलक दिखलाई पड़ती है। जिसका कि शहरी तथा ग्रामीण महिला शिक्षिकाओं के पारस्परिक विकास एवं परिस्थितियों पर प्रभाव पड़ता है। जिसके अनुरूप उनकी कार्य पद्धति परिवर्तित हो जाती है। प्राथमिक, पूर्व माध्यमिक, माध्यमिक एवं महाविद्यालयी

महिला शिक्षिकाओं की मनोदशा एवं पारस्परिक विकास की भावना समान होना चाहिए। जिससे कि उनका सर्वांगीण विकास हो सके।

पारस्परिक विकास एवं परिस्थितियों को गुणात्तक, परिणात्मक एवं सुधारात्मक लक्षणों को जनपद की विभिन्न तहसीलों एवं ब्लाकों में देख सकते हैं। पारस्परिक विकास द्वारा समाज का पिछड़ापन दूर किया जा सकता है। तथा परिस्थितियों के परिवेश में इस पिछड़ेपन के कारण का विश्लेषण कर सकते हैं। समाज में सहिष्णुता, निर्मलीकरण या युक्तिकरण तथा आत्मसात के लिए विद्यार्थियों को मानसिक, शारीरिक, नैतिक एवं सामाजिक उत्थान के लिए तैयार कर सकते हैं। पारस्परिक विकास तथा परिस्थितयों के द्वारा हम जनपदीय समाज के विचारों उद्देश्यों, दृष्टिकोंणों एवं मनोवृत्तियों में विषमता एवं समता के प्रतिमानों में सुधार कर सकते हैं। चूंकि प्रत्येक व्यक्ति परिस्थिति के अनुरूप ही कार्य करता है तथा उससे सामंजस्य स्थापित करता है, इसका मूल कारण यह है कि परिस्थिति के अनुसार ही मनुष्य को अपना कार्य करना पड़ता है। अगर वह परिस्थिति के प्रतिकूल कार्य करता है तो वह उस परिवेश मे अपने आप को स्थापित नहीं कर सकता। जिससे कि उसका विकास पूर्णतः रुक जाएगा। परिस्थितियों का व्यक्ति के जीवन में महत्वपूर्ण योगदान होता है और उसी के अनुरूप उसका दृष्टिकोंण एवं विकास प्रभावित होता है।

जनपद जालौन के ग्रामीण क्षेत्रों में महिला शिक्षिकाओं को विशेषरूप से उत्तम भावनाओं को विकसित करना चाहिए। परन्तु महिला शिक्षिकाएं पारस्परिक विकास के आदर्शों एवं मूल्यों को स्थापित करने की अवहेलना करती हैं। जिसका प्रभाव सामाजिक, सांस्कृतिक पहलू पर दृष्टिगोचर होता है और विकास के अभाव में महिला शिक्षिकाएं छात्र एवं छात्राओं को अच्छी शिक्षा प्रदान नहीं कर पातीं हैं जिसका प्रभाव छात्र एवं छात्राओं के ऊपर स्पष्टरूप से परिलक्षित होता है। इसलिए महिला शिक्षिकाओं को शिक्षा के क्षेत्र में नैतिक, शैक्षणिक, मौलिक, आर्थिक एवं मनोवैज्ञानिक तथ्यों को छात्र एवं छात्राओं के अन्दर विकसित करना चाहिए।

जो कि जनपदीय सामाजिक ढांचे को परिवर्तित करने के लिए उपयोगी होता है।

पारस्परिक विकास से समाज में निष्पक्षता का जन्म होता है। जिसके फलस्वरूप प्रतिमानों का वर्गीकरण एवं जनरीतियों का विकास होता है। जनपदीय समाज को अग्रसारी एवं विकसित बनाने के लिए महिला शिक्षिकाओं को स्वतंत्र विचारधाराओं के द्वारा सामाजिक बुराइयों को दूर करना चाहिए। विकास प्रयोजनात्मक होना चाहिए। पारस्परिक विकास एवं परिस्थियों के द्वारा छात्रों में यथार्थमयी एवं उचित आत्मनिष्ठ तत्वों और व्यक्तिगत आकांक्षाओं को विकसित करना चाहिए। पारस्परिक विकास वैज्ञानिक पद्धति के रूप में अवलोकन, संकलन तथा विश्लेषण मे महत्वपूर्ण योगदान प्रदान करता है।

जनपद जालौन की महिला शिक्षिकाओं में पारस्परिक विकास की भूमिका का अनुपात विभिन्न तहसीलों एवं ब्लाकों में अलग–अलग है। पारस्परिक विकास की दृष्टि से कोंच तहसील में महिला शिक्षिकाओं का पारस्परिक विकास जालौन एवं कालपी तहसीलों की तुलना में कम है।

पारस्परिक विकास एवं परिस्थितियों के द्वारा विद्यार्थियों में सामाजिक एवं आर्थिक सहभागिता की भावना जाग्रत होती है। महिला शिक्षिकाओं में पारस्परिक विकास से छात्र एवं छात्राओं को अनुशासित एवं सामूहिक प्रतिनिधान जैसी प्रथाएं, रीति रिवाज एवं समूह कल्याण की भावना को प्रोत्साहन मिलता है। यदि महिला शिक्षिकाओं के विचारों में पारदर्शिता की भावना है तो विद्यार्थियों में भी निरंकुश प्रतिमानों को महिला शिक्षिकाओं के द्वारा समाप्त किया जा सकता है। प्राकृतिक एवं सामाजिक सिद्धांत भी पारस्परिक भावना को विकसित करने में विशेष सहायता करते हैं। परम्परा के अनुसार परस्पर विश्वास ही धर्म का आधार है और जीवन का अनुष्ठान। पारस्परिक सहयोग से नम्रता, आदर, अनुभूतियां और उचित भावनाएं एवं संगठन जैसी अलौकिक शक्तियों का गुणात्मक विकास होता है। जो मानव

विकास के लिए महत्वपूर्ण है। पारस्परिक विकास के द्वारा तनाव, घृणा, हिंसा, प्रतिशोध की भावना के स्थान पर समाज में प्रेम तथा आदर के भाव विकसित किए जा सकते हैं।

पारस्परिक विकास से समाज में सांस्कृतिक तत्वों, विचारधाराओं, कर्तव्य परायणता, शान्ति, भाईचारा एवं अनेक कल्याणकारी अधिकारों एवं कर्तव्यों का बोध होंता है। विभिन्न विद्वानों ने पारस्परिक विकास को समाज में विकसित करने में विभिन्न प्रकार के मानसिक, शारीरिक अनुकूलन क्षमताओं को अस्तित्व में लाने के लिए अधिक से अधिक जोर दिया है। विद्वानों की मान्यता है कि पारस्परिक विकास के द्वारा हम एक अच्छे समाज का निर्माण कर सकते हैं।

जनपद जालौन की विभिन्न महिला शिक्षिकाओं का दृष्टिकोंण दर्पण के समान पारदर्शी होना चाहिए। जिससे कि छात्र एवं छात्राओं में पारस्परिक विकास एवं सहयोग के बीज डालकर उन्हें श्रेष्ठ बनाया जा सके तथा उनकों वास्तविक मानवता एवं मानविकी का पाठ पढ़ाकर आत्मनिर्भर तथा आत्मचेतन बनाया जा सके। मौलिक रूप से पारस्परिक विकास वास्तविकता एवं सच्चाई को धीरे–धीरे विकसित करता है। पारस्परिक विकास हमें सामाजिक प्रतिनिधानों को सिखाता है, आत्मसात करता है तथा हमारे जीवन को उज्जवल करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। जिसके द्वारा हम समाज की प्रथाएं, रीति–रिवाज और जीवन के आदर्शों को समाहित कर सकते हैं।

जनपद जालौन में तीन प्रकार की महिला शिक्षिकाओं को पारस्परिक विकास के आधार पर विभाजित किया जा सकता है–

1– पारस्परिक विकास के लिए पूर्ण समर्पित।

2– पारस्परिक विकास के लिए अर्धसमर्पित।

3– पारस्परिक विकास के लिए अल्प समर्पित।

जनपदीय महिला शिक्षिकाओं का अध्ययन करनें पर पाया गया कि जो शिक्षिकाएं वृद्ध एवं सेवानिवृत होने की अवस्था में हैं उनमें पारस्परिक विकास की भावना अधिक है तथा जो नवयुवतियां महिला शिक्षिकाएं हैं उनमें पारस्परिक विकास की भावना कम है। वह अपने कर्तव्य परायणता के लिए पूर्णरूप से समर्पित नहीं हैं। महिला शिक्षिकाएं पारस्परिक विकास की भावना द्वारा जनपद में पायी जाने वाली सामाजिक कुरीतियां, रूढ़िवादी परम्पराएं, अंधविश्वास, विसंगतियां, वैमनष्यता जैसी बुराइयों को समाज से दूर कर सकती हैं। जनपद जालौन के कई ग्रामों में पाया गया कि पारस्परिक विकास एवं परिस्थितियों के द्वारा महिला शिक्षिकाएं विद्यार्थियों का चर्तुमुखी विकास कर सकती हैं।

पारस्परिक विकास एवं परिस्थितियों का आपस में सहसम्बंध है। परिस्थितियां विकास को प्रोत्साहित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। महिला शिक्षिकाओं को पारस्परिक विकास के आधार पर पर्याप्त आत्मविश्वास की जागृति, सजीवता, स्फूर्ति एवं तारतम्य की रूप रेखा शिक्षा जगत में देखी जा सकती है। महिला शिक्षिकाओं का पारस्परिक विकास एवं पारस्परिक सौहार्द विद्यार्थियों के विकास के लिए अत्यंन्त आवश्यक है। विकास एवं परिस्थतियों का आपस में तारतम्य है।

जनपद जालौन में महिला शिक्षिकाओं का पारस्परिक विकास अन्य जनपदों से बिल्कुल भिन्न है क्योंकि प्रत्येक जनपद की विकास प्रक्रिया वहाँ की पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, नैतिक, भौगोलिक एवं आध्यात्मिक परिस्थितियों पर निर्भर करती है। विकास की प्रक्रिया विभिन्न ब्लाकों एवं ग्रामों में अलग–अलग है। क्योंकि विभिन्न ब्लाकों एवं ग्रामों में परिस्थितियों में काफी भिन्नता है। महिला शिक्षिकाओं को सकारात्मक एवं नकारात्मक परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है जो कि उनके आत्मविश्वास का प्रतिनिधित्व करता है। विकास प्रक्रियाओं से अर्जित ज्ञान को वास्तविक जीवन से सम्बंध स्थापित करना चाहिए जो शिक्षिकाओं एवं शिक्षार्थी के विकास के लिए अत्यंत आवश्यक है।

महिला शिक्षिकाओं की विकास की गति हमेशा उत्तरोत्तर एवं क्रमोत्तर होना चाहिए चाहे परिस्थितियां प्रतिकूल हों या अनुकूल, परन्तु महिला शिक्षकाओं को प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपने धैर्य, लगन एवं सच्चाई के साथ विकासात्मक गतिविधियों में संलग्न रहना चाहिए। विकासात्मक सिद्धान्त एवं गतिविधियों पर महिला शिक्षिकाओं को विशेष तौर पर नई विषय–वस्तु का निर्माण करना चाहिए जिससे जनपद के ग्रामीण एवं शहरी परिवार एवं समाज ज्योतिर्मय हो सके।

विकास के आयाम एवं दृष्टिपटल तेजस्वी एवं स्वाभिमान पूर्ण होना चाहिए, जिससे जीवन की उपलब्धियों को समान रूप से जनपद के विभिन्न ग्रामों के विद्यार्थियों में शारीरिक एवं मानसिक आकर्षण उत्पन्न करके विपरीत परिस्थितियों को अनुकूल बनाकर पारिवारिक, सामाजिक एवं आर्थिक समानता का सामन्जस्य स्थापित कर सकें। महिला शिक्षिकाओं का पारस्परिक विकास एवं परिस्थितियों का आपस में उचित एवं सार्थक, दक्ष एवं कुशलतापूर्वक सम्बंध स्थापित कर समाज को प्रगतिशील एवं विकासशीलता के बिन्दुओं पर केन्द्रित करना चाहिए। महिला शिक्षिकाओं के विकास का दृष्टिकोंण सूक्ष्मता, तत्परता एवं सौहार्दता के सिद्धान्तों पर आधारित होना चाहिए।

समय के साथ विकास की गति में परिर्वन आता है। जो कि व्यक्तिवादी समसामायिक सम्बंधों की पृष्ठभूमि पर खरी उतरती है। विकास की गति में विसंगतियों की भयावहता एवं परिवेश को भय से मुक्त तथा आधुनिक मान्यताओं पर केन्द्रित होना चाहिए। महिला शिक्षकाओं के द्वारा विकास को विसंगतियों एवं कुरीतियों, आंतरिक एवं वाहरी घुटन, संगत तथा असंगत जैसे पटाक्षेप से दूर रखना चाहिए। जनपद जालौन में महिला शिक्षिकाओं का पारस्परिक विकास एवं परिस्थितियों का आपस में सहसम्बंध मानवता और स्वछन्दतावाद पर आधारित होना चाहिए। प्रत्येक महिला शिक्षिकाओं को स्वछन्दतावादी आदर्शों को अपने जीवन में उतार कर आत्मतत्वों एवं दृष्टिवादी तत्वों का अनुसरण करना चाहिए। पारस्परिक विकास एवं सह–संबंध अनिवार्य, व्यापक और विस्तृत होना चाहिए। पारस्परिक विकास एवं

परिस्थितियों को उपेक्षित एवं उदासीन नहीं होना चाहिए बल्कि उनको गतिशील एवं गत्यात्मक बनाने का प्रयास करना चाहिए। शिक्षा के द्वारा जनपद जालौन के प्रत्येक परिवार एवं समाज को विस्तारवादी दृष्टिकोंण दिया जा सकता है। जो कि निम्न अथवा मध्यम वर्ग को अत्यन्त लाभदायी सिद्ध होगा जिससे कि विभिन्न ब्लाकों एवं ग्रामों में शिष्ट, संस्कारित एवं सभ्य नागरिकों और परिवारों तथा समाज का विकास हो सकेगा। परिस्थितियां अनुकूल होने पर विकास को प्रोत्साहन एवं गति मिलती है। यदि परिस्थितियां प्रतिकूल हों तो शिक्षिकाओं और विद्यार्थियों में नीरसता एवं आत्मविश्वास की कमी आ जाती है। जिससे विद्यार्थियों का जीवन प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होता है, मानसिक द्वंदों एवं कल्पनाओं से भर जाता है। जिसका प्रभाव जीवन के मूल्यों, सिद्धान्तों एवं मानदण्डों पर पड़ता है।

महिला शिक्षिकाओं के द्वारा पारस्परिक विकास एवं आपस में सह–सम्बधों पर विशेष जोर देना चाहिए। जिससे नई पीढ़ी अपने में शिक्षा की ज्योति प्रज्जवलित करके सच्चे जीवन दर्शन को प्राप्त कर सके। जीवन में पारस्परिक एवं सह–सम्बंध की भावना बहुत आवश्यक है क्योंकि विकास से विद्यार्थियों के व्यक्तित्व का मूल्यांकन एवं सार्थकता को मापा जा सकता है। क्योंकि व्यक्तित्व का विद्यार्थी के जीवन में विशेष महत्व होता है। जिस पर उसकी संस्कृति का प्रभाव पड़ता है। विविध अनुभवों एवं सामाजिक प्रभाव के फलस्वरूप वह संस्कार युक्त व्यक्ति बन जाता है और उसमें व्यक्तित्व का विकास हो जाता है। व्यक्तित्व के निर्माण में सामाजिक एवं सांस्कृतिक अनुभव की भूमिका का विशेष महत्व होता है। क्योंकि समाजीकरण व्यक्तित्व के विकास में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

(1) "Personality is a person's pattern of habits, attitudes, and traits which determine his adjustment to his environment."

- Allport G. W.
Personality p.48.

(2) "Personality is a .. .. patterned body of habits, traits, attitudes, and ideas of an individual, as these are organised externally in to roles and statuses, and as they relate internally to motivation, goals, and various aspects of selfhood".

- Young, Kimball,
Social Psychology, p.58.

(3) "Personality is the sum and organization of those traits which determine the role of the individual in the group."

- Park and Burgess

(4) "Personality is the characteristic organization of the individual's habits, attitudes, values, emotional characteristics .. .. which imparts consistency to the behaviour of the individual".

- Herbert A. Bloch.

(5) "Personality is the sum of a person's values (the objects of his striving, such as ideas, prestige, power and sex) plus his non-physical traits (his habitual ways of acting and reacting)."

- Green Arnold W. E.
Sociology, p.108.

(6) "Personality as we understand it, is all that an individual is and has experienced so for as this 'all' can be comprerehended as unity."

- Maciver.

Society, p.56.

(7) "The term personality refers to the habits, attitudes, and other social traits that are characteristic of a given individual's behaviour."

- Lundberg and others

Sociology, p.205.

(8) "Personality is the integration of the social psychological behaviour of the human being, represented by habits of action and feeling, attitudes and opinions."

- Ogburn

op. cit, p.191.

(9) "Personality is a psychic phenomenon which is neither organic nor social but an emergent from a combination of the two."

- Davis Kingsley.

op. cit, p.236.

(10) "Personality is the totality of habits, attitudes, and traits that result from socialization and characterizes us in our relationship with others."

- Anderson and Parker

Society, p.71.

(11) "Personality may be defined as the most characteristic integration of an individual's structure, modes of behaviour interests, attitudes, capacities, abilities and aptitudes."

- Munn, N. L.

Psychology, p.569

(12) "Personality is the sum total of all the biological innate dispositions impulses, tendencies, and instincts of the individual, and the acquired dispositions and tendencies acquired by experience."

- Prince Morton,

The Unconscious, p.532.

(13) "Personality is a term used in several senses, both popularly and psychologically, the most comprehensive and satisfactory being the integrated and dynamic organization of the physical, mental & social qualities of the individual as that manifests itself to other people. in the give and take of social life."

- Dever,

Dictionary of Psychology

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि व्यक्तित्व के अध्ययन के दो प्रमुख उपागम हैं– (1) मनोवैज्ञानिक (2) समाजशास्त्रीय। यद्यपि एक तीसरा उपागम, प्राणिशास्त्रीय उपागम भी है, परन्तु व्यक्तित्व की प्राणिशास्त्रीय परिभाषा जो व्यक्ति के केवल जैविक–शारीरिक तत्वों को ही समाविष्ट करती है, अपर्याप्त है। मनोवैज्ञानिक उपागम के अर्न्तगत व्यक्ति–विशेष की विशिष्ट शैली को ही व्यक्तित्व कहा जाता है। यह शैली उसकी मानसिक प्रवृत्तियों, पारस्परिक विकास, परिस्थितियों, संवेगों एवं भावनाओं के विशिष्ट संगठन द्वारा निर्धारित होती

हैं। मनोवैज्ञानिक उपागम व्यक्तित्व के विघटन की परिघटना को तथा व्यक्तित्व के विकास में परिस्थितियों, इच्छाओं, मानसिक संघर्ष की भूमिका को समझने में सहायता करता है। समाजशास्त्रीय उपागम व्यक्तित्व की, समूह के भीतर व्यक्ति की स्थिति एवं मनुष्य–समूह के सदस्य–रूप में अपनी भूमिका के बारे में सोचता है, के संदर्भ में व्याख्या करता है। इस प्रकार समाजशास्त्रीय अर्थ में पारस्परिक विकास एवं परिस्थितियां व्यक्ति के विचारों, अभिवृत्तियों एवं मूल्यों का योग है जो समाज में उसकी भूमिका का निर्धारण करते हैं। पारस्परिक विकास एवं परिस्थिति व्यक्तित्व के योगदान में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। समूह के सदस्य–रूप में व्यक्ति कुछ आचरण विधियों एवं प्रतीकात्मक कौशल को सीखता है। जो उसके विचारों पारस्परिक विकास, परिस्थितियों, मनोवृत्तियों एवं सामाजिक मूल्यों को निर्धारित करते हैं। ये विचार मनोवृत्तिया एवं मूल्य जो एक व्यक्ति के होते हैं उसके व्यक्तित्व एवं परिस्थिति को समाविष्ट करते हैं। किसी व्यक्ति का व्यक्तित्व वाह्य संसार के बारे में एक वयस्क की आंतरिक रचना को इंगित करता है। यह अंतर्क्रिया की प्रक्रियाओं का परिणाम है जिनसे सामाजिक समूहों एवं समुदायों में आचारात्मक मूल्यांकन, विश्वास एवं आचरण के मानकों की स्थापना होती है।

"पारस्परिक विकास एवं परिस्थितियां हमारे सांस्कृतिक मूल्यों को निर्धारित करतीं हैं। व्यक्ति के विचारों एवं मनोवृत्तियों का निर्माण उसकी परिस्थितियों के अनुसार होता है चूंकि पारस्परिक विकास एवं परिस्थिति हमारी संस्कृति को प्रभावित करती है तथा संस्कृति व्यक्तित्व को, अतएव व्यक्तित्व एवं परिस्थितियों का संबन्ध स्पष्ट हो जाता है। लगभग दो सहस्त्र वर्ष पूर्व अरस्तू ने कहा था कि उत्तरी यूरोप में रहने वाले लोग शीत जलवायु के कारण उत्साही, परन्तु कम बुद्धिशील एवं कुशल होते हैं जबकि दूसरी ओर, एशिया के निवासी बुद्धिमान एवं अन्वेषक, परन्तु कम उत्साही हैं। 18वीं शताब्दी में मांटेस्क्यू ने कहा था कि शीत जलवायु में रहने वाले लोगों की वीरता उनको अपनी स्वतन्त्रताएं सुरक्षित रखने के योग्य बनाती हैं। अधिक गर्मी शक्ति को नष्ट कर देती है जबकि

शीत जलवायु शरीर एवं मन की शक्ति को उत्पन्न करती है। कहा जाता है कि गर्म प्रदेशों के लोग आलसी होते हैं, अतएव सभ्यताओं का विकास उन्हीं स्थानों पर हुआ है जहां तापमान सामान्य अथवा अनुकूलतम रहा है। पर्वतीय एवं मरुस्थलीय लोग प्रायः साहसी, परिश्रमी एवं बलवान होते हैं। मनुष्य की मनोवृत्तियों एवं उसकी मानसिक रचना पर उसके पारस्परिक विकास एवं परिस्थितियों का प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ता है। इस बात में कोई सन्देह नहीं कि संस्कृति किसी विशेष समूह में प्रभावी व्यक्तित्व के प्रकारों को निर्धारित करती है। कुछ विचारकों के अनुसार व्यक्तित्व एवं परिस्थिति का प्रभाव व्यक्ति की संस्कृति पर दृष्टिगोचर होता है। स्पाइरो ने कहा है कि– "व्यक्तित्व का विकास एवं संस्कृति का अर्जन विभिन्न प्रक्रियाएं नहीं हैं, अपितु समान शिक्षण–प्रक्रिया है।" व्यक्तित्व संस्कृति का व्यक्तिगत स्वरूप है जबकि संस्कृति व्यक्तित्व का सामूहिक स्परूप। प्रत्येक संस्कृति व्यक्तित्व के विशिष्ट प्रकार अथवा प्रकारो को जन्म देती है। सन् 1937 में मानवशास्त्री लिंटन एवं मनोविश्लेषक अब्राम कार्डीनर ने अनेक आदिम समाजों एवं आधुनिक अमेरिकन देहात के वृतांतों के सूक्ष्म अध्ययन द्वारा संस्कृति एवं व्यक्तित्व के मध्य पारस्परिक विकास एवं परिस्थिति के बारे में संयुक्त खोजों की माला आरम्भ की थी।"[1]

"फ्रेंक के अनुसार, "परिस्थतियां व्यक्ति के ऊपर प्रबल एवं दमनकारी प्रभाव है जो विचारों, अवधारणाओं एवं हमारी संस्कृति को प्रभावित करती है। जिसके अनुरूप व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण होता है। समूह की प्रथाएं, रीतियां, लोकाचार, धर्म, संस्थाएं, नैतिक एवं सामाजिक मानक सभी समूह के सदस्यों के पारस्परिक विकास, परिस्थिति एवं व्यक्तित्व को प्रभावित करता है।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि परिस्थितयां व्यक्तित्व के विकास

1– विद्याभूषण, डी0 आर0 सचदेव, "समाजशास्त्र के सिद्धान्त", पृष्ठ संख्या–763, 764 किताब महल एजेन्सीज, इलाहाबाद।

2– Ibid, Page No. 765, 766.

पर काफी प्रभाव डालतीं हैं। व्यक्ति के विचार एवं उसका व्यवहार मुख्यतः परिस्थितियों से प्रभावित होता है और उसी के अनरूप व्यक्ति का आचरण हो जाता है।"[1]

व्यक्तित्व सामाजिक स्थितियों का विषय है सामाजिक शोधकर्ताओं ने बतलाया है कि व्यक्ति के विशिष्ट व्यवहार में परिवर्तन परिस्थितियों के अनुसार होता है और उसी के अनुरूप व्यक्ति का आचरण एवं प्रतिमान स्थापित हो जाते हैं।

परिस्थितियां, प्राकृतिक पर्यावरण, संस्कृति एवं अनुभव विशेष तत्व हैं जो व्यक्तित्व के निर्माण, विकास एवं संधारणा की व्याख्या करते हैं। परन्तु एक कठिनाई यह है कि अभी तक प्रत्येक तत्व के प्रभाव को पृथक–पृथक मापने की कोई विधि ज्ञात नही है और न ही बतलाना सम्भव है कि ये तत्व किस प्रकार संयुक्त होकर प्रदत्त परिणामों को जनित करते हैं। परन्तु किस तत्व का कितना योगदान है, इसका सुनिश्चित रूप से मापन नहीं किया जा सकता।

व्यक्ति क्या कुछ प्राप्त कर पाता है और क्या नहीं, यह अधिकांशतः उसके चारों ओर की परिस्थितियों पर निर्भर है। परिस्थितियां लक्ष्य–प्राप्ति के मार्ग में वाधक होती हैं। वे ऐसी सीमा निश्चित कर देती हैं जिनके अन्दर रहकर ही ध्येय को प्राप्त किया किया जा सकता है। लक्ष्य की सफलतापूर्वक प्राप्ति के लिए इन बाधाओं पर विजय पाना आवश्यक है।

ये परिस्थितियां वाह्य एवं आंतरिक दोनों हो सकतीं हैं। वाह्य परिस्थितियों का तात्पर्य है– भौतिक पर्यावरण या सामाजिक कानून। आन्तरिक परिस्थितियां मनुष्य की अपनी शरीर रचना से सम्बंधित होती हैं। बहुत से व्यक्ति जो महान कवि बनना चाहते हैं, नहीं बन पाते, क्योंकि उनमें बुद्धि नहीं होती। इस प्रकार हीन व्यक्तित्व ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर सकता है कि लक्ष्य–प्राप्ति असम्भव हो जाए।

1– विद्याभूषण, डी0 आर0 सचदेव, "समाजशास्त्र के सिद्धान्त", पृष्ठ संख्या–148 किताब महल एजेन्सीज, इलाहाबाद।

यदि परिस्थितियां बाधाएं उत्पन्न करतीं हैं तो वे साधनों का स्रोत भी हो सकतीं हैं। भौतिक वातावरण, सामाजिक कानून एवं वैयक्तिक गुण कर्ता को उसकी लक्ष्य–प्राप्ति में सहायक हो सकते हैं। कोई वस्तु बाधा है या साधन, यह स्थिति पर निर्भर करता है।

पारस्परिक विकास एवं परिस्थितियों का मनुष्यों एवं समूहों के व्यवहार को निर्धारित करने में महत्वपूर्ण योगदान होता है। मानव–जीवन पर परिस्थितियों के प्रभाव का अध्ययन मान्टेस्क्यू के समय से ही किया जा रहा है। इसके बाद लीप्ले, डैमोलिंस एवं ब्रनहेंस ने पारस्परिक विकास एवं परिस्थितियों का सामाजिक परिवेश के सन्दर्भ में अध्ययन किया है। उन्होने परिस्थितियों का जीवन की विशेषताओं तथा सामाजिक विकास के बीच सम्बन्ध पर विशेष बल दिया है। सभ्यता एवं संस्कृति भी परिस्थितियों द्वारा प्रभावित होती है।

परिस्थितियां कई प्रकार की होती हैं। महिला शिक्षिकाओं को विभिन्न प्रकार की परस्थितियों का सामना करना पड़ता है पारिवारिक एवं घरेलू परिस्थितियां विकास में बाधक होती हैं। पारिवारिक परिस्थितियों के द्वारा महिला शिक्षिकाएं समय से विद्यालय नही पहुंच पाती हैं ग्रामीण महिला शिक्षिकाओं को आवागमन की सुचारू व्यवस्था न होने के कारण विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। नदीगाँव ब्लाक, कोंच तहसील के अन्तर्गत आने वाले ग्रामों में महिला शिक्षिकाओं को अपने व्यक्तिगत वाहनों से जाना पड़ता है। परिस्थितियां कई बार प्रतिकूल एवं अनुकूल होती हैं। परिस्थितियां महिला शिक्षिकाओं को सुचारू, सार्थक एवं सकारात्मक विद्यालयोपयोगी कार्यक्रमो को गतिशील बनाने में प्रेरक नहीं बना पाती हैं। पुरुष शिक्षकों की अपेक्षा महिला शिक्षिकाओं को परिस्थितियों का अधिक सामना करना पड़ता है। कालपी तहसील के विभिन्न ब्लाकों में जंगल या दस्यु समस्याओं के भय के कारण वह विद्यालय समय से नहीं पहुंच पाती हैं।

परिस्थितियों को महिला शिक्षिकाओं को अपने विवेक एवं योग्यता के अनुसार हल करना चाहिए क्योंकि परिस्थितियां जीवन–पर्यन्त आती रहती हैं परन्तु अध्यापन कार्य रुक जाने से छात्र एवं छात्राओं का विकास अवरुद्ध हो जाएगा। जिससे परिवार, समाज, व राष्ट्र प्रभावित होगा। कुछ परिस्थितियां क्षणिक होती हैं उनको समाप्त करने के लिए स्थाई हल ढूंढना चाहिए। स्थाई परिस्थितियां जीवन–पर्यन्त कष्ट देती रहती हैं।

परिस्थितियां व्यक्तित्व एवं मनोवैज्ञानिक विकास के लिए घातक सिद्ध होती हैं। परिस्थितियां महिला शिक्षिकाओं का आध्यात्मिक एवं नैतिक विकास अवरुद्ध करतीं हैं जिससे वह छात्र एवं छात्राओं को पूर्ण रूप से समर्पण की दृष्टि से पढ़ा नहीं पाती हैं। प्राईवेट विद्यालयों की महिला शिक्षिकाओं को आर्थिक दृष्टि, प्रधानाचार्य का आचरण, प्रबन्धक का व्यवहार एवं अनुशासनहीन विद्यार्थियों जैसी समस्याओं का सामना करना पड़ता है। प्राईवेट विद्यालयों तथा प्राथमिक, पूर्व माध्यमिक, माध्यमिक एवं महाविद्यालयों की महिला शिक्षिकाओं की परिस्थितियां अर्धसरकारी एवं सरकारी महिला शिक्षिकाओं की परिस्थितियों से विल्कुल भिन्न होती हैं।

जालौन जनपद की कालपी तहसील के कदौरा ब्लाक में महिला शिक्षिकाओं को विभिन्न प्रकार की विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। कई परिस्थितियां मर्यादाविहीन एवं नैतिकता के पैमाने से बाहर हैं। परिस्थितियों के द्वारा संस्कृति व सभ्यता भी प्रभावित होती है। परिस्थितियों के कारण पारिवारिक एवं सामाजिक व्यवहार अत्यधिक प्रभावित होते हैं।

परिस्थितियां बौद्धिक स्तर को प्रभावित करती हैं। यदि महिला शिक्षिकाओं का बौद्धिक स्तर निम्न कोटि का है या उनके विचार, कल्पना, स्मरण, तर्क शक्ति आदि विभिन्न प्रकार की जटिल परिस्थितियों से ग्रसित हैं तो विद्यार्थी उससे प्रभावित होते हैं।

महिला शिक्षिकाओं की परिस्थितियां मानसिक, शारीरिक, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि के द्वारा आदर्श विहीनता एवं नियम विहीनता को भी जन्म देती हैं। विसंगति की अवधारणा एवं विषम परिस्थितयां, महत्वपूर्ण प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष क्रियाओं को प्रभावित करती हैं। माधौगढ़ एवं उरई तहसील की महिला शिक्षिकाओं की परिस्थितियां अलग–अलग है। कुछ परिस्थितियां गंभीर, जटिल एवं कष्टदायी हैं। कुछ महिला शिक्षिकाएं विधवाएं है जिनको पारिवारिक एवं सामाजिक समस्याओं से गुजरना पड़ता है।

परिस्थितियों के कारण ग्रामीण शिक्षा का स्तर निम्न हुआ है। वह ग्रामीण जीवन के अनुकूल नहीं है। शिक्षा–विकास हेतु पर्याप्त सुविधाओं का अभाव है। महिला शिक्षिकाएं, शिक्षा विभाग एवं ग्रामीण वातावरण अपने आप में स्वयं उनके प्रति उत्तरदायित्व से विमुख एवं उदासीन है। महिला शिक्षिकाएं गुटबन्दी, अव्यवस्था, व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सामाजिक परिस्थितियों की शिकार होने के कारण अपनी सेवा के लिए पूर्ण रूप से समर्पित नहीं हैं।

जनपद जालौन के अधिकांशतः प्राथमिक विद्यालयों से महाविद्यालयों तक गुटबन्दी एवं विभिन्न परिस्थितियों की काली छाया है। ग्रामीण विद्यालयों में गुणात्मक दृष्टिकोंण कम है परिणात्मक दृष्टिकोंण अधिक विकसित है। इन सभी परिस्थितियों का महिला शिक्षिकाओं के विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। जिस कारण उनकी दिशा व दशा में परिवर्तन नहीं हो पाता है। जनपद जालौन की महिला शिक्षिकाओं का पारस्परिक विकास एवं परिस्थितियां अन्य जिलों की महिला शिक्षिकाओं से अलग है।

बुन्देलखण्ड क्षेत्र जिसके अन्तर्गत जनपद जालौन भी शामिल है उत्तर प्रदेश में शिक्षा के क्षेत्र में पिछड़े जिलों में से एक है तथा यहां शिक्षा के क्षेत्र में आधुनिक तथा प्रौद्योगिकी आधारित शिक्षा का भी अभाव है जिस कारण महिला शिक्षिकाएं नवीन विचारों, पद्धतियों एवं प्रयोगों से वंचित रहती हैं। जिसका प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष प्रभाव उनके शिक्षण पर पड़ता है प्रत्येक क्षेत्र में समय एवं परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन आता है।

चतुर्थ अध्याय

1- शिक्षिकाओं की कार्य दशाएं

2- व्यक्तिगत विकास एवं कार्यक्षमता

3- प्रजातन्त्रीय परिपक्वता

4- मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन

5- मनोवैज्ञानिक उत्थान एवं सामाजिक सद्भाव

शिक्षिकाओं की कार्य दशायें

शिक्षिकाएं समाज की धुरी हैं। बिना शिक्षक, शिक्षिकाओं एवं गुरुओं से समाज की दशा और दिशा को बदलना बड़ा असम्भव है। समाज के विकास की क्रिया शिक्षित वर्ग के द्वारा होती है जिससे समाज में अंधकार रूपी पर्त को दूर किया जा सकता है। इसमें शिक्षिकाओं की कार्यदशाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। कार्य दशाएं यदि अच्छी हैं तो शिक्षिकाओं को ख्याति प्राप्त होती है। यदि कार्यदशाएं खराब तथा निम्नकोटि की हैं तो कार्यदशाएं मात्र आलोचना एवं निन्दा की श्रेणी में रखी जाएंगी। कार्यदशाओं से जीवन के मौलिक एवं आधारभूत सिद्धांतों का निर्माण होता है जो जीवन को व्यवस्थित तथा अनुशासित बनाते हैं। कार्यदशाएं हमेशा सजीव एवं उत्तमकोटि की होना चाहिए। कार्यदशाओं के द्वारा जीवन को सकारात्मक बना सकते हैं। शिक्षिकाओं की कार्यदशाएं विधिशास्त्रीय युक्त होना चाहिए। कार्यदशाएं विनोदी एवं विनोदशीलता युक्त होना चाहिए। कार्यदशाओं के द्वारा भाव–प्रधानता के गुण उपरिमुखी होते हैं। कार्यदशाओं के द्वारा शिक्षिकाएं समाज को सबल एवं मजबूत बनाती हैं। कार्यदशाएं रचनात्मक, सकारात्मक एवं रजतमान होना चाहिए। शिक्षिकाएं हमेशा शिक्षार्थी के चरित्र एवं व्यक्तित्व को रजत की तरह बनाकर जीवन का निर्माण करती हैं। कार्यदशाएं परिणात्मक प्रविधियां, गुणात्मक प्रविधियां एवं कौशल प्रविधियां जैसे प्रतिमानों पर आधारित होना चाहिए। शिक्षिकाओं की कार्यदशाएं जीवनोपयोगी, छात्रोपयोगी, समाजोपयोगी, राष्ट्रोपयोगी एवं चरित्र उपयोगी होना चाहिए जिससे छात्र एवं छात्राओं का सर्वांगीण विकास हो सके। कार्यदशाएं हमेशा व्यापक होना चाहिए। कार्यदशाएं हमेशा इच्छित परिणामों के गुण, महत्व एवं प्रभावशीलता का निर्णय करने के लिए समस्त प्रकार के प्रयासों एवं साधनों की ओर संकेत करने के लिए आधारित होना चाहिए। कार्यदशाओं के द्वारा शिक्षिकाओं को परिस्थितियों की पहिचान एवं शिक्षार्थी के जीवन के न्यूनतम मानदण्डों को समझना चाहिए। शिक्षिकाओं की कार्यदशाएं

बालक एवं बालिकाओं को अति महत्वपूर्ण भूमिकाओं जैसे मानसिक स्वास्थ्य एवं कक्षा में मस्तिष्क को एकाग्र कर उसको समायोजित बनाने का प्रयास करती हैं। विद्यार्थियों में सोना, जागना, सोचना, चिन्तन करना, खेलना, कार्य करना सभी क्रियाएं प्रेरको पर आधारित होती हैं। शिक्षिकाओं की कार्यदशाएं दोषयुक्त होने से बालको की मूल प्रवृत्तियों एवं संवेगों का दमन होता है। तथा उनके मस्तिष्क में समाज–विरोधी स्थाई भावों एवं भावनाग्रन्थियों का विकास हो जाता है।

शिक्षिकाओं की कार्यदशाएं हमेशा दोष रहित होना चाहिए यदि कार्यदशाएं गम्भीर नहीं हैं तो वह विद्यार्थी को सही एवं वास्तविक ज्ञान देने में असमर्थ होगीं। गम्भीर कार्यदशाएं, प्रेरणायुक्त अनुभव एवं व्यवहार की भावना को विद्यार्थियों में जागृत करतीं हैं। जिससे विद्यार्थी जीवन का उत्तरोत्तर विकास होता है और वह अपने जीवन में उच्च लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। शिक्षिकाओं का परम कर्तव्य है कि वे बालकों का उचित संवेगात्मक अभिव्यक्ति की कार्य–प्रणाली पर आधारित विकास करें जिससे शिक्षिकाओं की कार्यदशाओं के द्वारा सामाजिक गुणों का विकास, आत्म नियंत्रण, साहस, न्याय, महान लोगों के प्रति भक्ति एवं दूसरों के प्रति अच्छी सद्भावना का विकास विद्यार्थियों में कर सकें। शिक्षिकाओं की कार्यदशाएं विद्यार्थियों की बाल्यावस्था में चरित्र के विकास में अपना योगदान देती हैं। शिक्षिकाएं सामाजिक आदर्शों एवं मान्यताओं के अनुरूप व्यवहार करने की चेष्टा करतीं है तथा विद्यार्थियों में सदाचार संहिता का विकास करती है। शिक्षिकाओं की बालकों में देश भक्ति, परोपकार, परस्वार्थ, दया, सहानुभूति, अनुशासन आदि नैतिक गुणों का विकास करने के लिए कार्यदशाएं बड़ी महत्वपूर्ण होती है। शिक्षिकाओं की कार्यदशाएं अनुशासनात्मक एवं कर्तव्यबोधता पर आधारित होना चाहिए जिनके द्वारा विद्याार्थियों के संवेगों एवं मूल प्रवृत्तियों का विकास हो सके। शिक्षिकाओं की कार्यदशाएं आत्म सम्मान एवं स्थाई भाव से परिपूर्ण होनी चाहिए। आत्म सम्मान का रूप, स्थाई भाव, मानसिक संघर्षों का निर्णय करता है। शिक्षिकाओं की कार्यदशाएं उचित अनुचित का ज्ञान, अनुशासन स्थापना में सहायता, व्यक्तित्व के निर्माण

में सहायता तथा इन्द्रिय संवेदन जैसी विशेषताओं को बढ़ानें में अपना विशिष्ट योगदान देती हैं। कार्यदशाओं के द्वारा शिक्षक एवं शिक्षार्थियों में जीवन के मूल्यों का प्रत्यारोपण होता है। शिक्षिकाओं का दृष्टिकोंण सहानुभूतिपूर्ण होना चाहिए तथा छात्र एवं छात्राओं को हमेशा साध्य समझना चाहिए। कार्यदशाएं बालक के भविष्य में होने वाली अभिवृद्धि, विकास और परिवर्तनों के लिए तैयार करती हैं। कार्यदशाएं मनोवैज्ञानिक शिक्षण विधि पर आधारित होनी चाहिए। कार्यदशाएं विद्यार्थियों में रचनात्मक प्रवृत्ति को प्रोत्साहित, जिज्ञासा प्रवृत्ति को प्रोत्साहित एवं सन्तुष्टि, सामूहिक प्रवृत्ति को सन्तुष्टि, मानसिक विकास पर ध्यान, पाठ्य सहगामी क्रियाओं की व्यवस्था, संवेगों का विकास एवं भावनात्मक वेग, सामाजिक गुणों का विकास, अच्छी आदतों का निर्माण एवं बहुमुखी व्यक्तित्व निर्माण में सहयोग देती हैं। कार्यदशाएं शिक्षिकाओं के व्यक्तित्व का दर्पण हैं। कार्यदशाओं के द्वारा शिक्षिकाओं के ज्ञान का मूल्यांकन किया जा सकता है कि कौन सी शिक्षिकाएं योग्य और ज्ञानवान हैं और कौन सी अयोग्य और ज्ञानहीन हैं। शिक्षिकाओं की कार्यदशाओं के द्वारा उनके सम्पर्क में आए बालक एवं बालिकाओं का परिवर्तन होता है। कार्यदशाओं में भय, चिन्ता, व्याग्रता, कुंठा एवं ईर्ष्या नहीं होनी चाहिए। कार्यदशाएं हमेशा जिज्ञासु, स्नेहमयी, त्यागमई, अनुशासनमयी एवं प्रफुल्लता से परिपूर्ण होनी चाहिए। कार्यदशाएं विद्यार्थियों को प्रगतिशील बनातीं है। शिक्षिकाओं की कार्यदशाएं हमेशा सौम्य, सभ्य एवं गंभीर होनी चाहिए। कार्यदशाएं हमेशा उज्जवल एवं पक्षपात रहित होनी चाहिए तथा कार्यदशाओं में पारदर्शिता दृष्टिगोचर होनी चाहिए। शिक्षिकाओं की कार्यदशाएं एवं शिक्षार्थियों की रूप–रेखाओं के बीच सौम्यता एवं सभ्यता का भाव होना चाहिए। कार्यदशाएं हमेशा जीवन भर समाज–यश से परिपूर्ण होनी चाहिए। कार्यदशाओं को हमेशा त्यागमयी भावना से ओत–प्रोत होना चाहिए। कार्यदशाएं अधूरी होने पर जीवन भी अपरिपक्व एवं लक्ष्य विहीन हो जाता है। कार्यदशाएं ग्रामीण एवं शहरी विद्यार्थियों पर केन्द्रित होना चाहिए। कार्यदशाओं के द्वारा ही शिक्षक परमानुभूति को प्राप्त कर सकते हैं। कार्यदशाओं में गहराई एवं समग्रता का दृष्टिकोंण रखते

हुए जीवन के मार्ग को प्रशस्त करना चाहिए। शिक्षिकाओं द्वारा जीवन–रूपी आदर्श चित्रण के सिद्धान्तों को लेकर जीवन को अच्छाइयों से पारंगत करना चाहिए क्योंकि कि जीवन एक वहती हुई धारा के समान है। शिक्षिकाओं को कार्यदशाओं के द्वार छात्र एवं छात्राओं को कल्याणकारी शिक्षा देना चाहिए। शिक्षिकाओं को अध्ययन कार्य कराते समय भारतवर्ष की महान ऐतिहासिक विभूतियों के दृष्टान्त एवं दृष्टव्य देकर जीवन को सुन्दर बनाने का प्रयास करना चाहिए। शिक्षिकाओं के द्वारा जीवन को समुचित एवं ममतामयी भावना से परिपूर्ण एवं अग्रसारी कर गतिशील बनाना चाहिए। जिससे विद्यार्थी जीवन को सही दिशा मिल सके एवं उनकी कार्यक्षमताओं का विकास हो सके। कार्यदशाओं के द्वारा विद्यार्थी जीवन एवं सामाजिक जीवन का स्तर निम्नतम से उच्चतम स्तर की ओर गतिशील होता है। शिक्षिकाओं के उद्देश्य एवं आदर्श ज्ञानात्मक होना चाहिए। जिससे विद्यार्थियों का सर्वांगीण विकास हो सके। कार्यदशा की रूपरेखा परिवार, समाज एवं मानव मात्र के कल्याण पर आधारित होनी चाहिए। शिक्षिकाओं के द्वारा विद्यार्थियों में सहसम्बंध तथा सही कार्य–प्रणालियों का निर्माण होता है। कार्यदशाओं के द्वारा हमेशा विद्यार्थियों में ज्ञान का विकास, सामाजिक आचरण की शिक्षा, मानव संस्कृति का संरक्षण एवं विकास, चरित्र निर्माण, कला–कौशल एवं व्यवसायो की शिक्षा से सम्बंधित कार्यदशाओं को क्रियान्वित करना चाहिए। शिक्षिकाओं की कार्यदशाओं से विद्यार्थियों के जीवन के मूलस्वरूप का विकास होता है तथा जीवन में नई दृष्टि सम्यकता, संकल्पता, वाकपटुता और वाक्यकला का निर्माण होता है। कार्यदशाओं के द्वारा जीवन का सही पाठ्यक्रम तथा पाठ्यचर्या का निर्माण होता है। कार्यदशाएं अच्छी हों तो जीवन के प्रति सही कल्याणकारी मार्ग बनते रहते हैं। यदि कार्यदशाएं सही नहीं हैं तो जीवन का स्वरूप परिवर्तित हो जाता है तथा जीवन अव्यवस्थित हो जाता है। कार्यदशाएं अनुकूल एवं स्वच्छता से परिपूर्ण होनी चाहिऐ। कार्यदशाओं से मानव समाज की वास्तविक स्थिति को जानने का अवसर मिलता है और अच्छे आचरण की दक्षता प्राप्त होती है। कार्यदशाएं सामान्य और विशिष्ट दोनों

प्रकार की होती हैं इनके आधार पर धार्मिकता एवं नैतिकता जैसे सिद्धान्तों का आवलम्बन मिलता है जो जीवन को ऊंचाइयों तक पहुँचानें में सार्थकता तथा समर्थता प्रदान करता है। शिक्षिकाओं की कार्यदशाएं विद्यार्थी जीवन को सकारात्मक एवं व्यापकता के सांचे में ढालती हैं जिससे विद्यार्थी बचपन से लेकर वृद्धावस्था तक अपनी योग्यता तथा दक्षता का सही उपयोग करके जीवन को विशिष्ट पहचान देते हैं। शिक्षिकाएं विद्यार्थी जीवन का निर्माण करने में अपना महत्वपूर्ण समय प्रदान कर जीवन को सारगर्भित बनातीं हैं जिससे विद्यार्थी जीवन में गम्भीरता, गौरवता एवं प्रतिष्ठा जैसी आदतों का संग्रह होता है जो कि जीवन को आयाम प्रदान करता है। कार्यदशाओं से उत्तरदायित्व एवं कर्तव्यपरायणता जैसी अच्छाइयों का निर्माण होता है। कार्यदशाएं हमेशा कल्याणकारी और जीवन को मार्ग प्रदान करने वाली होनी चाहिए। कार्यदशाएं हमेशा प्रतिज्ञाओं, संकल्पनाओं तथा अच्छी अवधारणाओं पर केन्द्रित होना चाहिए। जिससे जीवन में विनयपूर्ण व्यवहार का निर्माण होता है। कार्यदशाएं हमेशा प्रोत्साहित पूर्ण होना चाहिए जिसके आधार पर विद्यार्थियों के मनोबल तथा आत्मबल का विकास हो सके। कार्यदशाओं से अच्छी एवं नई योजनाओं को क्रियान्वित किया जा सकता है जो कि शारीरिक एवं मानसिक विकास तथा आत्मोत्थान के लिए आवश्यक है। अधिकतर कार्यदशाएं गहरी, गम्भीर एवं सौहार्दपूर्ण होना चाहिए। शिक्षिकाओं को अच्छी कार्यदशाएं अर्जित करने में काफी संघर्ष करना पड़ता है।

शिक्षिकाओं का सम्बन्ध मनुष्य के सामाजिक, शैक्षणिक, तथा नैतिक जीवन से होता है जो कि जीवन को साकार एवं सम बनाने में मदद करती है। कार्यदशाओं को प्रोत्साहित करने में विभिन्न दार्शनिकों एवं शिक्षाविदों ने अच्छे सिद्धान्तों एवं नियमो का मार्गान्तीकरण किया जिससे जीवन का पुनरोत्थान हो सके। कार्यदशाएं जीवन को मूल्यवान एवं चरित्र को स्वच्छंदता प्रदान करके मानसिक बौद्धता का निर्माण करतीं हैं। कार्यदशाएं हमेशा व्यवहारिक होना चाहिए। कार्यदशाओं के द्वारा विद्यार्थियों को उत्कृष्ट एवं अनुपम बनाने का सतत प्रयास करते रहना

चाहिए जिससे उनमें प्राकृतिक, आध्यात्मिक तथा बौद्धिक मूल्यों का विकास हो सके और वह अपने जीवन में क्रमोत्तर वृद्धि कर सके। शैक्षणिक कार्यदशाएं अनुकूल एवं ठोस होनी चाहिए जो कि विद्यार्थियों को कठोर, दृढ़ एवं प्रत्येक कार्य के लिए समर्थ बना सकें। विद्यार्थियों को सामान्य व्यवहारिक तथा नैतिक ज्ञान को प्राप्त करने के लिए जीवन पर्यन्त प्रयास करते रहना चाहिए और गुरुओं द्वारा बताए गए मार्ग का अनुसरण करना चाहिए जिससे कि जीवन में उनका पूर्णतः विकास हो सके। शिक्षिकाओं के द्वारा विद्यार्थियों को ज्ञान–विज्ञान की जानकारी, उन्नति का मार्ग प्रशस्त करने, पारिवारिक जागरूकता का उदय, सामाजिक जागरूकता का उदय, सभ्यता तथा संस्कृति का प्रवेश तथा मौलिक अधिकारों को वास्तविक जीवन में उतार कर एक आदर्श एवं सभ्य नागरिक बनाना चाहिए। संस्कृति एवं सभ्यता का वास्तविक ज्ञान गुरुओं के द्वारा ही प्राप्त होता है।

भारतीय परिवारों एवं समाजों में शिक्षिकाओं के उत्तरदायित्व में कार्यदशाओं का विशेष महत्व है जो कि विद्यार्थियों के लिए उपयोगी है। कार्यदशाओं को उपयोगी बनाने में उस क्षेत्र की भौगोलिक परिस्थिति का विशेंष महत्व होता है क्योंकि भौगोलिक परिस्थिति के अनुरूप ही व्यक्ति की कार्यक्षमता का विकास होता है और उसी के परिवेश में वह अपनी सभ्यता एवं संस्कृति का ज्ञान प्रदान करता है। कार्यदशाओं के द्वारा विद्यार्थियों का आन्तरिक एवं बाहरी विकास होता है जो उनके व्यक्तित्व निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

शिक्षिकाओं की आवश्यकता प्राथमिक शिक्षा से लेकर विश्वविद्यालयी शिक्षा तक महत्वपूर्ण है क्योंकि शिक्षक एवं शिक्षिकाओं के द्वारा विद्यार्थी का सर्वांगीण विकास होता है। जिससे राष्ट्र का चतुर्मुखी विकास सम्भव होता है। वर्तमान में हमारी शिक्षा व्यवस्था तकनीकी शिक्षा और व्यवसायिक शिक्षा पर आधारित होनी चाहिए। जिससे विद्यार्थी अपना जीवन सुचारू रूप से व्यतीत कर सके।

कार्यदशाओं के द्वारा महिला शिक्षिकाएं विद्यार्थियों को परिवार एवं समाज में सभ्य नागरिक बनाने के लिए उनका सही मार्गदर्शन कर सकतीं हैं। डा0 राधाकृष्णन के अनुसार– "महिला शिक्षिकाओं की कार्यदशाओं से एक अच्छे परिवार, समाज एवं राष्ट्र का निर्माण होता है।" डा0 जाकिर हुसैन, डा0 लक्ष्मण स्वामी तथा स्वामी विवेकानन्द के वक्तव्यों का विश्लेषण तथा मूल्यांकन करने पर ज्ञात होता है कि उन्होने हमेशा शिक्षिकाओं की कार्यदशाओं के बारे में कहा कि उन्हें गम्भीर, सौम्य एवं प्रभावकारी होनी चाहिए। कार्यदशाएं हमेशा पुष्प की तरह सुगन्धित होनी चाहिए जो कि परिवार एवं समाज के लिए महत्वपूर्ण होती हैं। कार्यदशाएं हमेशा पुष्पित एवं पल्लवित होनी चाहिए। महिला शिक्षिकाएं विद्यार्थियों के लिए माँ का कार्य करतीं है। जिस तरह से घर में माताएं बच्चों को सही मार्ग एवं पथ पर अग्रसारी बनातीं है इसी प्रकार महिला शिक्षिकाएं भी माताओं का कार्य करती हैं। कार्यदशाओं से विद्यार्थियों का जीवन सुन्दर, स्पष्ट, सुसंस्कृत, अलंकारयुक्त भावना से परिपूर्ण हो जाता है। महिला शिक्षिकाएं प्रेरणा, द्वारा विद्यार्थियों में भावनात्मक चिन्तन, तर्क आदि का निर्माण करतीं है। जिससे जीवन में आकर्षण तथा सुबोध का निर्माण होता है। विभिन्न शिक्षाविदों तथा दार्शनिकों के मतानुसार विद्यार्थियों की वास्तविक कार्य क्षमता पर उसके भौगोलिक वातावरण का प्रभाव पड़ता है और उसी के अनुरूप विद्यार्थियों की मनोवृत्तियों एवं भावनाओं का विकास होता है। कार्यदशाएं जीवन के निश्चित बिन्दुओं को जोड़ने का कार्य करती हैं जिसमें महिला शिक्षिकाओं का महत्वपूर्ण योगदान होता है। विद्यार्थियों में सजीवता, विविधता तथा सहजता के रंग का सृजन कार्यदशाओं के द्वारा होता है। जिससें विद्यार्थी अपने जीवन में सत्य तथा असत्य मार्ग को पहचान सकते हैं और उसी के अनुरूप जीवन–पद्धति का निर्माण कर सकते हैं। सत्य जीवन की परिधि में सौन्दर्य के माध्यम द्वारा व्यक्त अखण्ड सत्य है जो कि कार्यदशाओ के द्वारा जीवन को सत्य के बिन्दुओं पर ले जाकर केन्द्रित किया जा सकता है। कार्यदशाएं हमेशा मौलिक होनी चाहिए जिससे जीवन के यथार्थ को समझा जा सके तथा विकृत यथार्थ को सही यथार्थ में बदलकर खड़ा कर सकें। उससे

जीवन को गतिशीलता मिलती है। जो हमारी कार्यशक्ति पर प्रभाव डालतीं हैं जिससे विद्यार्थी अपनें जीवन को सशक्त और समृद्ध कर सकते हैं। महिला शिक्षिकाओं द्वारा विद्यार्थियों को सही विचारों न्यायसंगत तथा न्यायप्रिय सिद्धान्तों से परिचित कराना चाहिए जिससे समाज तथा राष्ट्र का विकास हो सके। शिक्षिकाओं के द्वारा विद्यार्थियों में पारस्परिक–सहयोग की भावना का विकास करना चाहिए। जिससे विद्यार्थी सच्चाई एवं पराकाष्ठा को जान सकें। कार्यदशाओं से विद्यार्थियों को चैतन्यता, आत्मबल तथा नैसर्गिक ज्ञान की प्राप्ति होती है।

शिक्षिकाओं की कार्यदशाएं विद्यार्थी के जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करतीं हैं और उसी के अनुरूप विद्यार्थी के व्यक्तित्व का निर्माण होता है। कार्यदशाओं के निर्धारण में क्षेत्र की परिस्थिति का महत्वपूर्ण योगदान होता है क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और वह जिस परिवेश में रहता है उस परिवेश की सांस्कृतिक विशेषताओं का प्रभाव स्पष्ट रूप से कार्यदशाओं पर पड़ता है। शिक्षिकाओं की कार्यदशाएं हमेशा युक्ति–युक्त एवं तर्कसंगत होनी चाहिए जिससे विद्यार्थियों को आत्मविकास का मौका मिल सके।

व्यक्तिगत विकास एवं कार्य क्षमता

व्यक्तिगत विकास शिक्षिकाओं के प्रभावात्मक, कलात्मक, साहित्यिक रूचियों पर निर्भर करता है मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोंण से व्यक्तिगत विकास का सम्बंध वंशानुक्रम तथा पर्यावरण से होता है। हमारा पर्यावरण हमारे व्यक्तिगत विकास को प्रभावित करता है। व्यक्तिगत विकास अन्तःक्रियात्मक प्रक्रिया के परिणाम स्वरूप होता है। व्यक्तिगत विकास जन्मजात संस्कारों, आवेगों, प्रवृत्तियों एवं अनुभव के द्वारा अर्जित संस्कारों एवं प्रवृत्तियों का योग है जो व्यक्ति के मन तथा शारीरिक तन्त्र का गत्यात्मक संगठन है। सामान्य शब्दों में मानव की रुचि, विचार, मनोवृत्ति प्रभावित करने का ढंग, व्यवहार करने का ढंग, उसकी आकृति आदि मिलकर व्यक्तिगत विकास को जन्म देते हैं। व्यक्तिगत विकास एवं कार्यक्षमता प्रत्येक व्यक्ति की अलग–अलग होती है और उसी के अनुरूप व्यक्ति का सामाजिक मनोवैज्ञानिक एवं व्यवहारिक दृष्टिकोंण भी होता है। प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तिगत विकास में उसकी शारीरिक रचना एवं स्वास्थ्य का बहुत प्रभाव पड़ता है। यदि किसी व्यक्ति की शरीर–रचना सुन्दर एवं आकर्षक है एवं उसका स्वास्थ्य भी अच्छा है तो उसमें श्रेष्ठ–भाव एवं आत्म विश्वास के गुण विकसित होते हैं। इसके विपरीत जिन व्यक्तियों की शरीर–रचना कुरूप एवं भद्दी होती है, साथ ही साथ स्वास्थ्य भी खराब होता है तो उनमें हीनता की भावना का विकास होता है।

प्रत्येक व्यक्ति को स्नायु–मण्डल जन्म से प्राप्त होता है। जिस व्यक्ति का जितना अधिक स्नायु–मण्डल सुव्यवस्थित रूप से विकसित होगा उस व्यक्ति का व्यक्तिगत विकास उतना सुव्यवस्थित होगा क्योंकि स्नायु–मण्डल के विकसित होने से समस्त मानसिक क्रियाएं सुचारू रूप से चलती हैं। इसके विपरीत जिन व्यक्तियों का स्नायु–मण्डल ठीक से विकसित नहीं होता वे न तो ज्ञान अर्जन कर पाते हैं और न ही वातावरण से अभियोजन ही ठीक प्रकार से कर पाते हैं। दूसरे शब्दों में जिन व्यक्तियों के स्नायु–मण्डल का विकास नहीं हों पाता

तो उनका व्यक्तिगत विकास भी अच्छा नहीं होता और इसका उनकी कार्यक्षमता पर प्रभाव पड़ता है।

व्यक्तिगत विकास एवं कार्यक्षमता में गहरा सम्बंध है इसे क्रच तथा क्रचफील्ड के कथन से जाना जा सकता है। इनका कहना है कि "व्यक्तिगत विकास एवं कार्यक्षमता का आपस में गठबन्धन है जिसका प्रभाव एक दूसरे पर प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से पड़ता है।" व्यक्तिगत विकास हमारी कार्यक्षमता को भी प्रभावित करता है और व्यक्तित्व के अनुरूप ही हमारा सांस्कृतिक तथा सामाजिक विकास होता है। व्यक्तिगत विकास एवं कार्यक्षमता में इतना अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है कि एक–दूसरे को इसका पूरक मानते हैं। क्योंकि बिना व्यक्तिगत विकास के हमारा निर्माण नहीं हो सकता और हम सांस्कृतिक मूल्यों, प्रतिमानों, प्रथाओं, परम्पराओं के बारे में ज्ञान अर्जित नहीं कर सकते। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि व्यक्तिगत विकास हमारी कार्यक्षमता तथा व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक है।

"कार्यक्षमता को बढ़ाने के लिए विद्यार्थियों एवं शिक्षकों को सामाजिकता के प्रति कर्तव्यनिष्ठ होना परम आवश्यक है जो कि व्यक्ति के व्यक्तित्व के लिए और उसके सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक है। आत्म चेतना जैसे गुण भी व्यक्तिगत विकास और कार्यक्षमता में आवश्यक हैं। संतोष, उच्चाकांक्षा, संकल्प शक्ति की प्रवलता, शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य जैसे गुण कार्यक्षमता बढ़ाने को प्रोत्साहित करते हैं। हमारी संस्कृति, सभ्यता, जनरीतियां, रूढ़िया, प्रथाएं व्यक्तिगत विकास करने में विशिष्ट गुणों को निश्चित करती हैं। व्यक्तिगत विकास हमेशा बाल्यावस्था से होना चाहिए तथा उनमें रचनात्मक कार्य करने की प्रक्रिया को प्रधान रूप से विकसित करना चाहिए। व्यक्ति का व्यक्तिगत विकास सामाजिक वातावरण के मध्य होता है अतः सामाजिक दृष्टिकोण से भी प्रत्येक व्यक्ति अद्वितीय है। और उसमें यह योग्यता है कि वह अपनी सामर्थ्य के अनुसार सामाजिक प्रगति में योगदान कर सके। प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व के अन्तर्गत कुछ ऐसे

गुणों का समावेश होता है जो बहुत कुछ स्थाई होते हैं अर्थात उसमे बराबर बने रहते हैं। व्यक्तित्व ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो जन्म से ही समग्र रूप में मौजूद होती हो और आयु की वृद्धि के साथ–साथ प्रकट होती चली जाती हो, बल्कि व्यक्तित्व ऐसी अवधारणा है जो जीवन की समस्या को सुलझाने, बाधाओं का सामना करने या इन्हें पार करने में सफल या असफल होने के दौरान निर्मित होती हैं। व्यक्ति के व्यक्तिगत विकास पर सामाजिक अन्तःक्रियाओं का किसी न किसी रूप में प्रभाव पड़ता है और उसी के अनुरूप व्यक्ति का आचरण एवं व्यवहार निर्धारित होता है।"[1]

व्यक्तिगत विकास एक सामाजिक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है इस प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति धीरे–धीरे उच्च स्थान को प्राप्त कर लेता है और उसी के अनुरूप व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण होता है। व्यक्तित्व निर्माण में भौतिक पर्यावरण का भी प्रभाव पड़ता है जिस जगह की प्रकृति सम्पन्न एवं जलवायु अच्छी होती है उसी के अनुरूप व्यक्तित्व का विकास होता है। संगठित व्यक्तित्व के लिए आवश्यक है कि उसमें सन्तोष, आगे बढ़ने की तीव्र इच्छा तथा जीवन के उद्देश्य ये तीनों बातें हों, बिना इनके व्यक्तित्व का विकास किसी निश्चित दिशा की ओर नहीं हो पाता है अतः व्यक्तित्व में इन गुणों की वृद्धि आवश्यक है। इसके लिए उद्देश्यपूर्ण शिक्षा, वैज्ञानिक दृष्टिकोंण, कार्यक्षमता में अनवरत् वृद्धि की आवश्यकता है।

प्रत्येक व्यक्ति में आयु के अनुसार कार्यक्षमता बढ़ती है और उसी के अनुरूप वह कार्य करता है। शिक्षिकाओं द्वारा शिक्षार्थी में कार्यक्षमता को प्रोत्साहित करने के लिए विद्यार्थी के मनोवेगों, मनोभावों एवं चैतन्य शक्ति को बढ़ाना चाहिए। संस्कृति एवं सभ्यता को स्थिर रखने के लिए कार्यक्षमता बड़ी उपयोगी होती है। कार्यक्षमता विद्यार्थियों को लक्ष्य की ओर बढ़ाती है। बिना कार्यक्षमता के विद्यार्थी

1– रामबाबू गुप्ता, "शिक्षा मनोविज्ञान", पृष्ठ संख्या–573, 574
अलका प्रकाशन, कानपुर।

अपने लक्ष्य से विचलित हो जाते हैं। विद्यार्थियों के लिए कार्यक्षमता एक साधना है। साधना का सम्बन्ध सकारात्मकता एवं चैतन्यता से होता है। कार्यक्षमता के द्वारा विद्यार्थियों में जीवन के प्रतिमानों, जीवन के मूल्यों एवं जीवन की प्रतिभा को प्राप्त कर सकते हैं। व्यक्तिगत विकास एवं कार्यक्षमता का आपस में सुसंगठित गठबंधन है। पूर्ण विकास के द्वारा शिक्षार्थी अपने जीवन को सुचारू एवं सुव्यवस्थित कर सकते हैं। अपूर्ण विकास होने पर विद्यार्थी अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पाते हैं।

व्यक्तिगत विकास का सम्बन्ध मन एवं चित्त से होता है मन हमेशा चंचल होता है। चंचल मन जीवन के विकास के लिए बाधक होता है। मन एवं चित्त की जिज्ञासा एवं एकाग्रता के द्वारा विद्यार्थियों में बौद्धिक विकास क्रमोत्तर होता रहता है। विद्यार्थी व्यक्तिगत विकास एवं कार्यक्षमता के द्वारा सुन्दर स्वरूप को अर्जित कर वास्तविक जीवन के स्वरूप को प्राप्त कर सकते हैं। व्यक्तिगत विकास एवं कार्यक्षमता द्वारा जीवन में प्रमुखता की भावना का विकास होता है। विद्यार्थी जीवन में परिचर्चा के विषय ज्ञानवर्द्धक, तर्कयुक्त एवं संवेगात्मक होना चाहिए। कार्यक्षमता को हमेशा जीवन में क्रमोत्तर एवं उत्तरोत्तर बढ़ाते रहना चाहिए। क्योंकि कार्यक्षमता के द्वारा जीवन की उपलब्धियां घटती तथा बढ़ती हैं। गलत कार्यक्षमता जीवन का ह्रास करतीं हैं तथा अच्छी कार्यक्षमता जीवन को ऊंचाइयों की ओर ले जाती हैं। कार्यक्षमता हमेशा प्रभावशाली, व्यवहारिक तथा प्रासंगिक हो, जिससे व्यक्तिगत विकास तथा कार्यक्षमता में उचित तारतम्य स्थापित हो सके और हमारे जीवन का विकास सुचारू रूप से हो सके।

व्यक्तित्व के विकास में शिक्षा का प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ता है क्योंकि शिक्षा वह माध्यम है जो व्यक्ति के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाहन कर समाज में उसे अपने अनुरूप व्यक्तित्व के विकास में सहायक सिद्ध होती है।

प्रजातन्त्रीय परिपक्वता

"Democracy affirms that each individual is a unique adventure of life......... The function of education is the guidance of this adventure to the realization of the potentialities of each individual in the face of the actual world of men and things. It aims at the development of individual, the discovery, training, and utilization of his special talents."

- Dr. S. Radhakrishnan

वर्तमान युग में शिक्षा प्रजातन्त्र का आधार मानी गई है। प्रजातन्त्र में शिक्षा का स्थान महत्वपूर्ण माना गया है। प्रजातन्त्र की सफलता के लिए शिक्षा का महत्वपूर्ण योगदान माना गया है। प्रजातन्त्र में यदि शिक्षित और अशिक्षितों के वर्ग बन जाते हैं तो शिक्षित वर्ग अपनी बुद्धि के आधार पर अशिक्षितों पर शासन करता है। इससे अशिक्षित वर्ग अपने अधिकारों का उपयोग नहीं कर पाता है। अशिक्षित अपने अधिकारों के साथ–साथ कर्तव्यों से भी अनभिज्ञ रहते हैं। शिक्षा द्वारा लोकतन्त्र को बनाने के लिए नागरिकों को शिक्षित करके उन्हें कुशल नागरिक बनाया जाता है। लोकतन्त्र और शिक्षा का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। पावर ने प्रजातान्त्रिक शिक्षा का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है– "अपने अत्यन्त स्पष्ट और निश्चित रूप में प्रजातान्त्रिक शिक्षा का अर्थ होता है वह सामाजिक एवं राजनैतिक प्रजातन्त्र जो उसके (शिक्षा) लिए आधार स्वरूप है, जिन्होने एक जलवायु या सामाजिक वायुमण्डल उत्पन्न कर दिया है। जिससे एक समझौता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता की बराबर मात्रा में सर्वाधिक शिक्षा के लिए प्रायः अपनी रुचि और प्रेरणा के साथ पावे, ऐसी विधि से शिक्षा प्रणाली का निर्माण किया जावे।

प्रजातन्त्र में शिक्षा प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति का जन्म सिद्ध अधिकार है। प्रजातन्त्र में शिक्षा मानव में समानता तथा स्वतंत्रता का विकास करती

है। शिक्षा व्यक्ति में सामाजिक परिवर्तन के अनुसार परिवर्तन लाती है। शिक्षा मानव में मानवीय गुणों का विकास करती है। प्रजातन्त्र में शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो अधिकांश मनुष्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। यह बाल केन्द्रित होनी चाहिए। शिक्षा बालक की क्षमता, योग्यता, बुद्धि और रुचि के अनुसार दी जानी चाहिए। शिक्षक का स्थान गौण होता है। उसे बालक की आवश्यकताओं की पूर्ति करना चाहिए। शिक्षा में प्रजातन्त्रीय सिद्धान्तों का प्रयोग कुछ बाद में प्रारम्भ हुआ इस दिशा में कार्य करने का सर्वाधिक श्रेय प्रसिद्ध अमरीकी शिक्षाशास्त्री जॉन डीवी को है। इस सम्बन्ध में जॉन डीवी का कथन है कि– "प्रजातन्त्र में ऐसी शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए जो व्यक्ति की रुचियों को सामाजिक कार्यों एवं सम्बन्धों में उत्पन्न कर सके और बिना आवश्यकता के सामाजिक परिवर्तन ला सकें।" जॉन डीवी ने इस बात पर भी बल दिया है कि प्रजातन्त्र को केवल शासन–पद्धति नहीं समझना चाहिए। वस्तुतः प्रजातन्त्र जीवन–पद्धति है। डीवी के लिए प्रजातन्त्र मूलतः सामाजिक जीवन की शैली अथवा विचारों तथा अनुभवों के आदान–प्रदान की शैली है।

डीवी के विचारों का शिक्षा पर बड़ा प्रभाव पड़ा। शिक्षा–क्षेत्र में कार्य करने वाले व्यक्ति धीरे–धीरे शिक्षा को प्रजातान्त्रिक परिपक्वता के सिद्धान्तो पर आधारित करने लगे। शिक्षा में प्रजातान्त्रिक विचारधारा निम्नलिखित रूपों में हमारे सामने आती है–

(1) शिक्षा में जाति, सम्प्रदाय और वर्ग के सम्बन्ध टूट रहे हैं।

(2) बालक के व्यक्तित्व का महत्व बढ़ रहा है।

(3) शिक्षा की ज्योति सभी व्यक्तियों तक पहुँच रही है। शिक्षा मानव का जन्म सिद्ध अधिकार है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है।

(4) उपर्युक्त सिद्धान्त के आधार पर एक निश्चित अवधि तक निःशुल्क, अनिवार्य एवं सार्वभौमिक शिक्षा की व्यवस्था हो रही है।

(5) केवल बालकों की शिक्षा ही नहीं वरन् प्रौढ़ों की शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया जा रहा है। प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षित होना है। प्रौढ़–साक्षरता, समाज शिक्षा आदि की भी व्यवस्था हो रही है।

(6) शैक्षिक अवसरों की समानता का सिद्धान्त बल पकड़ रहा है।

(7) प्रजातन्त्रीय शिक्षा में बालक को अधिकाधिक स्वतन्त्रता प्रदान की जाती है।

(8) पाठ्यक्रम को विस्तृत, लचीला एवं समाज की आवश्यकताओं के अनुकूल बनाने का प्रयत्न हो रहा है। पाठ्यक्रम का निर्माण इस प्रकार हो रहा है कि बालक सोद्देश्य क्रिया की ओर मुड़ सकें।

(9) अध्यापको को अधिक स्वतंत्रता मिलनी चाहिए ओर पाठ्यक्रम के निर्माण में उसका हाथ होना चाहिए। अध्यापक के व्यक्तित्व का प्रजातन्त्र में महत्व है।

(10) प्रधानाध्यापक का अध्यापकों के साथ, अध्यापकों का छात्रों के साथ एवं इन सबका पारस्परिक सम्बन्ध समानता के आधार पर हो और विश्वविद्यालय की नीति के निर्माण में सभी का योगदान हो।

(11) कक्षा–शिक्षण में भी प्रजातन्त्र के सिद्धान्तो का पालन हो। छात्रों पर कम से कम नियंत्रण हो। अध्यापक छात्रों का इस प्रकार मार्गदर्शन करें कि वे स्वयं ज्ञान की खोज में अग्रसर हो सकें।

(12) सीखने में सामाजिक तत्वों का विशेष महत्व है। अतः कक्षा में सामाजिक अनुभव अवश्य प्रदान किए जाएं।

प्रत्येक प्रजातान्त्रिक समाज में उपर्युक्त शैक्षिक सिद्धान्तों की ओर लोगों का ध्यान जाता है। भारत में प्रजातन्त्र थोड़े समय से आया है। यहां पर भी उपर्युक्त विचार बल पकड़ रहे हैं। बहुत से सिद्धान्तो पर हम भारतीयों ने कार्य भी प्रारम्भ कर दिया है। जनतन्त्रीय शिक्षा के मुख्य सिद्धान्तो पर कार्य करने से ही प्रजातन्त्र सबल हो जाता है यदि प्रजातन्त्र केवल शासन–व्यवस्था तक ही सीमित रहता है तो वह असफल हो जाता है।"[1]

"यूनेस्को के प्रतिवेदन लर्निंग टु बी में लिखा है– शिक्षा को समझना चाहिए कि उसका उद्‌देश्य क्या है.? वह (शिक्षा) इतिहास तथा समाज की उपज हो सकती है, परन्तु उनका निष्क्रिय खिलौना नही है, वरन वह गतिशील प्रक्रिया है, जो इस समय विशेषतः भविष्य को आकार देने का एक साधन है क्योंकि अन्ततः शिक्षा को मानव जाति को परिवर्तन, जो कि हमारे युग की प्रमुख विशेषता है के अनुकूल बनाने के लिए तैयार करना होता है।.................वह सम्पूर्ण मनुष्य का निर्माण करने वाला एक साधन है। शिक्षा व्यक्ति का शारीरिक, बौद्धिक, भावात्मक तथा सौन्दर्यात्मक एकीकरण करके पूर्ण मनुष्य का निर्माण करती है।

आधुनिक लोकतन्त्रीय भारत की आकांक्षाओं, आवश्यकताओ और मान्यताओं को ध्यान में रखते हुए शिक्षा के उद्‌देश्यों को निम्नलिखित तीन समूहों में बांटा जा सकता है।

(A) Aims Relating to Individual.

(B) Aims Relating to Society.

(C) Aims Relating to Nation.

प्रजातन्त्रीय भारत में शिक्षा का मुख्य उद्‌देश्य– छात्रों के स्वास्थ्य को अच्छा बनाना है, क्योंकि स्वस्थ्य शरीर ही स्वस्थ्य मस्तिष्क का सूचक है।

1– डा0 रामशकल पाण्डेय, "उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक", पृष्ठ संख्या–353, प्रकाशक– विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।

इसके अतिरिक्त, स्वस्थ व्यक्ति अपने जीवन का आनन्द ले सकता है, अपने व्यवसाय में सफल हो सकता है, दूसरों की सेवा कर सकता है और देश की रक्षा कर सकता है। अतः शिक्षा का उद्देश्य– बालकों के शरीर का विकास करना होना चाहिए। इस उद्देश्य पर "विश्वविद्यालय शिक्षा–आयोग" और "माध्यमिक शिक्षा–आयोग" दोनों ने बल दिया है। देश के लिए व्यक्तियों का शारीरिक स्वास्थ्य कितना आवश्यक है, इस पर प्रकाश डालते हुए जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है– "मेरा विचार है कि जब तक हमारा शारीरिक स्वास्थ्य अच्छा नहीं होगा, तब तक वास्तव में अधिक मानसिक प्रगति नहीं कर सकेंगे।" प्रजातन्त्रीय शिक्षा में मष्तिष्क का विकास करना आवश्यक माना जाता है। इसका विशेष कारण यह है कि शताब्दियों की दासता ने हमारे मष्तिष्क को संकुचित कर दिया है। परिणामतः इसमें स्वतंत्र विचार, तर्क और निर्णय शक्ति नहीं रह गई है। इन शक्तियो के अभाव में न तो हम अपना हित कर सकतें हैं और न दूसरों का, देश की बात तो दूर रही। प्रजातन्त्र के सच्चे नागरिकों के रूप में हममें इन शक्तियों का होना आवश्यक है। अतः यह जरूरी है कि शिक्षा हमारे मष्तिष्क को विकसित करके, हमें इन शक्तियों को प्राप्त करने की क्षमता दे। "विश्वविद्यालय शिक्षा–आयोग" ने बौद्धिक विकास को शिक्षा का उद्देश्य बताया है।"[1]

प्रजातन्त्रीय शिक्षा में विद्यार्थियों को परिपक्व करने के लिए इसका उद्देश्य अच्छे चरित्र का निर्माण करना होना चाहिए। डा0 जाकिर हुसैन ने ठीक ही लिखा है– "हमारे शिक्षा–कार्य का पुनर्संगठन और व्यक्तियों का नैतिक पुनरोत्थान एक दूसरे से अविच्छिन्न रूप में गुंथे हुए हैं। पाश्चात्य सभ्यता की चमक–दमक की चकाचौंध में हम अपने पुराने आदर्शों को भूल चुके हैं। 'धन' हमारा ईश्वर और 'सांसारिक बल की प्राप्ति' हमारे जीवन का लक्ष्य हो गया है। हम आध्यात्मिक विकास की बात को भूल चुके हैं कि हमारे अन्दर आत्मा की दैवीय

1– डा0 गुरूसरन दास त्यागी, "शिक्षा के सिद्धान्त", पृष्ठ संख्या–58, 59
प्रकाशक– विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।

शक्ति है, जो हमें पूर्ण और वास्तविक शक्ति दे सकती है। शिक्षा का उद्देश्य है– हमें इसका ज्ञान प्राप्त करने, इसको विकसित करने, और इसका प्रयोग करने की क्षमता देना। इस बात पर बल देते हुए श्री अरविन्द ने ठीक ही लिखा है– "शिक्षा का उद्देश्य–विकसित होने वाली आत्मा का सर्वोत्तम प्रकार से विकास करने में सहायता देना और श्रेष्ठ कार्य के लिए पूर्ण बनाना होना चाहिए। प्रजातन्त्र के स्वरूप में हमारी अपनी परम्पराएं और आदर्श हैं, जिनके आधार पर निर्मित हमारा समाज सैकड़ों–हजारों थपेड़े खाकर भी अभी तक पूर्ववत् बना हुआ है। दूसरे शब्दों में, हमारी अपनी संस्कृतिक है जिसने हमको अतीत में संसार का पथ प्रदर्शक बनाया था। पर अब पाश्चात्य संस्कृति ने हमारे ऊपर ऐसा मुलम्मा चढ़ा दिया है कि हम अपनी संस्कृति को निम्न समझने लगे है। उससे घृणा करने लगे हैं यह हमारे पतन का मुख्य कारण है। ओटावे का कथन है– "शिक्षा का एक कार्य–समाज के सांस्कृतिक मूल्यों और व्यवहार के प्रतिमानों को अपने तरुण और कार्यशील सदस्यों को प्रदान करना है।" लोकतन्त्र की शिक्षा का महत्वपूर्ण उद्देश्य– मनुष्य के व्यक्तित्व का चतुर्मुखी विकास करना है। इसके लिए ये आवश्यक है कि शिक्षा उसकी मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, भावात्मक और व्यावहारिक आवश्यकताओं पर ध्यान दे और उनको पूर्ण करे। शिक्षा जनतन्त्र का आधार है। शिक्षित व्यक्ति ही अपने अधिकारों और कर्तव्यों को समझ सकता है। उचित प्रकार के प्रतिनिधियों को चुनकर व्यवस्थापिकाओं में भेज सकता है, समाज की समस्याओं का समाधान कर सकता है और देश की प्रगति में योग दे सकता है। आज भारत को स्वतंत्र हुए लगभग 57 वर्ष हो चुके हैं पर जनता को शिक्षित करने की व्यवस्था नहीं की जा सकी है। इसका आधार, जैसा कि हमें हाल की जनगणना की रिपोर्ट से मालूम होता है, यह है कि आज भी हमारे देश में साठ प्रतिशत से अधिक व्यक्ति निरक्षर हैं। स्वामी विवेकानन्द ने ठीक ही लिखा है– "मेरे विचार से जनता की अवहेलना महान राष्ट्रीय पाप है। कोई भी राजनीति उस समय तक सफल नहीं होगी जब तक कि भारत की जनता एक बार फिर अच्छी प्रकार से शिक्षित न हो जाएगी। अतः यह

आवश्यक है कि शिक्षा व्यक्तियों में समाजवाद की भावना को विकसित करके उसे स्थाई रूप प्रदान करे। इस उद्देश्य को पूर्ण करके ही शिक्षा आधुनिक समाज को समाजवादी समाज की ओर ले जा सकती है। इस सम्बन्ध में अपने विचारों को व्यक्त करते हुए जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है– "मैं समाजवादी राज्य में विश्वास करता हूँ, और मैं चाहता हूँ कि शिक्षा का इस उद्देश्य की ओर विकास किया जाए।"[1]

आज का संसार विश्व बंधुत्व की ओर बढ़ रहा है। अतः संसार से पृथक रह कर हम समय के साथ अपने कदम नहीं मिला सकते है। हमें दूसरे देशों से सम्बन्ध स्थापित करना पड़ेगा। हमें उनकी संस्थाओं और पद्धतियों को समझना पड़ेगा उन्हें अपनी संस्थाओं और पद्धतियों के बारे में बताना पड़ेगा। इसके लिए हमें शिक्षा का सहारा लेना पड़ेगा। क्योंकि शिक्षा के द्वारा ही हम भारतीय समाज की परम्पराओं और संस्कृति का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं जो हमारे प्रजातंत्रीय परिपक्वता के लिए आवश्यक है क्योंकि इसके अभाव में हमारा समुचित रूप से विकास नही हो पाएगा और विकास की अवस्था में हम काफी पीछे रह जाएंगे।

वर्तमान शिक्षा–प्रणाली ने हमारे देश में शिक्षित एवं अशिक्षित तथा बुद्धिजीवी वर्ग और साधारण जनता के बीच खाई उत्पन्न कर दी है। अतः इस खाई को पाटना आवश्क है साथ ही, देश में सामाजिक तथा राष्ट्रीय एकता स्थापित की जाए इसके लिए शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य सामाजिक तथा राष्ट्रीय एकता को प्राप्त करना होना चाहिए। इसके लिए हमें अपनी सांस्कृतिक विरासत का फिर से मूल्यांकन करना है तथा उसे समझना है प्रो0 हुमायूँ कबीर के शब्दों में "भारत में शिक्षा द्वारा लोकतंत्रीय चेतना, वैज्ञानिक खोज और दार्शनिक सहिष्णुता का निर्माण किया जाना चाहिए।

1– डा0 गुरूसरन दास त्यागी, "शिक्षा के सिद्धान्त", पृष्ठ संख्या–62
प्रकाशक– विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।

मौलिक उत्थान एवं आत्म चिन्तन

मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन सामाजिक सम्बन्धों को एवं व्यक्ति के व्यक्तित्व को नियमित करते है और सामाजिक व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करते है। मौलिक उत्थान एवं आत्म चिन्तन के आधार पर हम किसी मानवीय व्यवहार को उचित या अनुचित, वैधानिक या अवैधानिक कह सकते है। मौलिक उत्थान द्वारा हमेशा हमारा जीवन क्रमोत्तर वृद्धि की ओर अग्रसर होता है। मौलिक उत्थान के द्वारा मनुष्य अपने जीवन को सुव्यवस्थित सांचे में ढालकर जीवन की आकांक्षाओं की पूर्ति करता है। मनुष्य को मौलिक उत्थान के लिये भौतिक और अभौतिक सुख और दुख जैसे पक्षो को जीवन की कसौटी पर उतारकर उसका मूल्यांकन करना चाहिये। मौलिक उत्थान विद्यार्थी जीवन को सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, नैतिक, शैक्षणिक एवं प्रजातांत्रिक मूल्यों की सही परख कराता है। मौलिक उत्थान एक सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रक्रिया है। मौलिक उत्थान रीति–रिवाजों, प्रथाओं, मूल्यों, आदर्शों एवं आत्मचिन्तन के प्रतिमानों को सही क्रियान्वित करते है। आत्मचिन्तन को गतिशीलता मिलती है आत्मचिन्तन से जीवन में चमक आ जाती है। आत्मचिन्तन की प्रक्रिया एकीकरण को बढ़ावा देती है। मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन दोनों ही संगठनकारी प्रक्रियाएं है। मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन सहयोग तथा एकीकरण की प्रक्रिया को बढ़ावा देता है। विद्यार्थियों एवं शिक्षकों के वैयक्तिक एवं सामाजिक उद्देश्यों के बीच में समन्वय होना चाहिए। मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन जीवन–पर्यन्त प्रक्रियाएं है। मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन संस्कृति के सम्वंर्द्धन एवं विकास के लिए आवश्यक होता है। मौलिक उत्थान से सात्मीकरण होता है। मौलिक उत्थान से विद्यार्थी एवं शिक्षक अपने जीवन का व्यवस्थापन तथा मूल्यांकन करते हैं। मौलिक उत्थान शिक्षक, शिक्षिकाओं, माता–पिता एवं समाज के अच्छे लोगों के द्वारा विद्यार्थियों में व्यापक पैमाने पर इस गुण का प्रतिपादन किया जाता है। मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन तथा भारतीय शिक्षा का बीजारोपण, ब्राह्मणीय शिक्षा एवं वैदिक शिक्षा के समय हुआ

था। मौलिक उत्थान का सम्बन्ध चरित्र का निर्माण, व्यक्तित्व का विकास, नागरिक एवं सामाजिक कर्तव्य पालन की भावना का समावेश, सामाजिक कुशलता की उन्नति, राष्ट्रीय संस्कृति का संरक्षण एवं प्रसार, प्रजातान्त्रिक मूल्यों का संरक्षण, सामाजिक कुशलता, विकासात्मक पक्ष की आस्था एवं मौलिक अधिकार एवं उन्नति का वास्तविक ज्ञान और अनुभव कराती है। मौलिक उत्थान के द्वारा एकता तथा समन्वय स्थापित किया जा सकता है। विषमताओं को नष्ट किया जा सकता है और प्राचीन संस्कृति से लेकर वर्तमान तक मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन के द्वारा उत्कृष्टता को प्राप्त कर सकते है। विद्यार्थियों को मूल प्रवृत्ति की शिक्षा देनी चाहिए जिससे उनका जीवन में विकास हो सके। मौलिक उत्थान के द्वारा स्वभाविक शत्रुता को नष्ट किया जा सकता है। समाज के विभिन्न प्रकार के गुण एवं अवगुण मनुष्य मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन के द्वारा अर्जित कर सकता है। मौलिक उत्थान के द्वारा प्रतिकूलता एवं अनुकूलता जैसी क्षमताओं को विकसित एवं समृद्ध किया जा सकता है जिससे व्यक्ति के जीवन में होने वाले परिवर्तनों में सहायता मिलती है और उसी के अनुरूप मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास कर समाज में श्रेष्ठ नागरिकता को प्राप्त कर सकता है। आत्मचिन्तन अनवरत् शिक्षा है। आत्मचिन्तन के द्वारा शिक्षकों एवं शिक्षार्थी के बीच मधुर सम्बन्ध को स्थापित किया जा सकता है। मौलिक उत्थान से विद्यार्थियों को समुचित आध्यात्मिक प्रोत्साहन मिलता है। मौलिक उत्थानों से विशेष प्रतिभाओं, स्वभाविक प्रवृत्तियों का विकास होता है। मौलिक उत्थान से जनमानस की प्रवृत्ति पनपती है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में मौलिक उत्थान की विधियों एवं आत्मचिन्तन जैसी स्वाध्याय प्रक्रियाओ पर विशेष जोर देना चाहिए। जिससे विद्यार्थियों का आत्म मन्थन एवं आत्म नियंत्रण हो सके। मौलिक उत्थान से विद्यार्थी जीवन की जटिल समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। जीवन को क्रमोत्तर एवं उत्तरोत्तर बनाने के लिए मौलिक उत्थान को जीवन में उतार कर अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए प्रगतिशील होना चाहिए। विद्यार्थी जीवन को सुगम एवं स्वच्छ बनाने के लिए आत्मचिन्तन सबसे बड़ा साधन है। परन्तु आज के जीवन को आदर्श

जीवन बनाने हेतु मानव को आत्मचिन्तन के सिद्धान्तों एवं रूपरेखा का अनुसरण करना चाहिए जिससे समाज एवं राष्ट्र में स्थाई सुख एवं शान्ति की स्थापना की जा सके। शिक्षिकाओं को मौलिक उत्थान के मूल्यों को विद्यार्थियों के जीवन मे अधिक से अधिक बढ़ाने का प्रयास करना चाहिए जिससे बढ़ता हुआ विद्यार्थी रूढ़िवादी एवं कट्टरपंथी न बनकर विभिन्न सांस्कृतिक एकता की भावना का विकास कर सके। मौलिक उत्थान से जीवन संकल्पमय तथा प्रगतिशील बनता है। विद्यार्थियों में समाज सेवा, राष्ट्र सेवा तथा बड़ों की सेवा करने के भाव जागृत होते हैं। जिससे विद्यार्थी जीवन की क्रमोत्तर वृद्धि होती रहती है और वह अपने जीवन में उच्चतम शिखर को प्राप्त कर सकता है।

भूमण्डल पर जीवन जीने हेतु प्रत्येक व्यक्ति को मौलिक उत्थान के द्वारा जीवन जीने हेतु ऊर्जा मिलती रहती है जो कि व्यक्तियों को नवीन क्षेत्रों के लिए अग्रसारी बनाती है। मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन प्रगतिशीलता को प्राप्त करने के स्थाई एवं परम्परागत तरीके हैं जो कि जीवन को स्थायित्व प्रदान करते हैं। मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन व्यक्तियों का मेरुदण्ड है जो कि जीवन को कुशल, योग्य एवं क्रियाशील बनाने के लिए स्फूर्ति एवं उल्लासता के रास्ते पर ले जाता है। जीवन में दक्षता प्राप्त होती है तथा अनावश्यक चिन्ता से मुक्ति मिलती है। मौलिक उत्थान और आत्मचिन्तन हमें सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश से परिचित कराता है। मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन से विद्यार्थियों में मूल प्रवृत्तियों का विकास होता है। जिससे विद्यार्थी जीवन में क्रमिक विकास होता जाता है। यदि विद्यार्थी समाज के नियम तथा व्यवस्था से हट जाता है तो उसके जीवन में अनेक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, शारीरिक, मानसिक प्रवृत्तियों का दमन होने लगता है जिनकी वह अधिकतम पूर्ति चाहता है। मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन से इन्कार करने पर नियंत्रात्मक नियमों की आदर्शात्मक संरचना शिथिल हो जाती है और उस अवस्था में व्यक्ति को यह समझ में नहीं आता कि क्या गलत है और क्या सही, उसकी इच्छाएं अदम्य

रूप में बढ़ जाती है और उनकी सन्तुष्टि के लिए वह नियमहीनता का सहारा लेता है तथा आत्मचिन्तन न करने पर समाज में स्थापित सामाजिक व्यवस्था में नियमहीनता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। सारे समाज में अव्यवस्था, मूल्यहीनता एवं आदर्शहीनता जैसी बुराइयां काफी तेजी से फैल जाती हैं जिसका समाज की आदर्शात्मक व्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति को जीवन में हमेशा आत्मचिन्तन जैसे गुणों को अपनाना चाहिए जिससे कि वह जीवन में सकारात्मक एवं सतत् विकास की ओर अग्रसर हो सके।

आत्मचिन्तन के द्वारा जीवन में अनुरूपता, शिष्टाचार, समता, कर्मकाण्डीयता जैसे सद्गुणों का विकास होता है जिससे जीवन में संहिताओं एवं नियमों की आदर्शात्मक व्यवस्था बनी रहती है और हमारा जीवन सुचारू रूप से चलता रहता है। मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन जैसे गुणों से दूर रहने पर अनुशासनहीनता का जन्म होता है तथा सामाजिक सम्बन्धों में जटिलता आती है जबकि मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन के द्वारा प्रतिष्ठा, सम्मान आदि की प्राप्ति होती है। मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन से उत्तरदायित्व की भावना जाग्रत होती है मौलिक उत्थान से संख्यात्मक, गुणात्मक, परिणात्मक वृद्धि होती है। मौलिक उत्थान के द्वारा जीवन के दोषों को दूर किया जा सकता है और बौद्धिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है। आत्मचिन्तन से जीवन मे उमंग, सृजनशीलता और विश्वास की भावना का विकास किया जा सकता है। आत्मचिन्तन व्यक्तियों के मानसिक विकास के लिए विषय–वस्तु उपलब्ध कराता है।

आधुनिक शिक्षा में शिक्षिकाओ को मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन पर अधिक ध्यान देना चाहिए। मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन के द्वारा व्यवहारिक कार्य में प्रवीणता को प्राप्त कर सकते हैं। सैद्धान्तिक पक्षों में पारदर्शिता स्पष्ट दिखलाई दे सकती है। मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन यथार्थता पर आधारित एक साधना है जो हमारी संकीर्णता को नष्ट कर देती है। जीवन में आत्मचिन्तन न करने पर अहितकर, अनुपयोगी एवं अनुपयुक्त प्रक्रिया हमारे जीवन को प्रभावित

करती है। आत्मचिन्तन से शिक्षिकाओं एवं विद्यार्थियों का चरित्र सुसज्जित एवं परिपक्वता को प्रदर्शित करता है। आत्मचिन्तन से मनोबल का विकास होता है। आत्मचिन्तन न करने पर मानव जीवन की गुणवत्ता में गिरावट आ जाती है। मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन की प्रक्रियाएं अन्योन्याश्रित तथा एक साथ चलती हैं। एक ओर सामाजिक विकास के द्वारा व्यक्ति ज्ञानार्जन के योग्य बनता है तो दूसरी ओर शिक्षा के द्वारा उसका उचित विकास सम्भव हो पाता है। मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन के द्वारा शिक्षिकाओं एवं विद्यार्थियों में वास्तविकता आत्मसात होती है और इसे न करने पर आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, चारित्रिक एवं नैतिक गतिविधियों का विकास रुक जाता है। मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन के द्वारा जीवन में उचित मूल्यों का समावेश होता है और बौद्धिक क्रियाकलापों का क्रमोत्तर विकास होता रहता है। मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन से जीवन में सुचिता तथा आदर्श का निर्माण होता है। विश्व के महान शिक्षाविदों, समाजशास्त्रियों तथा सामाजिक दार्शनिकों ने मौलिक चिन्तन पर अधिक से अधिक सुझाव दिए। मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन एक जीवन–पर्यन्त प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया से मानवता के मूल्यों की पहचान की जा सकती है। इस प्रक्रिया के द्वारा मनुष्यत्व में दिन–प्रतिदिन विकास की प्रक्रिया चलती रहती है। मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन का वास्तविक आकार प्राप्त करने के लिए विद्यार्थियों तथा शिक्षिकाओं को (प्राथमिक, पूर्व माध्यमिक, माध्यमिक तथा महाविद्यालयी) अच्छे तथा स्वच्छ आदर्श तथा जीवन के प्रतिमानों को क्रियाशील बनाकर उनमें सही आदर्शों का निर्माण करें। डा0 राधाकृष्णन तथा स्वामी विवेकानन्द ने मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन को अधिक से अधिक जीवन में उतारने के लिए मार्गदर्शन दिए तथा उनके अनुसार मौलिक चिन्तन जीवन का सार एवं निचोड़ है। मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन से विद्यार्थियों के जीवन का विकास एवं उन्नयन होता है। विद्यार्थी मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन की प्रक्रिया को अपनाकर अपने जीवन के लक्ष्य तथा उद्देश्य को प्राप्त कर सकते हैं क्योंकि मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन एक जीवन–पर्यन्त प्रक्रिया है। विद्यार्थियों को मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन से आत्मोत्थान तथा

आत्मोत्सर्ग तथा ज्योतिर्मय जैसी प्रक्रियाओं की दिन–प्रतिदिन प्रगति होती है। मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन एक आध्यात्मिक एवं धार्मिक क्रिया है परन्तु इसको व्यवहारिक बनाया जा सकता है। क्योंकि मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन से विद्यार्थी अपने जीवन का सही मूल्यांकन करके प्रगतिशील मार्ग अपनाकर विवेकमय तथा आत्मसंयमी जीवन का मार्गान्तीकरण कर सकता है। मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन जीवन का आधार है, बिना चिन्तन के जीवन अपूर्ण है, तथा चिन्तन करने से जीवन पूर्ण बनता है। चिन्तन से जीवन में सदाचार तथा आदर्श व्यक्तित्व का निर्माण होता है। मौलिक चिन्तन एक आत्मसात करने का तरीका है। पहले शिक्षकों को आत्मसात करना चाहिए उसके पश्चात विद्यार्थियों को आत्मसात करने के लिए मानसिक तथा आध्यात्मिक रूप से उनको तैयार करना चाहिए। मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन से जीवन गहरा, गम्भीर तथा सौम्य बनता है। मौलिक चिन्तन से जीवन–पर्यन्त तक मनुष्य सदाचार आचरण तथा आनन्द का सुख प्राप्त करता है। मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन से वास्तविक गहराई तथा जीवन की सच्चाई का पता चलता है। विद्यार्थियों के आत्मचिन्तन करने से जीवन क्रमोत्तर विकास की ओर अग्रसारी तथा अग्रगामी बन जाता है। जीवन वास्तव में एक चिन्तनीय तन्त्र है। मनुष्य परिवार, समाज तथा राष्ट्र को आदर्शमय बनाने के लिए चिन्तन करके उसको उन्नयन मार्ग की ओर ले जा सकता है। विद्यार्थियों के जीवन में आदर्शवादी नीतियों को अपनाना चाहिए। जो कि विशेष रूप से सारगर्भित तथा जीवन में तटस्थता के सिद्धान्तो पर खरी उतरनी चाहिए, जीवन में मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन की शुरूआत प्राथमिक विद्यालयों से लेकर वृद्धावस्था तक चलती रहती है। मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन जीवन की विसंगतियों को दूर करती है। चिन्तन शब्द की परिभाषा विभिन्न दार्शनिकों ने अलग–अलग प्रकार से की है। अमेरिका के महान साहित्यकार टी0 एस0 इलियट ने चिन्तन का सम्बन्ध वास्तविक जीवन की सच्चाई से बताया है। व्यक्ति चिन्तन से मनुष्यता को भी प्राप्त कर सकता है। बिना चिन्तन के जीवन अधूरा तथा अपूर्ण माना जाता है। चिन्तन जीवन को सच्चाई की कसौटी पर ला खड़ा कर देता है।

चिन्तन से जीवन में परिपक्वता, सहृदयता, कर्तव्यनिष्ठता एवं कर्तव्यपरायणता जैसी अच्छाइयों का विकास होता है। बुराइयां धीरे–धीरे नष्ट हो जाती हैं। चिन्तन से ही जीवन की रूपरेखा का निर्माण होता है क्योंकि बिना चिन्तन के जीवन को सच्चाई की कसौटी पर खरा नहीं उतारा जा सकता।

महात्मा बुद्ध ने मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन पर अधिक से अधिक जोर दिया है। महात्मा बुद्ध ने कहा है कि चिन्तन की प्रक्रिया को लगनशील तथा विवेकशील जैसे बिन्दुओं पर केन्द्रित होना चाहिए क्योंकि चिन्तन से जीवन में सच्चाई का जन्म होता है। महात्मा गान्धी ने चिन्तन को जीवन का सच्चा मार्ग बताया है क्योंकि बिना चिन्तन के जीवन का विकास अधूरा तथा अपरिपक्व होता है। महात्मा गांधी के दर्शन में सत्य, अहिंसा एवं मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन जीवन के आभूषण है क्योंकि मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन का आपस में गठबन्धन है। चिन्तन जीवन का वास्तविक दर्शन एवं सार है विद्यार्थियों को जीवन के विकास के साथ–साथ चिन्तन को अपना जीवन का विषय बनाना चाहिए। चिन्तन जीवन का स्वाध्याय है। चिन्तन से चरित्र तथा व्यक्तित्व का निर्माण होता है मौलिक उत्थान से जीवन प्रगति की ओर बढ़ता है बिना उत्थान के विद्यार्थियो का जीवन अपूर्ण माना जाता है। चरित्र तथा जीवन के दोषों को दूर करने के लिए चिन्तन आवश्यक है। चिन्तन से जीवन में सत्यता तथा अहिंसा का जन्म होता है।

जार्ज वर्नाड शॉ इंग्लैण्ड के बीसवीं सदी के महान नाटककार थे, ने चिन्तन शब्द के बारे में कहा है कि चिन्तन शब्द जीवन की सच्चाई एवं कसौटी है। चिन्तन से जीवन में आत्मसातकरण जैसे गुणों का विकास होता है। जिससे जीवन में सुन्दरता तथा मौलिक गुणों का विकास होता है। चिन्तन चिर एवं स्थाई जीवन पर्यन्त प्रक्रिया है। रवीन्द्र नाथ टैगोर ने कहा है कि आत्मोत्थान एवं चिन्तन बाल्यावस्था से बृद्धावस्था तक की प्रक्रिया है क्योंकि बाल्यावस्था दया, त्याग, बलिदान, परोपकारिता, सृजनता तथा गम्भीरता जैसे गुणों से अपने

जीवन की रूप रेखा को एक निश्चित सांचे में ढाल सकते हैं। मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन से मौलिकता तथा नैतिकता का विकास होता है जिससे विद्यार्थियों में अच्छी नीतियों का विकास किया जा सकता है। विद्यार्थियों को अपने जीवन को उच्च पथ पर अग्रसर करने के लिए जीवन में चिन्तन करते रहना चाहिए।

"विदुर नीति" तथा "चाणक्य नीति" में मौलिक उत्थान तथा चिन्तन जीवन पर्यन्त प्रक्रिया है क्योंकि मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन से जीवन हर क्षेत्र तथा हर मोड़ पर गत्यात्मक बनाया जा सकता है। चिन्तन की प्रक्रिया से माता–पिता के प्रति सम्मान, बृद्धों के प्रति सम्मान तथा गुरुओं के प्रति सम्मान की भावना का जन्म होता है। चिन्तन का सम्बन्ध शिक्षा, आध्यात्म, धर्म, नैतिकता, नीतिशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र से है। विभिन्न समाजशास्त्रियों एवं दार्शनिकों ने मौलिक उत्थान किया फिर चिन्तन किया, जिसके द्वारा उन्होने जीवन को गौरवता तथा श्रेष्ठता की सूची मे लाकर खड़ा किया। प्रत्येक शिक्षार्थी तथा शिक्षक को अनुसरण करना चाहिए। मौलिक उत्थान एवं चिन्तन करने से जीवन का सही मार्ग–दर्शन होता है जिससे विद्यार्थियों को आत्मबल मिलता है। प्रत्येक चिन्तनकर्ता को चिन्तन करते समय एकाग्रता तथा मानसिक शान्ति बनाए रखनी चाहिए। चिन्तन करने से जीवन में विकास के अवसर मिलते हैं जो कि जीवन के लिए परम आवश्यक है। चिन्तन के द्वारा शिक्षिकाओं तथा शिक्षार्थी का आपसी मधुर तथा स्वच्छ तालमेल रहता है। चिन्तन एक गम्भीर तथा मन को एकाग्र करने वाली क्रिया है। जिससे जीवन में बहुमुखी आयामों का निर्माण होता है और हमारा जीवन अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है। चिन्तन करने से जीवन में शान्ति मिलती है। प्रत्येक बालक एवं बालिकाओं का चिन्तन का निर्धारित समय हो तथा अच्छी बातों के लिए चिन्तन हमेशा उपयोगी होता है। चिन्तन करने से जीवन में स्पष्टता का निर्माण होता है जो हमारे जीवन को क्रमोत्तर वृद्धि की ओर ले जाता है। चिन्तन करने से जीवन में सहयोग एवं प्रेरणा मिलती है। चिन्तन करने से विद्यार्थियों में मौलिकता तथा सद्चरित्रता जैसी अच्छाइयों का दिन–प्रतिदिन विकास होता

है। चिन्तन जीवन के आरम्भ से अन्त तक करते रहना चाहिए जिससे जीवन ज्ञानवर्द्धक तथा उपयोगी बन सके जो कि जीवन का मूलमन्त्र है। चिन्तन से वास्तव में कठिन से कठिन समस्याओं का निराकरण हो जाता है। जिससे मनुष्य में आध्यात्मिकता की दृष्टि का विकास होता है तथा भौतिकता का ह्रास।

वस्तुतः चिन्तन से जीवन की समष्टि तथा सूक्ष्मता का आभास होता है जो कि जीवन को आनन्द देता है। चिन्तन न करने वाले कल्पनाओं की समृद्धि तथा सुख–दुख जैसी अभिवृत्तियों में हमेशा उलझे रहते हैं तथा उनके पास व्यापक दृष्टिकोंण का अभाव रहता है। वह जीवन की गहराई से अपरिचित रहते हैं और उनका जीवन अपरिपक्व रहता है और इस कारण वह मानसिक द्वंदों जैसी प्रक्रियाओं में उलझे रहते हैं तथा जीवन सुचारू एवं सुव्यवस्थित रूप से विकसित नहीं हो पाता है। और वह अपने जीवन का आनन्द नहीं ले पाते हैं। इस कारण कई प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है और जीवन का निरन्तर ह्रास होता रहता है।

चिन्तन का सम्बंध रहस्यवाद से होता है, चिन्तन से मनुष्य वस्तु–जगत से बहुत ऊँचा उठ जाता है। विचार–शक्ति, भाव–लोक, कल्पना का संसार और पावन–प्रेम की स्थाई भावना का विकास होता है और मनुष्य का पूर्णरूप से आध्यात्मिक, नैतिक एवं चारित्रिक विकास होता है। चिन्तन न करने से विद्यार्थियों की चित्तवृत्तियां बहुमुखी न होकर अन्तर्मुखी हो जाती हैं अर्थात उसमें अर्न्तजगत का वास्तविक अभाव हो जाता है और जीवन में पतन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। चिन्तन से शरीर में भावनाओं का विकास होता है और मनुष्य एक बुद्धिसम्पन्न प्राणी के रूप में अपनी पहचान स्थापित करता है, इस कारण मनुष्य में सजीवता तथा सृजनता का विकास होता है और वह समाज में नई चित्तवृत्तियों का निर्माण करता है।

भारतीय चिन्तन का मुख्य आधार वेद तथा उपनिषद हैं। चिन्तन

से प्रकृतिवाद तथा रहस्यवाद की ओर प्रवृत्तियों का झुकाव होता है जिससे जीवन में उचित तथा अनुचित की पहचान का ज्ञान किया जा सकता है। विभिन्न दार्शनिकों एवं चिन्तकों ने मौलिक उत्थान एवं आत्मचिन्तन की प्रक्रिया को व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक कहा है क्योंकि चिन्तन जीवन का सही मार्ग है, इससे जीवन में उत्कृष्टता जैसे सद्‌गुणों का विकास होता है और हमारे जीवन में कृत्रिमता का पतन होता है। चिन्तन से दृष्टि में यथार्थता तथा आदर्शता जैसे गुणों का विकास किया जा सकता है और जीवन को क्रमोत्तर विकास की ओर अग्रसर कर सकते हैं।

मनोवैज्ञानिक उत्थान एवं सामाजिक सद्भाव

मनोवैज्ञानिक उत्थान-

'जैविकीय प्राणियों के समान मनुष्य एक 'विकासशील प्राणी' है किन्तु वह एक 'बौद्धिक', 'जिज्ञासु', 'सामाजिक' एवं 'नैतिक' प्राणी भी है। बौद्धिक प्राणी होने के नाते उसमें सीखने, अतीत के अनुभवों से लाभ उठाने, परिस्थितियों से अभियोजित करने व किसी समस्या का समाधान करने की अपार शक्ति होती है। जिज्ञासु प्राणी होने के नाते उसमें वातावरण में उपस्थित वस्तुओं व घटित घटनाओं तथा स्वयं अपने सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने की तीव्र इच्छा होती है। सामाजिक प्राणी होने के नाते जहां वह एक ओर स्वयं समाज में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए सफलतापूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहता है वहीं दूसरी ओर उससे अपेक्षा की जाती है कि वे समाज में 'संस्कृति' एव 'सभ्यता' के रूप में 'ज्ञान' तथा 'अनुभव' का विशाल भण्डार अर्जित किया है, उसके सम्बन्ध में समुचित जानकारी प्राप्त करते हुए अपने एवं समाज की प्रगति में आवश्यक योगदान दें। एक नैतिक प्राणी होने के नाते उसमें शुभ–अशुभ, अच्छे–बुरे, नैतिक–अनैतिक के अन्तर को समझते हुए उचित व्यवहार करने की उत्कृष्ट अभिलाषा तथा असीमित क्षमता होती है। किन्तु एक विकासशील प्राणी होने के नाते वह ऐसा सब नहीं कर सकता बल्कि इन मानवीय गुणों के विकास के लिए मनोवैज्ञानिक उत्थान, सामाजिक सद्भाव एवं शिक्षा की अति आवश्यकता होती है। शिक्षा के अभाव में यह विकासशील प्राणी निरा पशु–का–पशु ही रह जाएगा। एक समय था जब शिक्षा का स्वरूप एकपक्षीय था और वह (शिक्षा) पूर्णरूपेण शिक्षक व विषय–केन्द्रित थी उस समय शिक्षक शिक्षार्थियों के मष्तिष्क में ज्ञान भरने का प्रयास करते थे जिसके परिणामस्वरूप मनुष्य ज्ञान धारण करने वाला प्राणी मात्र रह जाता था, न तो उस विकासशील प्राणी का मनोवैज्ञानिक उत्थान एवं जैविकीय विकास समुचित रूप से हो पाता था और न मानवीय विकास।''[1]

1– रामबाबू गुप्ता, ''शिक्षा मनोविज्ञान'', पृष्ठ संख्या–75
अलका प्रकाशन, कानपुर।

"मनोवैज्ञानिक उत्थान हमेशा शिक्षार्थियों के लिए प्रेरणाओं एवं मूल प्रवृत्तियों का कार्य करता है। मनोवैज्ञानिक उत्थान के द्वारा शिक्षार्थियों के वंशानुक्रम एवं वातावरण का अध्ययन किया जाता है। वंशानुक्रमवादी इस वात पर बल देते है कि मनोवैज्ञानिक उत्थान को निर्धारित करने में वंशानुक्रम का अधिक महत्व रहता है। किन्तु इसके विपरीत पर्यावरणवादी कहते हैं कि पर्यावरण ही मनुष्य के सम्पूर्ण व्यवहार का एकमात्र आधार है। दोनों सम्प्रदायो ने अपने–अपने मत की पुष्टि के लिए अनेक सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया है। किन्तु वास्तविकता यह है कि मानव व्यवहार को निर्धारित करने में विभिन्न कारकों का योगदान होता है। यही तथ्य मनोवैज्ञानिक उत्थान में भी लागू होता है। शिक्षा मानव व्यवहार में निरन्तर परिवर्तन और परिमार्जन लाने की प्रक्रिया है। यह मनोवैज्ञानिक उत्थान क्या है। यह जानने के लिए अधिकांश मनोवैज्ञानिक व्यक्ति की विभिन्न मनोवैज्ञानिक क्रियाओं के स्वरूप एवं विकास का अध्ययन करते रहते हैं। किन्तु इसमें भी एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि मनोवैज्ञानिक उत्थान के स्रोत या आधार क्या हैं.? मनोवैज्ञानिक उत्थान के स्रोतों या आधारों के रूप में हम प्रेरणा व प्रेरक तत्वों पर प्रकाश डालते हैं जो जन्मजात एवं अर्जित दोनों प्रकार के होते हैं किन्तु कुछ मनौवैज्ञानिकों ने केवल जन्मजात स्रोतों को ही मनोवैज्ञानिक उत्थान का आधार माना है। जिनको उन्होने मूल प्रवृत्तियों की संज्ञा दी है। इन मनोवैज्ञानिकों में अमेरिका के प्रमुख मनोवैज्ञानिक विलियम मैक्डूगल का नाम सबसे आगे आता है। उनका कथन है कि– "मूलप्रवृत्तियां प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सम्पूर्ण मनोवैज्ञानिक उत्थान की प्रमुख चालक होती हैं।" उन्होने यहां तक कहा है, "यदि मूल प्रवृत्तियां तथा सम्बन्धित संवेगों को निकाल दिया जाए तो प्राणी किसी भी प्रकार कार्य नहीं कर सकता है। इस प्रकार वह गतिहीन एवं निश्चल हो जाएगा। जिस प्रकार एक अच्छी घड़ी जिसकी मुख्य कमानी हटा दी गई हो या एक स्टीम इंजन जिसकी आग बुझ गई हो।" सुप्रसिद्ध विद्वान जे0 एस0 रॉस ने मनोवैज्ञानिक उत्थान के बारे में कहा है कि "मनोवैज्ञानिक उत्थान एक प्रकार से ईंटो के समान है जिनके द्वारा व्यक्ति का चरित्र–निर्माण

होता है।" यदि हम मानव–व्यवहार के स्वरूप के इतिहास पर एक विहंगम दृष्टि डालें तो हमें पता चलता है कि आरम्भ काल से ही मानव अन्य पशुओ के समान अपनी मूल प्रवृत्तियों एवं मनोवैज्ञानिक उत्थान का दास रहा है। इसका कारण यह है कि अन्य प्राणियों व पशुओं के समान मनुष्य भी एक प्राणी या पशु है। चूंकि मनोवैज्ञानिक उत्थान ही प्राणी या पशु के व्यवहार की प्रमुख चालक है और मानव भी अपने मूल–स्वभाव में एक पशु ही है। अतः मानव का मनोवैज्ञानिक उत्थान एवं मूलप्रवृत्तियों का दास होना स्वभाविक है। किन्तु मानव एक निरा–पशु ही नहीं है बल्कि वह बौद्धिक प्राणी भी है। फिर यह कैसे सम्भव हो सकता है कि अन्य पशुओं और प्राणी के समान वह भी पशुवत व्यवहार करता रहे और इस प्रकार वह मनोवैज्ञानिक उत्थान के द्वारा सामाजिक प्राणी के रूप में जीवन निर्वाह करता है। रॉस के अनुसार– "मनोवैज्ञानिक उत्थान व्यक्तित्व का निर्माण करने के लिए कच्ची सामग्री है।"[1]

मानव–व्यवहार के आधार के रूप में मनोवैज्ञानिक उत्थान के समान, सामान्य प्रवृत्तियों का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इन प्रवृत्तियों को मैकडूगल ने सामान्य स्वभाविक प्रवृत्तियों की संज्ञा दी है। मनोवैज्ञानिक उत्थान के समान ये प्रवृत्तियां जन्मजात होती हैं और सामान्य रूप से सभी मानव परिस्थितयों में सभी व्यक्तियों में पाई जाती हैं। जैसा कि स्टर्ट एवं आडन ने कहा है कि "मनोवैज्ञानिक उत्थान हमारे जीवन में अत्याधिक महत्वपूर्ण कार्य करता है। ये हमारी मानसिक एवं संवेगात्मक संगठन की इकाई है जो तुलनात्मक रूप मे स्थाई होती है।" मनोवैज्ञानिक उत्थान की सहायता से व्यक्तियों की मूल प्रवृत्तियों, रुचियों, बुद्धि, जिज्ञासा तथा अन्य आवश्यकताओं को वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में समझने में सहायता मिलती है। जिसके आधार पर हम किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व तथा मनोवैज्ञानिक उत्थान के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

1– रामबाबू गुप्ता, "शिक्षा मनोविज्ञान", पृष्ठ संख्या–99, 100
अलका प्रकाशन, कानपुर।

सामाजिक सद्भाव-

भारतीय प्रजातन्त्र की रक्षा के लिए सामाजिक सद्भाव अत्यावश्यक है। इसीलिए कुछ समय से भारतीय नेता सामाजिक सद्भाव पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने लगे हैं। राज्य के शिक्षामन्त्रियों के सम्मेलन में नवम्बर 1960 में देश के अन्दर व्याप्त विघटनकारी तत्वों पर विचार करते हुए सुझाव दिया कि केन्द्रीय शिक्षा–मन्त्रालय सामाजिक सद्भाव पर विचार करने के लिए एक समिति की नियुक्ति करे। परिणाम स्वरूप, मन्त्रालय ने 15 मई, 1961 को डा0 सम्पूर्णानन्द की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति की। आजकल सामाजिक सद्भाव के विषय में भारतीय विचारक सजग हो उठे हैं। भारत एक राष्ट्र है किन्तु इसमें विघटनकारी तत्व प्रबल हो गये हैं। राजनीतिक दृष्टि से भारत में प्रजातन्त्र है और कश्मीर से कन्याकुमारी तक और पंजाब से असम तक का भू–भाग भारतीय राष्ट्र कहलाता है। किन्तु कुछ नागाओं की समस्या बहुत समय तक सिरदर्द बनी हुई थी। कुछ नागाओं ने पृथक राष्ट्र की कल्पना की थी। अन्य राज्यों की भांति अब उनका एक पृथक राज्य बन गया है जो भारतीय संविधान के अन्तर्गत कार्य करेगा। उस राज्य का नाम रखा गया है 'नागालैण्ड'। यह नाम भी कुछ विशेष अच्छा प्रतीत नहीं होता क्योंकि हालैण्ड, इंग्लैण्ड आदि की भांति इससे पृथक राष्ट्र का भ्रम हो सकता है। भारत सरकार ने 'नागालैण्ड' को स्वीकार करके नागाओं को पर्याप्त अधिकार दिए हैं किन्तु कुछ विद्रोही नागा इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हैं। आशा है, भविष्य में विद्रोही नागा 'नागालैण्ड' की वैधानिक सरकार को मान लेंगे और इस प्रकार यहां शान्ति स्थापित हो सकेगी।

कश्मीर का प्रश्न पाकिस्तान के लिए अभी भी प्रश्न ही बना हुआ है। यदा–कदा नए सिरे से यह प्रश्न दुहराया जाता है और संयुक्त राष्ट्र संघ भी अपना बहुमूल्य समय इसकी चर्चा में नष्ट करता रहता है। भारत सरकार का दृष्टिकोंण है कि कश्मीर भारत का अविभाज्य अंग है। पाकिस्तान जनमत गणना की रट लगाये हुए है। कश्मीर के प्रश्न पर भारत एवं पाकिस्तान के

बीच कभी–कभी तनाव हो जाता है और उसका प्रभाव दोनों देशों के आर्थिक विकास पर पड़ता है।

द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम के कुछ नेताओं ने दक्षिण भारत को पृथक करने का कुछ वर्ष पूर्व आन्दोलन–सा चला रखा था। उनकी धारणा है कि उत्तरी भारत बहुत समय से दक्षिण भारत पर शासन करता आ रहा है। दक्षिण भारतीयों को कुछ लोग भड़काने में लगे रहते हैं। कुछ भ्रमित लोगों ने समय–समय पर संविधान की प्रतियां भी जलाईं हैं और तिरंगे झण्डे का अपमान किया है। पहले कुछ लोग स्वतन्त्र तमिलनाडु की मांग कर रहे थे और भारत राष्ट्र से अपने को पृथक करना चाहते थे। उनके प्रचार के कारण दक्षिण में ब्राह्मण और अब्राह्मण की भावना बहुत बल पकड़ गई है।

सामाजिक सद्भाव का दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोंण से जो अर्थ है उसका विस्तार से विवेचन कर हम कह सकते हैं कि सामाजिक सद्भाव द्वारा व्यक्ति के व्यवहार में कुछ निश्चित परिवर्तन लाना चाहते हैं। भारत एक राष्ट्र है, इसमें कोई सन्देह नहीं। समूचे राष्ट्र को एक मानना भी आवश्यक है। हममें संवेगात्मक अनुभूति भी तदनुरूप ही होनी चाहिए। सामाजिक सद्भाव का लक्ष्य राष्ट्रीय एकता है, इसलिए राष्ट्रीय एकता और सामाजिक सद्भाव को लगभग एक ही अर्थ में प्रस्तुत कर दिया जाता है। राष्ट्रीय एकता बहुत कुछ राष्ट्रीयता के विकास से सम्बन्धित है। मनोविज्ञान एवं समाजशास्त्र के छात्र के रूप में हमे यह समझना होगा कि सामाजिक सद्भाव के आधार पर ही राष्ट्र की नींव मजबूत होती है। यदि हम भाषा, जाति, सम्प्रदाय के आधार पर ही प्रेम, सहानुभूति, क्रोध आदि संवेगों का विकास करेगें तो हमारा राष्ट्र भी उसी प्रकार जाति, भाषा, आदि के आधार पर छिन्न–भिन्न होगा। व्यक्ति और समाज में पारस्परिक विरोध नहीं है। यदि व्यक्ति के संकेतों का उचित मार्गान्तीकरण और शोध होगा तो निःसन्देह वह राष्ट्र से प्रेम करेगा और राष्ट्र तथा समाज का विकास होगा। सामाजिक सद्भाव का नकारात्मक अर्थ 'विघटनकारी तत्वों से

घृणा करना' और 'राष्ट्र को फूट से बचाना' है। इसका सकारात्मक अर्थ राष्ट्र को एकता के सूत्र में बांधने का प्रयत्न करना है और सम्पूर्ण राष्ट्र को अपना राष्ट्र समझकर उससे प्रेम करना है।

भारत एक देश है, जिसमे एकता की अपेक्षा विविधता उसकी राष्ट्रीयता की द्योतक है। भारत की यह विविधता, उसकी समाहारात्मक क्षमता के कारण, सामाजिक सद्भाव में कभी अवरोध उत्पन्न नहीं कर पाई, परन्तु आज भौगोलिक एवं राजनैतिक एकता प्रदान करने के बाद जैसे इस विविधिता ने विघटनकारी शक्ति का रूप ग्रहण कर लिया है। प्रश्न उपस्थित होता है कि समाजिक सद्भाव के लिए जातिगत, धर्मगत, भाषागत तथा संस्कृतिगत विविधताओं को समाप्त करना आवश्यक है। क्या जब तक सभी भारतवासियों की भाषा, धर्म, जाति, संस्कृति समान न हो तब तक सामजिक सद्भाव को दृढ़ करना असम्भव है? कतिपय राजनैतिक दलों का यह दृढ़ मत है कि जब तक इस देश के सभी लोग 'हिन्दू' न हों, जब तक सबकी भाषा एक न हो, तब तक राष्ट्र सुदृढ़ नहीं बन सकता। अन्य देशों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा हम पता लगाने का प्रयत्न करें कि सामाजिक सद्भाव के कौन–कौन से तत्व अनिवार्य हैं और कौन–कौन से सहायक अथवा अवरोधक।

राष्ट्रीय एकता का प्रमुख तत्व सामाजिक सद्भाव माना जाता है, अर्थात जिस देश में सामाजिक सद्भाव है, उस देश में राष्ट्रीय एकता का भाव सवल होता है तथा राष्ट्रीय विघटन कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि राष्ट्रीय एकता के लिए सामाजिक सद्भाव का होना अनिवार्य तत्व है। किन्तु इन दिनों इस्लामी एकता, हिन्दू एकता, बौद्ध एकता, ईसाई एकता आदि नारे जोर पकड़ते जा रहे है। परन्तु इतिहास इस बात का साक्षी है कि धर्म के नाम पर राष्ट्रीय तथा सामाजिक सदभावना की क्षति ही अधिक हुई है, कदाचित् ही धर्म के नाम से सामाजिक सद्भाव कभी स्थापित हो पाया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि एक धर्म का होना सामाजिक सद्भाव के

लिए आवश्यक तत्व नहीं, अपितु इसके विपरीत धर्म सामाजिक सद्भाव में वाधा ही अधिक उपस्थित करता है। अभी तक हमने राष्ट्रीय एकता के सहायक अथवा अवरोधक तत्वों का ही विवेचन किया है। अब यह देखने का प्रयत्न है कि वे तत्व है, जो किसी देश को राष्ट्र बनाते हैं तथा राष्ट्र विशेष के सभी निवासियों को एक सूत्र में आबद्ध रखते हैं।

वास्तव में राष्ट्रीयता तथा सामाजिक सद्भाव वाह्य तत्व न होकर आन्तरिक तत्व होता है। यह भावात्मक एकता का प्रश्न है। राष्ट्र नागरिको की भावनाओं में आत्मसात् रहता है। भाषा, धर्म, जाति, भौगोलिक इकाई इत्यादि तत्व वाह्य हैं। परन्तु इन से ऊपर उठकर राष्ट्रीय जीवन का एक ऐसा भावात्मक पक्ष है, जो उपर्युक्त विभिन्नताओं से ऊपर उठकर सभी नागरिकों को एक सूत्र में बाँध लेता है। प्रत्येक राष्ट्र के कुछ आदर्श एवं मूल्य होते हैं, जो कभी विधान में लिपिवद्ध होते हैं और कभी केवल भावनाओं में सन्निविष्ट मात्र होते हैं। व्यक्ति की गरिमा, धर्म–निरपेक्षता तथा सामाजिक न्याय इसी प्रकार के आदर्श हैं, जिनमें भारतीय जन–मानस की आशाएं एवं आकांक्षाएं प्रतिबिम्बित होती हैं। उपर्युक्त आदर्श ही सामाजिक सद्भाव के सबसे बड़े सबल हैं। सामाजिक सद्भाव न भाषण देने से आ सकता है, न साहित्य एवं सामजिक अध्ययन के पाठ्यक्रमों में तत्सम्बन्धी विषय–सामग्री का समावेश करने से। यदि सामाजिक सद्भाव को कायम रखना है, तो देशवासियों को यह सतत् अनुभूति होती रहनी चाहिए कि हम उन आदर्शों की ओर निरन्तर आगे बढ़ रहे हैं। सामाजिक सद्भाव स्थापित करने के लिए आवश्यक है कि भारत के प्रत्येक निवासी की मौलिक आवश्यकताएँ पूर्ण हों। यदि यह एक शर्त भी पूरी हो जाती है तो भाषा, जाति, धर्म, प्रदेश इत्यादि सम्बन्धी विघटनकारी शक्तियों का बल अपने आप क्षींण हो जाता है। जो सामाजिक सद्भाव के मार्ग मे बाधक हैं।

भारतवर्ष बाहर से देखने पर विविधताओं एवं विभिन्नताओं का देश है यह विविधता भाषा, जाति, धर्म भौगोलिक स्थिति सभी में मिलती है, फिर

भी इस विविधता में सामाजिक सद्भाव की धारा प्रवाहमान है और वही राष्ट्र की रीढ़ है जो हमें गिरने नहीं देती। राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक सद्भाव की भावना का विकास यहाँ के निवासियों में करना आवश्यक है, क्योंकि समय–समय पर हमारे यहां विघटनकारी शक्तियां पनपतीं रहीं है। धर्म, जाति, भाषा, सम्प्रदाय और प्रान्त की समस्याओ को लेकर पारस्परिक विद्वेष, घृणा ने हमेशा देश के सामाजिक सद्भाव को भंग किया है। सद्भावना के सूत्र को जोड़ने के लिए तथा देश को प्रगति के पथ पर बढ़ाने के लिए सामाजिक सद्भाव जरूरी है। हमारी संस्कृति सदा इसमें सहायक रही है।

सामाजिक सद्भाव के आदर्श को प्राप्त करने के लिए देश की शिक्षा की योजना भी उसी के अनुरूप बनानी चाहिए। यदि उपर्युक्त सावधानियां वरतीं जाएं तो विघटनकारी तत्वों को शिक्षा द्वारा शनैः–शनैः समाप्त किया जा सकता है। देश में सामाजिक सद्भाव को स्थापित करने के लिए उत्तरदायित्व से शिक्षा को अपना यह कार्य करना होगा क्योंकि बिना शिक्षा के व्यक्ति के अन्दर सामाजिक सद्भाव की चेतना जागृत नहीं की जा सकती। शिक्षार्थी एवं शिक्षिकाओं को सामाजिक दृष्टिकोंण में सामाजिक सद्भाव के तरीके अपनाने चाहिए। सामाजिक सद्भाव के द्वारा विद्यार्थियों का व्यवहार मुख्यरूप से लोकरीतियों, लोकाचारों, नवीन विचारों और मान्यताओं के अनुरूप होना चाहिए। सामाजिक सद्भाव का सम्बन्ध सामाजिक प्रथाओं, मानदण्डों, आदर्शों एवं नैतिक मूल्यों पर आधारित होना चाहिए। सामाजिक सद्भाव को हमेशा सामाजिक नियमों तथा लोक विधाओं पर आधारित होना चाहिए। प्रत्येक समाज में शिक्षक शिक्षिकाओं के सामाजिक सद्भाव के अलग–अलग मापदण्ड पाए जाते हैं। सामाजिक सद्भाव का सम्बन्ध धर्म एवं समाज की विभिन्न परिस्थितियों से होता है। सामाजिक सद्भाव के द्वारा शिक्षिकाओं, शिक्षार्थी एवं शिक्षा प्रक्रिया को गत्यात्मक रूप प्रदान किया जाता है। सामाजिक सद्भाव एवं सहयोग की भावना से विद्यार्थियों का समायोजन, आत्म–संयम, प्रतियोगिता एवं प्रतिद्वंदता जैसी प्रक्रियाओं को सुचारित करना चाहिए। सामाजिक सद्भाव में

तुलनात्मक स्थिरता, बच्चों की समानता एवं सर्वव्यापकता जैसी विशेषताओं को लेकर शिक्षिकाओं को जोड़ना चाहिए। सामाजिक सद्भाव का प्रभाव मानव व्यवहार और व्यक्तित्व निर्माण पर देखने को मिलता है। जिसके द्वारा मनुष्य का सर्वांगीण विकास सम्भव है। मानव जीवन में सद्भावनात्मक गुण, कुशलता के मूल्यों का विकास होता है। शिक्षा के क्षेत्र में सदभावना का गुण एवं परम्परावादियों के विचारों को संगठित करते रहना चाहिए। शिक्षा को लोकतन्त्रीय प्रक्रियाओं का आधार मानकर उन्हीं मूल्यों का निर्माण करना चाहिए। सद्भावना हमेशा शिक्षाविदों में नए दृष्टिकोंण को जन्म देती है, सद्भावना के द्वारा शिक्षार्थियों में मनुष्यता के गुणों का विकास होता है। सद्भावना के गुणों से विद्यार्थियों का वास्तविक जीवन अनुभव प्रदान कराता है। सद्भावना प्रक्रियाओं से बालक एवं बालिकाओं को समाज में बहुत अधिक महत्व मिलता है। प्रत्येक विद्यार्थी की शिक्षा का सर्वोत्तम भाग वह है जो बालक स्वयं कार्य करके प्राप्त करता है एवं सामजिक सिद्धान्तों की कसौटी पर खरा उतरता है।

शिक्षिकाओं के द्वारा सामाजिक सद्भाव का गुण समाज में विकसित करना चाहिए। सामाजिक सद्भाव से मानवता के मौलिक एवं सामजिक सिद्धान्तों के प्रशस्तिकरण के आयामों का निर्माण होता है। सामाजिक सद्भाव की प्रक्रिया से सामाजिक बुराइयों एवं अवगुणों का उन्मूलन किया जा सकता है तथा मानव में पाई जाने वाली विसंगतियों एवं बुराइयों को उखाड़ कर नए सिद्धान्तों एवं परिकल्पनाओं को जो कि सामाजिक सद्भाव पर आधारित है विकसित किया जा सकता है। सामाजिक सद्भाव के द्वारा आपस में प्रेम, मानवता, सौम्यता, गम्भीरता जैसे गुणों को प्राप्त किया जा सकता है जिसके द्वारा मानवीय प्रतिमानों एवं मानवीय मूल्यों की रक्षा की जा सकती है। सामाजिक सद्भाव एक गतिशील प्रक्रिया है जिससे समाज में पाई जाने वाली बुराइयों को रोका जा सकता है। सामाजिक सद्भाव के द्वारा आध्यात्मिक, नैतिक, चारित्रिक एवं मौलिक गुणों को विकसित कर समाज में उच्चकोटि की रूपरेखा तैयार कर उसको वास्तविक रूप

दिया जा सकता है। मानव सद्भावना के गुण द्वारा अपना जीवन सार्थक एवं उपयोगी बना सकता है। इसका वर्णन हमें वेदों, पुराणों एवं शास्त्रों में भी मिलता है जो कि भारतीय समाज एवं संस्कृति का स्तम्भ है। सद्भावना का वर्णन तुलसीकृत रामचरित्र मानस में देखने को मिलता है। सद्भावना एक सनातनीय एवं ईश्वरीय गुण है। जिससे भारतीय संस्कृति के मूल्यों की रक्षा होती है। शिक्षिकाओं को हमेशा शिक्षार्थियों में सद्भावना सम्बन्धी गुणों का विकास करना चाहिए जिससे कि आज के शिक्षार्थी का आदर्श मानव के रूप में व्यक्तित्व का विकास हो सके। सद्भावना का गुण शिक्षार्थी के वाल्यावस्था में ही विकसित करना चाहिए जिससे कि पूर्ण व्यक्ति होने पर वह सद्भावना के मूल्यों की रक्षा कर सके। सद्भावना के द्वारा समाज एवं राष्ट्र की बुराइयों को उखाड़ फेंका जा सकता है। सद्भावना से समाज में विभिन्न जातियों के बीच एकता और अखण्डता के सूत्रों का पारस्परिक गठबन्धन तैयार होता है। हमारे देश में हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख और ईसाई कई जातियां हैं इनके बीच में सामाजिक सद्भावना और कौमी एकता को कायम रखने के लिए सामाजिक सद्भाव एक चुनौती है। सामाजिक सद्भाव का संदेश शिक्षिकाओं के द्वारा समाज में फैलाना चाहिए। जिससे समाज में फैली कुरीतियों को नष्ट किया जा सकता है। सद्भावना के द्वारा समाज एवं राष्ट्र में विश्ववन्धुत्व की भावना का विकास होता है। सामाजिक सद्भावना की ईंटों को इतनी मजबूती से समाज में रखा जाए जिससे कि समाज में विखराव व तनाव पैदा न हो। सामाजिक सद्भाव समाज के लिए एक चुनौती है। सद्भावना के द्वारा बड़ी से बड़ी बुराइयों को भी दूर किया जा सकता है। सद्भावना के ऊपर ही सामाजिक रिश्ते एवं मानवीय रिश्ते की नींव टिकी हुई है। सद्भावनात्मक गुणों से रिश्ते बनते और बिगड़ते हैं इसकी कमी होने पर प्रेम और भाईचारा एवं कौमी एकता के सिद्धान्तों का सन्तुलन बिगड़ जाता है। सद्भावना एक दैवीय और प्राकृतिक गुण है। शिक्षिकाओं के द्वारा शिक्षार्थी को प्रारम्भिक अवस्था में सद्भावना एवं भाईचारे जैसे गुणों को विकसित करके उन्हें आदर्शवादी व्यक्ति बनाना चाहिए। सद्भावना से ही राष्ट्र की बुराई खत्म करके उससे प्रकाश पुंज

को पैदा किया जा सकता है। हमारे देश के विभिन्न दार्शनिकों एवं शिक्षाविदो ने सद्‌भावना के गुण पर अधिक से अधिक बल दिया है जिससे सारे विश्व में सद्‌भावना का प्रचार–प्रसार हो तथा सामाजिक बुराइयों को खत्म किया जा सके। शिक्षिकाओं के द्वारा समाज में सामाजिक सद्‌भाव का गुण विकसित कर प्रकाश पुंज की भांति फैलाना चाहिए।

आधुनिक युग में भौतिकवादिता के कारण सामाजिक सद्‌भाव में काफी परिवर्तन आ गया है। सामाजिक सद्‌भाव से समाज सुधार, विद्यार्थी एवं महिला शिक्षिकाओं को इससे सहयोग मिल सकता है। सामाजिक सद्‌भाव एक निरन्तर गतिशील प्रक्रिया है जिससे समाज की बुराइयों को दूर किया जा सकता है। सामाजिक सद्‌भाव की भी अपनी सीमा होती है। सामाजिक सद्‌भाव से समानता और असमानता के बीच की दूरी को खत्म किया जा सकता है। सामाजिक सद्‌भाव एक प्रगति का मार्ग है तथा विद्यार्थियों एवं शिक्षिकाओं का पथ प्रदर्शन करने का तरीका है। सामाजिक सद्‌भाव प्रत्येक मनुष्य के लिए अनिवार्य गुण है। इससे बालक एवं बालिकाओं मे सहृदयता का विकास होता है। सामाजिक सद्‌भाव के कम हो जाने पर विद्यार्थी एवं शिक्षिकाएं अपने वास्तविक उत्तरदायित्व को भूल जाती हैं। सामाजिक सद्‌भाव से मनोवैज्ञानिक परिवर्तन आते हैं।

समाज के महान लोगों जैसे महात्मा गांधी, स्वामी विवेकानन्द तथा अरविन्दो घोष जैसे महान विचारकों तथा दार्शनिको ने सद्‌भाव को अधिक से अधिक विस्तृत करने का सुझाव दिया सामजिक सद्‌भाव हमेशा आत्मकेन्द्रित एवं स्वकेन्द्रित होना चाहिए। सामाजिक सद्‌भाव से समाज में आकर्षण तथा ईमानदारी के प्रति कर्तव्यनिष्ठता की भावना का विकास होता है। जिससे हमारे व्यक्तित्व का विकास होता है और उसी के अनुरूप समाज में हमारा आचरण तथा प्रतिमान विकसित होता है। सामजिक सद्‌भाव से जीवन के नए आयाम, दृष्टिकोंण तथा नई प्रेरणा का जन्म होता है। सामाजिक सद्‌भाव से सम्मान तथा जीवन में समरसता का विकास होता है। वर्तमान समय में मनुष्य के असंयम को सद्‌भाव

से दूर किया जा सकता है। सामाजिक सद्भाव से विद्यार्थी उदार बन जाता है। सामाजिक सद्भाव से विद्यार्थी जीवन के मानदण्डों तथा मापदण्डों को विकसित किया जा सकता है। सामाजिक सद्भाव हमारे जीवन का आभूषण है। बिना सामाजिक सद्भाव के जीवन निर्जीव प्राणी की तरह होता है। सामाजिक सद्भाव से विद्यार्थियों में मौलिकता का जन्म होता है। जिसके फलस्वरूप व्यक्ति अपने अस्तित्व को पहचानता है। सामाजिक सद्भाव से पुराने रीति–रिवाज तथा रूढ़िवादी परम्पराओं का धीरे–धीरे ह्रास होता है इससे विद्यार्थियों तथा शिक्षिकाओं में नए वैभव का जन्म होता है तथा बौद्धिक प्रतिभाओं का विकास होता है। सामाजिक सद्भाव से मनुष्य अपनी दुर्बलताओं को समाप्त कर सकता है। सामाजिक सद्भाव एक आदर्श एवं यथार्थ. प्रक्रिया है जो मानवीय बिन्दुओं को प्रगतिशील बनाती है। इससे नए व्यक्तित्व का जन्म होता है। सामाजिक सद्भाव से जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। बिना सामाजिक सद्भाव के समाज की गतिशीलता रुक जाती है। सामाजिक सद्भाव से बन्धुत्व का विकास होता है जिससे अच्छी भावनाओं का विकास होता है। जिसके द्वारा विद्यार्थी जीवन का सौन्दर्यीकरण होता है तथा प्रत्येक विद्यार्थी सद्भाव का अनुसरण करता है। बिना सद्भाव के जीवन अपूर्ण माना जाता है। सद्भावना से जीवन के अवरोधों को दूर किया जा सकता है। सामाजिक सद्भाव से ही जीवन में विविधता का विकास होता है तथा नीरसता का ह्रास। सामाजिक सद्भाव के द्वारा हमारे अन्दर अच्छे आचरण तथा गम्भीरता जैसे प्रतिमानों का विकास होता है। महिला शिक्षिकाओं के द्वारा सामाजिक सद्भाव से विद्यार्थी जीवन को वास्तविक दिशा प्रदान की जा सकती है इसके अतिरिक्त विद्यार्थियों में कर्तव्यनिष्ठा तथा करूणा की भावना का विकास किया जा सकता है। सामाजिक सद्भाव का ही नाम जीवन है। सामाजिक सद्भाव जीवन में निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। सामाजिक सद्भाव से समाज में समता का विकास होता है। और व्यक्ति अपनी क्रमोत्तर वृद्धि की ओर अग्रसर होता है। सामाजिक सद्भाव जीवन की कड़ी है जो विद्यार्थियों एवं शिक्षिकाओं को आपस में जोड़ती है। आज के समाज

में आवश्यकता है, सामाजिक सद्भाव की। इसका केवल समाज का शिक्षित वर्ग ही प्रचार–प्रसार कर सकता है। सामाजिक सद्भाव के द्वारा समाज में व्याप्त विभिन्न बुराइयों को दूर किया जा सकता है। सामाजिक सद्भाव के द्वारा भेदभाव को दूर किया जा सकता हैं तथा विद्यार्थियों में अच्छी प्रवृत्तियों का उदय किया जा सकता है। महिला शिक्षिकाओं के द्वारा विद्यार्थी जीवन में सद्भावना नामक सरिता को हमेशा प्रवाहित करते रहना चाहिए जिससे समाज तथा राष्ट्र का विकास निरन्तर होता रहे।

पंचम अध्याय

1- शिक्षिकाओं की समस्याएं
   एवं कठिनाइयां

2- सामग्री संकलन हेतु सामाजिक
   अनुसंधान की विधियां

3- साक्षात्कार प्रक्रिया

4- व्यक्तिगत विकास

5- नियंत्रित, अनियंत्रित समूह

6- केन्द्रीय प्रवृत्ति

शिक्षिकाओं की समस्याएं एवं कठिनाइयां

विभिन्न कोटि की महिला शिक्षिकाओं (प्राथमिक, पूर्व माध्यमिक, माध्यमिक एवं महाविद्यालयी) की अलग–अलग समस्याएं एवं कठिनाइयां होती हैं जिनका कि उन्हें सामना करना पड़ता है और जिसका प्रभाव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से शिक्षा व्यवस्था पर पड़ता है। शिक्षिकाओं की समस्याओं में विभिन्न प्रकार की आर्थिक, सामाजिक, पारिवारिक, यातायात सम्बन्धी, पाठ्यक्रम की समस्या व प्राकृतिक कठिनाइयों की समस्या प्रमुख है। आर्थिक कठिनाइयों में महिला शिक्षिकाओं में प्राथमिक एवं पूर्व माध्यमिक शिक्षिकाओं की विशेष समस्याएं होती हैं क्योंकि इनका पारिश्रमिक, माध्यमिक एवं महाविद्यालयी शिक्षिकाओं से कम होता है जिसका कि उन्हें सामना करना पड़ता है और जिस कारण उनकी जीवनशैली और पद्धति, माध्यमिक एवं महाविद्यालयी शिक्षिकाओं की अपेक्षा भिन्न होती है। इन समस्याओं के अतिरिक्त सार्वभौमीकरण की समस्या भी होती है। शिक्षिकाओं के सामने पाठ्यक्रम, नई शिक्षा नीति, पुरानी शिक्षा नीति, नई शिक्षण विधि एवं बच्चों को मनोवैज्ञानिक तरीके से उनको सही मार्ग बताना है। शिक्षिकाओं को विद्यालयों में भवन, फर्नीचर, शिक्षण सामग्री की कमी होना आदि समस्याओं का सामना करना पड़ता है। शिक्षिकाओं की समस्याओं एवं कठिनाइयों में यातायात की समस्या भी प्रमुख है क्योंकि विभिन्न क्षेत्रों की भौगोलिक परिस्थिति भिन्न–भिन्न है जिसमें पहाड़ी मार्ग, नदियां, विस्तृत जंगल आदि प्राकृतिक अवरोधों की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। जिस कारण शिक्षिकाएं समय से विद्यालय नहीं पहुच पाती हैं जिससे विद्यार्थियों की शिक्षा व्यवस्था प्रभावित होती है जिसका प्रभाव उनके मन मस्तिष्क पर पड़ता है जिसके कारण उनकी कार्यक्षमता प्रभावित होती है। जनपद की सामाजिक स्थिति अज्ञान और निरक्षरता के कारण अच्छी नहीं है। यहां लोगों में रूढ़िवादिता, अंधविश्वास, जाति–भेद, वर्ग–भेद आदि गलत दृष्टिकोंण तथा बुराईयां विद्यमान हैं। आज भी उच्च जाति की महिला शिक्षिकाएं अनुसूचित तथा पिछड़ी जाति की शिक्षिकाओं के प्रति भेदभाव पूर्ण नीति रखतीं हैं जिसका प्रभाव सामाजिक व्यवस्था

पर पड़ता है और जिसके कारण जाति एवं वर्ग व्यवस्था की खाई समाज में गहरी होती है जिसका कुप्रभाव समाज पर पड़ता है।

जनपद जालौन की प्राथमिक, पूर्व माध्यमिक एवं माध्यमिक महिला शिक्षिकाओं के सामने सरकार की भाषा सम्बन्धी नीति की रूप–रेखा भी एक समस्या है जिसका कि शिक्षिकाओं को सामना करना पड़ता है जबकि इसके विपरीत महाविद्यालयी महिला शिक्षिकाओं को इन समस्याओं का कम सामना करना पड़ता है क्योंकि महाविद्यालयी स्तर के विद्यार्थी शिक्षा की (प्राथमिक, पूर्व माध्यमिक) इस व्यवस्था से गुजरकर महाविद्यालय में प्रवेश करते हैं जिस कारण महाविद्यालयी महिला शिक्षिकाओं को इन परिस्थितियों का कम सामना करना पड़ता है। प्राथमिक महिला शिक्षिकाओं के समक्ष शत–प्रतिशत बच्चों का प्राथमिक विद्यालयों में नामांकन कराना, शत–प्रतिशत बच्चों को विद्यालयों में रोके रखना और शत–प्रतिशत बच्चों को प्राथमिक शिक्षा उत्तीर्ण कराने में शिक्षिकाओं के समक्ष समस्याएं हैं जबकि महाविद्यालयी स्तर पर शिक्षिकाओं को ऐसी समस्याओं से नहीं गुजरना पड़ता है। पूर्व माध्यमिक शिक्षिकाओं की स्थिति प्राथमिक शिक्षिकाओं से ठीक है, क्योंकि उन्हें विद्यार्थियों की समस्याओं के इन पहलुओं पर अधिक ध्यान नहीं देना पड़ता है किन्तु शिक्षा की समुचित व्यवस्था कर विद्यार्थियों का सर्वांगीण विकास करना शिक्षिकाओं के समक्ष एक चुनौती है। पूर्व माध्यमिक महिला शिक्षिकाओं के द्वारा विद्यार्थियों के जीवन में सकारात्मक, संरचनात्मक एवं विकासात्मक दृष्टिकोंण की भावना का विकास किया जाता है, जिससे वह अपने जीवन में क्रमोत्तर वृद्धि की ओर अग्रसर हो सके। प्राथमिक एवं पूर्व माध्यमिक महिला शिक्षिकाओं के समक्ष विद्यार्थियों के स्वास्थ्य के प्रति जागरूक रहना एवं विषय सामग्री से परिचित कराकर उनका भौतिक विकास करना है। पूर्व माध्यमिक महिला शिक्षिकाओं को अनुशासन–हीनता एवं दूषित वातावरण का सामना करना पड़ता है। माध्यमिक महिला शिक्षिकाओं की अनेक समस्याएं हमारे सामने विद्यमान हैं जो शिक्षा प्रगति में बाधा पहुंचा रही हैं, इसलिए माध्यमिक शिक्षा

अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पा रही है। इसके अतिरिक्त हमारे देश के विद्यालयों में संगठित सामुदायिक जीवन का नितान्त अभाव रहता है। माध्यमिक विद्यालयों की शिक्षा प्रणाली दोषपूर्ण है इस कारण शिक्षिकाएं विद्यार्थियों की समस्याओं का समाधान करने में सक्षम नहीं हैं। शिक्षिकाओं के समक्ष जो अन्य समस्याएं हैं उनमें अनुशासन–हीनता की समस्या भी प्रमुख है। प्रत्येक महिला शिक्षक की ये कामना होती है कि वे अपने कार्य में सफलता प्राप्त करे। कार्य में सफलता कार्य के स्वरूप पर निर्भर करती है। शिक्षिकाएं अपने कार्य में तभी सफल होती हैं जब वे शिक्षा को अपने जीवन के मूल्यों एवं प्रतिमानों के आदर्श में विकसित कर सकें।

शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य का सर्वांगीण विकास करना है। शिक्षा के उद्देश्यों में परिवर्तन की विशेष आवश्यकता है। विश्वविद्यालय शिक्षा के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए न्यूमैन ने लिखा था, "यदि विश्वविद्यालयों की शिक्षा का कोई व्यवहारिक उद्देश्य है, तो मैं यह कह सकता हूँ कि यह समाज के उत्तम नागरिकों का प्रशिक्षण करना है। उत्तम नागरिकों को प्रशिक्षित करने में शिक्षक एवं शिक्षिकाओं का विशेष महत्व है। महाविद्यालयी महिला शिक्षिकाओं के सामने दोषपूर्ण पाठ्यक्रम की समस्या भी प्रमुख है जिसका कि उन्हें सामना करना पड़ता है इसके लिए आवश्यक है कि विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में विविधता होनी चाहिए और उनका निर्धारण व्यवहारिकता को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए इसके अलावा महिला शिक्षिकाओं के समक्ष शिक्षा का माध्यम भी है। आज विभिन्न विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी ही शिक्षा का माध्यम है जबकि हमारी शिक्षा का माध्यम प्रादेशिक भाषा या संघीय भाषा होना चाहिए। दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली की समस्या भी अपना अलग–अलग स्थान रखती है, सत्य तो यह है कि यह समस्या सभी समस्याओं से अधिक गम्भीर है जिसका कि सामना शिक्षिकाओं को करना पड़ता है। सामन्य रूप से शिक्षिकाओं को भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं का ध्यान रखते हुए विद्यार्थियों की समस्याओं का समाधान करना चाहिए एवं उनमे पाई जाने वाली आंतरिक क्षमताओं एवं व्यक्तित्व का विकास करना चाहिए।

सामग्री संकलन हेतु सामाजिक अनुसंधान की विधियां

किसी भी सामाजिक अनुसंधान का उद्देश्य एक घटना–विशेष के सम्बन्ध में वैज्ञानिक निष्कर्ष निकालना होता है। वैज्ञानिक निष्कर्ष को अटकलपच्चू निष्कर्ष नहीं अपितु वास्तविक तथ्यों पर आधारित यथार्थ व निश्चित निष्कर्ष होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सामाजिक अनुसंधान की बुनियादी शर्त अध्ययन–विषय से सम्बन्धित वास्तविक तथ्यों का संकलन है। वास्तविक तथ्यों को काल्पनिक ढंग से एकत्रित नहीं किया जा सकता। इसके लिए तो कुछ प्रमाण–सिद्ध तरीकों का होना आवश्यक है। सामाजिक अनुसंधान के लिए आवश्यक वास्तविक तथ्यों को एकत्रित करने के लिए काम में लाए गए निश्चित व प्रमाण–सिद्ध तरीकों को ही विधि कहते हैं। वैज्ञानिक विश्लेषण और व्याख्या के लिए जिन वास्तविक तथ्यों की अवश्यकता होती है उन्हें एकत्रित करने के लिए अनुसंधानकर्ता जिस विधि या तरीके को अपनाता है उसे विधि कहतें हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विधि वास्तव में वह साधन है जिसके माध्यम से अनुसंधान के लिए आवश्यक वास्तविक तथ्यों, सूचनाओं तथा आंकड़ों का संकलन किया जाता है।

प्रो0 मोजर ने लिखा है, प्रविधियां एक सामाजिक, वैज्ञानिक के लिए वे मान्य व सुव्यवस्थित तरीके हैं जिन्हें वह अपने अध्ययन–विषय से सम्बन्धित विश्वसनीय तथ्यों को प्राप्त करने के लिए उपयोग में लाता है।

उक्त परिभाषा में इस बात की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया गया है कि सामाजिक विज्ञानों में विधि का एक निश्चित अर्थ है और उस अर्थ के अनुसार विधि वह निश्चित तरीका है जो कि एक सामजिक वैज्ञानिक को उसके अध्ययन विषय से सम्बन्धित निर्भर योग्य तथ्यों को इकट्ठा करने में मदद करता है।

प्रविधि के अर्थ को और भी स्पष्ट रूप में समझने के लिए निम्नलिखित बातों अर्थात प्रविधि की निम्नलिखित विशेषताओं को याद रखना होगा।

(1) प्रविधि अध्ययन–विषय से सम्बन्धित तथ्यों, सूचनाओं या आंकड़ों को एकत्रित करने का एक तरीका है।

(2) प्रविधि मनमाने ढंग से अपनाया गया तरीका नहीं, अपितु एक सुव्यवस्थित व परीक्षित तरीका होता है। इसलिए कुछ विद्वान प्रविधि को तथ्यों के संकलन का स्वीकृत या मान्य तरीका मानते हैं।

(3) प्रविधि का सम्बन्ध सम्पूर्ण अनुसंधान से नही होता, इसका सम्बन्ध तो वहीं तक सीमित होता है जहां तक कि निर्भर योग तथ्यों, सूचनाओं आदि को एकत्रित किया जाता है।

(4) प्रविधि सभी विज्ञानों के समान नहीं होता प्रत्येक विज्ञान अपनी–अपनी प्रकृति के अनुसार अलग–अलग प्रविधियों को अपनाता है।

अनुसंधान की विधियां–

"सामाजिक अनुसंधान का आधार विश्वसनीय तथ्य, सूचनाएं, आँकड़े आदि हैं। इनको एकत्रित करने की कुछ विधियों को समाजशास्त्र ने अपने अध्ययन–विषय में सामाजिक घटनाओं की प्रकृति के अनुसार विकसित किया है। इन विधियों का विवरण इस प्रकार है–

1. प्रश्नावली– सामाजिक अनुसंधान में प्रश्नावली का उपयोग तथ्यों को एकत्रित करने के लिए किया जाता है। इसका आशय प्रश्नों की एक क्रमवद्ध तालिका से है जो अनुसंधान की विषय–वस्तु से सम्बन्ध रखती है। सूचना देने वाले के समक्ष सर्वेक्षण के उद्देश्य को स्पष्ट करना और उनसे यथोचित उत्तर पाना प्रश्नावली के मुख्य उद्देश्य हैं।

DEFINITION OF QUESTIONNAIRE

1- "There are, however, a number of additional considerations which should be kept in mind in the constructions of questionnaires, especially when they are to be filled out without the direct personal solicitation and aid of an investigator."

George A. Lundberg

Social Research, Longmans, Green & Co. New York, 1951, p.182.

2- "Inspite of many abuses, the mailed self-administering questionnaire remains a useful technique in sociological research. So long as this method is employed in appropriate research designs, it can frequently be rewarding."

William J. Goode and Paul K. Hatt,

Method in Social Research, McGraw-Hill Book Company Inc; 1952, p.170

3- "In general the wolrd questionnaire refers to a device for securing answer to questions by using a form which the respondent fills in himself."

William J. Goode and Paul K. Hatt,

Method in Social Research, McGraw-Hill Book Company Inc 1952, p.133

4- "Fundamentally, the questionnaire is a set of stimuli to which literate people are expose in order to observe their verbal behavior under these stimuli."

George A. Lundberg

Social Research, Longmans, Green & Co. New York, 1951, p.183.

5- "A questionnaire may be defined as a set of questions to be answered by the informant without the personal aid of an investigator or enumerator."

J. D. Pope,

In Research Mehod and Procedure in Agriculture Economics,

(Social Science Research Concil, New York, 1928), p.63.

6- "It does constitute a convenient method of obtaining a limited amount of information from a large number of persons or form a small selected group which is widely scattered."

Wilson Gee,

Social Science Research Method (1950), p.314.

7- "A questionnaire is a list of question to a number of persons for them to answer. It secures standardized result than can be tabulated and treated statistically."

Emory S . Bogardus,

Sociology, p.549.

8- "The questionnaire provides the quickest and easiest method of gathering data from large and widely scattered groups of people. In its simplest form the questionnaire consists of a schedule of questions sent by mail to persons on a list or in a survey sample."

Hsin Pao Yang,

Fact Finding with Rural People (1953), p.51,52.

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि प्रश्नावली एक विशेष प्रकार की अनुसूची है जिसे कि अध्ययन–विषय से सम्बन्धित प्राथमिक

तथ्यों को एकत्रित करने के लिए निर्देश के रूप में चुने हुए व्यक्तियों के पास डाक द्वारा इस अनुरोध के साथ भेज दिया जाता है कि वे उन प्रश्नों का उत्तर स्वयं लिखकर प्रश्नावली को वापस भेज दें क्योंकि ये उत्तरदातागण या तो संख्या में इतने अधिक हैं अथवा इतने बिखरे हुए हैं कि व्यक्तिगत सम्पर्क के द्वारा उनसे सूचना एकत्रित नहीं की जा सकती।"[1]

प्रश्नावली के प्रकार-

"अध्ययन की विषय-वस्तु के आधार पर प्रश्नावली को विभिन्न रूपों में विभाजित किया जाता है। इस विभाजन का मूल उद्देश्य विषय-वस्तु की प्रकृति के साथ प्रश्नावली के स्वरूप का समन्वय करना है। इस दृष्टि से प्रश्नावली के निम्न प्रकार हैं-

(1) प्रतिबन्धित प्रश्नावली- प्रतिबन्धित प्रश्नावली का तात्पर्य प्रश्नों के समस्त सम्भावित उत्तरों को चुनकर इस प्रकार सीमित कर देना है कि सीमा के बाहर जाने में उत्तरदाता के लिए बन्धन हो। इसमें प्रश्न के विभिन्न उत्तरों को इस प्रकार व्यवस्थित कर दिया जाता है कि उन्हीं प्रस्तुत उत्तरों में से उत्तरदाता किसी एक का अपनी इच्छा अनुसार चुनाव कर लेता है।

दूसरे शब्दों में, इसका तात्पर्य उत्तरदाताओं के लिए सीमित व्यवधान की रचना करना है जिसके बाहर उत्तरदाता को सोचने विचारने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार यह प्रश्नावली उत्तरों के विस्तार को सीमित कर देती है। इसकी सबसे बड़ी उपयोगिता यह होती है कि इसके माध्यम से सूचनादाता संक्षिप्त रूप में अपना उत्तर देता है। चूंकि उत्तर का स्वरूप व शब्द चयन की रचना, इसमें स्वयं अनुसंधानकर्ता द्वारा की जाती है। अतएव इसमें विश्लेषणात्मक स्पष्टता रहती है।

1- डा0 रवीन्द्र नाथ मुकर्जी, "सामाजिक शोध व सांख्यिकी", पृष्ठ संख्या-238, 239 प्रकाशक- विवेक प्रकाशन, दिल्ली।

इस प्रकार प्रतिबन्धित प्रश्नावली के अन्तर्गत सूचनादाता को, केवल प्रस्तुत किए गए उत्तरों में से ही, अपनी रुचि के अनुसार उत्तर खोजना होता है। इन तैयार किए गए उत्तरों के अलावा अन्य उत्तरों को प्रदान करने के लिए बन्धन है, अतएव प्रतिबन्धित प्रश्नावली का तात्पर्य उत्तरों को एक विशेष सीमा के अन्दर निश्चित कर देने से है। इसका प्रयोग श्रेणीबद्ध तथ्यों को संग्रहीत करने में किया जाता है।

(2) मुक्त या अप्रतिबन्धित प्रश्नावली– अप्रतिबन्धित प्रश्नावली का उपयोग वहां किया जाता है जहां गहन अध्ययन की आवश्यकता हो। इसके द्वारा नवीन तथ्यों की खोज की जाती है। इस प्रकार की प्रश्नावली का तात्पर्य उस प्रश्नावली से है जिसमें सूचनादाता के सोचने विचारने में कोई बन्दिश नहीं होती। इस प्रश्नावली के अर्न्तगत उत्तरों का स्वरूप प्रायः विवरणात्मक होता है और उत्तरदाता को पूर्ण स्वतंत्रता होती है इसमें उत्तर का विस्तार केवल स्वीकृति, अस्वीकृति तक ही सीमित नहीं है बल्कि अपनी स्वीकृति का सूचनादाता पूरा विवरण प्रस्तुत कर सकता है। इस प्रकार इस प्रश्नावली में, तथ्यों की सीमित संख्या के लिए सूचनाओं का विवरणात्मक संग्रह किया जाता है।

इस प्रकार इनमें सूचनादाता के उत्तरों की सीमा के ऊपर कोई प्रतिबन्ध नहीं है, अतएव इस प्रश्नावली को जिसमें केवल प्रश्न का स्वरूप निश्चित है किन्तु इसके सम्भावित उत्तर के विस्तार के ऊपर कोई बंदिश नहीं है। अप्रतिबन्धित प्रश्नावली कहलाती है।

(3) चित्रमय प्रश्नावली– चित्रमय प्रश्नावली का तात्पर्य उस प्रश्नावली से है जिसमें प्रश्न के शाब्दिक स्वरूप के साथ–साथ उसमें विभिन्न सम्भावित उत्तरों को चित्र द्वारा दर्शाया गया हो। यह प्रणाली व्यस्त जीवन तथा बदलती हुई सामाजिक अभिरुचि का परिणाम है। कार्य व्यस्त व्यक्तियों के अन्दर अन्य प्रकार की प्रश्नावलियों के प्रति कोई आकर्षण नहीं होता। अतएव रुचि

उत्पन्न करने और आकर्षण में वृद्धि उत्पन्न करने के लिए चित्रमय प्रणालियों का उपयोग किया जाता है। इसमें व्यक्ति कम से कम समय में अधिक से अधिक प्रश्नों का बिना किसी मानसिक उलझन के उत्तर दे सकता है। लेकिन यह प्रणाली प्रतिबन्धित प्रणाली का ही स्वरूप है। अन्तर केवल इतना ही होता है कि चित्रमय प्रश्नावली के अन्तर्गत, सम्भावित उत्तरों को चित्रों के माध्यम से अंकित कर दिया जाता है। प्रतिबन्धित की भांति इस प्रश्नावली के अन्तर्गत भी उत्तरों के क्षेत्र को सीमित कर दिया जाता है।

(4) मिश्रित प्रश्नावली– मिश्रित प्रश्नावली का तात्पर्य प्रश्नावली के स्वरूप से है जो न पूर्ण रूप से प्रतिबन्धित हो और न अप्रतिबन्धित। इस प्रकार की प्रश्नावली के भीतर दोनों प्रकार के प्रश्नों का समावेश होता है। व्यवहारिक दृष्टिकोण से न किसी प्रश्नावली को पूर्णरूपेण प्रतिबन्धित कह सकते हैं और न अप्रतिबन्धित। अनुसंधान कार्य के लिए प्रायः मिले–जुले प्रश्नों का उपयोग किया जाता है।"[1]

प्रश्नावली के उपयोगी होने की अनिवार्यताएं–

"इसमें कोई सन्देह नहीं कि कम से कम खर्च करके विशाल एवं विस्तृत क्षेत्र में बिखरे हुए उत्तरदाताओं से सूचना प्राप्त करने के लिए प्रश्नावली–प्रविधि सरलतम है। परन्तु केवल यह गुण ही प्रश्नावलियों की उपयोगिता की कोई गारन्टी नहीं है। इसके लिए आवश्यक है कि कुछ परिस्थितियां भी अनुकूल हों तभी प्रश्नावलियों की सहायता से वास्तविक सूचनाओ को प्राप्त करना सम्भव होता है। यह अनिवार्य परिस्थितियां इस प्रकार हैं–

1– डा० आर० एन० मुकर्जी, एम० ए० पद्मधर मालवीय
"सामाजिक अनुसंधान एवं सांख्यिकी", पृष्ठ संख्या–97, 98
प्रकाशक– करेण्ट पब्लिकेशन्स, लखनऊ।

(1) उत्तरदाताओं का शिक्षित होना– प्रश्नावली की सफलता के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता यह है कि उत्तरदाता शिक्षित हो ताकि वे स्वयं प्रश्नों को पढ़ सकें और उनका उत्तर लिख सकें। यदि वे ऐसा नहीं कर सकते हैं तो प्रश्नावली–प्रविधि के द्वारा सूचनाओं को एकत्रित नहीं किया जा सकता। इसी आवश्यकता के कारण इस प्रविधि का प्रयोग उस अवस्था में प्रायः नहीं हो पाता है जबकि निदर्शनों का चुनाव करके अध्ययन किया जा रहा है क्योंकि निदर्शन में तो शिक्षित व अशिक्षित दोनों ही प्रकार के लोग आ सकते हैं।

(2) उत्तर देने की इच्छा– केवल उत्तरदाताओं के शिक्षित होने पर ही प्रश्नावली की उपयोगिता सिद्ध नहीं हो सकती जब तक कि उनमें उत्तर देने की इच्छा को जागृत करने में हम सफल नहीं होते हैं। यह काम इसलिए कठिन है क्योंकि उत्तर प्राप्त करने के लिए अनुसंधानकर्ता उत्तरदाता से सम्पर्क स्थापित नहीं करता है। उसका तो एकमात्र सहारा वह अनुरोध–पत्र होता है जो कि प्रश्नावली के साथ उत्तरदाता के पास भेजा जाता है। यदि यह पत्र उत्तरदाताओं में उत्तर देने की इच्छा को जागृत न कर पाए, तो प्रश्नावली प्रविधि विफल हो जाती है। यही कारण है कि व्यवहारिक रूप में यह देखा जाता है कि जितनी प्रश्नावलियों को उत्तर प्राप्त करने के लिए भेजा जाता है उनमें से वहुत कम प्रश्नावलियां उत्तर–सहित लौट कर आती हैं।

(3) विषय के सम्बन्ध में उत्तरदाताओं का ज्ञान– प्रश्नावली प्रविधि में अनुसंधानकर्ता उत्तरों को प्राप्त करने के लिए स्वयं नहीं जाता है। इसीलिए उसे यह मौका नहीं मिलता है कि वह सूचनादाता को अध्ययन–विषय की प्रकृति, क्षेत्र, उद्‌देश्य तथा प्रश्नों के वास्तविक सम्बन्ध में कुछ भी कह सके अतः यह जरूरी हो जाता है कि विषय के सम्बन्ध में स्वयं उत्तरदाताओं को कुछ–न–कुछ ज्ञान हो। यद्यपि शिक्षित व्यक्तियों से इस प्रकार के सामान्य ज्ञान की आशा नहीं की जा सकती है।

(4) सहायक सूचनाओं की प्राप्ति— प्रश्नावली की उपयोगिता इस बात पर निर्भर करती है कि हमें विषय से सम्बन्धित अन्य सहायक सूचनाएं किस सीमा तक प्राप्त हो सकती हैं। इसका कारण यह है कि प्रश्नावली द्वारा विषय के बारे में गहन एवं विस्तृत सूचनाएं प्राप्त नहीं की जा सकतीं और न ही इसके द्वारा समस्या की गहराई में पहुंचा जा सकता है क्योंकि प्रश्नावलियां उत्तरदाताओं के द्वारा उनकी इच्छानुसार भरी होती हैं और चूंकि अनुसंधानकर्ता भी उसके सामने नहीं होता है इसलिए वह बहुत से प्रश्नों का वास्तविक अर्थ समझता नहीं है और मनमाने ढंग से उत्तर लिख देता है। अतः सहायक सूचनाओं के द्वारा इनकी जांच करने की आवश्यकता होती है।"[1]

प्रश्नावली की विशेषताएं और महत्व–

"प्रश्नावली, सामाजिक अनुसंधान के अन्तर्गत, सूचनाओं के संकलन की एक परोक्ष प्रणाली है, जिसमें स्वयं अनुसंधानकर्ता क्षेत्र में उपस्थित नहीं रहता है। इसमें अनुसंधानकर्ता और उत्तरदाता के मध्य, प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है और उनके अलावा, उत्तरदाता के ऊपर अनुसंधानकर्ता का किसी प्रकार का नियंत्रण भी नहीं है। उत्तर प्रदान करना अथवा न करना उत्तरदाता की इच्छा पर निर्भर है। पी0 वी0 यंग के अनुसार "एक प्रश्नावली का उत्तर किसी कार्यकर्ता की मदद व निरीक्षण के बिना, दूर से दिया जाता है। अतएव उन कारकों को निरन्तर मष्तिष्क में रखना आवश्यक है, जो वास्तविक उत्तरों को प्रोत्साहित करने के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं"। अतः प्रश्नावली में निम्न बातें होनी चाहिए–

(1) विश्लेषणात्मक प्रश्न– प्रश्नावली के प्रश्नों का संचय समस्या विशेष के सम्बन्ध में किया जाता है। लेकिन किसी एक समस्या के अनेक पहलू होते हैं, जिसमें से कुछ अनुसंधान की दृष्टि से उपयोगी होते हैं और कुछ

1– डा0 रवीन्द्र नाथ मुकर्जी, "सामाजिक शोध व सांख्यिकी", पृष्ठ संख्या–244, 245 प्रकाशक– विवेक प्रकाशन, दिल्ली।

अनुपयोगी। अतः प्रश्नावली की रचना करते समय, यह निर्धारित करना आवश्यक है कि समस्या के कौन–कौन पहलू अनुसंधान के लिए अनिवार्य हैं। अतएव प्रश्नावली में सम्मिलित प्रश्न सम्पूर्ण समस्या का विश्लेषण करने योग्य होना चाहिए।

(2) स्पष्टता– प्रश्नावली का उपयोग समुदायों के ऊपर किया जाता है, जिनमें लोगों के बीच बौद्धिक स्तर की दृष्टि से असमानता है। अतएव प्रश्न इस प्रकार का होना चाहिए जो प्रत्येक उत्तरदाता की समझ में आ सके।

(3) प्रश्नों की न्यूनतम संख्या– प्रश्नावली के अन्तर्गत जहां तक सम्भव हो प्रश्नों की सीमित संख्या का होना अधिक उपयोगी होता है। प्रश्नों की अत्याधिक संख्या उत्तरदाता के लिए उलझन उत्पन्न करती है।

(4) अनावश्यक विस्तार से बचाव– प्रश्नों का विस्तार केवल उतना ही आवश्यक है जो समस्या के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी प्रदान करे। अनावश्यक विस्तार सूचनादाता में अरुचि उत्पन्न करता है।

(5) प्रश्नोत्तर की ओर संकेत करने वाले से बचाव– अनेक प्रश्नों की रचना ऐसी होती है, जो स्वयं ही अपने उत्तर की ओर सूचनादाता को संकेत प्रदान करती है। ऐसी स्थिति में सूचनादाता की वास्तविकता छिपी रह जाती है।

(6) प्राविधिक शब्दों की स्पष्टता– अनेक सामाजिक अनुसंधानों में, प्राविधिक शब्दो का उपयोग आवश्यक होता है, जिसका अर्थ सामान्य बोलचाल की भाषा से अलग होता है और अनुसंधान की दृष्टि में अलग। अतएव प्रश्नावली में इस प्रकार के शब्दों का अर्थ स्पष्ट होना चाहिए।

(7) वैयक्तिक भावनाओं पर आघात करने वाले प्रश्नों से बचाव– इसका तात्पर्य यह है कि प्रश्न इस प्रकार के नहीं होने चाहिए जो किसी प्रकार व्यक्तिगत भावनाओं के ऊपर आघात पहुंचाएं।

(8) प्रश्नों के क्रम की योजना– प्रश्नावली के अन्तर्गत प्रश्नों का व्यवस्थापन इस प्रकार होना चाहिए कि एक प्रश्न के अन्तर से, दूसरे प्रश्न का क्रम आवश्यक प्रतीत हो। प्रश्नों का यह क्रम, एक दूसरे से असम्बन्धित न हो, जिससे सूचनादाता के विचार प्रवाह में अवरोध उत्पन्न हो।

(9) पारस्परिक पुष्टि करने वाले प्रश्न– अनेक स्थलों पर प्रश्नदाता प्रश्न का यथार्थ उत्तर नहीं देता और वास्तविकता को छिपा देता है। अतएव प्रश्नावली में सन्निहित प्रश्न, इस प्रकार के होने चाहिए कि एक प्रश्न के उत्तर की विश्वसनीयता की पुष्टि दूसरे प्रश्न का उत्तर कर सके।

(10) प्रश्नावली का स्वरूप– प्रश्नावली का भौतिक स्वरूप भी प्रश्नावली की उपयोगिता का एक आधार है। प्रश्नावली के इस भौतिक स्वरूप से तात्पर्य यह है कि प्रश्नावली का आकार, कागज, छपाई और रंग आकर्षक हो ताकि इस आकर्षण के कारण उत्तरदाता प्रश्नावली के प्रति उत्सुक हो जाए।"[1]

प्रश्नावली प्रणाली से लाभ-

"सामाजिक अनुसंधान में प्रश्नावली प्रणाली का सबसे अधिक प्रचलन है। तुलनात्मक दृष्टि से यह अन्य प्रणालियों से विशिष्ट है। इसके विशेष गुण व उपयोगिता को निम्न प्रकार दर्शाया जा सकता है।

(1) विस्तृत क्षेत्र का अध्ययन– इस प्रणाली के द्वारा विस्तृत क्षेत्र का अध्ययन सरलता से किया जा सकता है। अध्ययन का यह कार्य अन्य प्रणालियों के माध्यम से सम्पन्न करने के लिए अत्यधिक धन खर्च करना पड़ता है।

1– डा0 आर0 एन0 मुकर्जी, एम0 ए0 पद्मधर मालवीय
"सामाजिक अनुसंधान एवं सांख्यिकी", पृष्ठ संख्या–98, 99
प्रकाशक– करेण्ट पब्लिकेशन्स, लखनऊ।

(2) कम खर्च– इस प्रणाली का एक लाभ यह भी है कि इसमें अनुसंधानकर्ता को क्षेत्र में नहीं जाना पड़ता है अतः खर्च भी अधिक नहीं होता है। अन्य प्रणालियों की तुलना में बहुत कम व्यय होता है।

(3) सूचनाओं को शीघ्र प्राप्त करना– इस प्रणाली से सूचनाएं कम–से–कम समय में प्राप्त हो जाती हैं। क्योंकि प्रश्नावलियों को छपवाकर उन्हे एक साथ ही सूचनादाताओं के पास भेज दिया जाता है और कुछ ही समय के अन्तर से प्रश्नावलियां उत्तर सहित वापस प्राप्त हो जाती हैं।

(4) अनुसंधानकर्ता के प्रशिक्षण की समस्या नहीं– इस प्रणाली के लिए अनुसंधानकर्ता को विशेष प्रशिक्षण प्रप्त करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है इसलिए श्रम व धन की भी बचत हो जाती है।

(5) उद्देश्यपूर्ण सूचनाओं की प्राप्ति– प्रश्नावली प्रणाली से अनावश्यक सूचनाओं का संकलन नहीं होता। अध्ययन के उद्देश्य को दृष्टि में रखकर ही अनुसंधानकर्ता प्रश्नो का निर्माण करता है।

(6) अनुसंधानकर्ता का कोई प्रभाव नहीं होता– प्रश्नावलियां डाक द्वारा सूचनादाताओं के पास भेजी जाती हैं। अनुसंधानकर्ता का उनसे कोई सम्पर्क नहीं रहता है। अतः अनुसंधानकर्ता का सूचनादाताओं पर कोई प्रभाव नही पड़ता है।

(7) पक्षपातरहित उत्तर– जैसा कि स्पष्ट हो चुका है कि अनुसंधानकर्ता का सूचनादाताओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। अतः सूचनादाताओं से जो उत्तर प्राप्त होंगे वे पक्षपातरहित होंगे और प्रमाणिक होंगे।

(8) विशिष्ट प्रकार की सूचनाओं में उपयुक्त– कुछ विशिष्ट प्रकार की सूचनाएं प्राप्त करने के लिए प्रश्नावली प्रणाली सबसे उपयुक्त प्रणाली

है। उदाहरणार्थ सेक्स, प्रेम, रोमांस, वैवाहिक जीवन आदि पूर्णतया व्यक्तिगत मामलों में बिना नाम पते के उत्तर की प्रश्नावलियों से ही सूचना प्राप्त की जा सकती है।

(9) स्वयम् प्रशासित– प्रश्नावली प्रणाली की सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि इसके द्वारा सूचना प्राप्त करने के लिए न तो अनुसंधानकर्ता को कार्यक्षेत्र में जाना पड़ता है और न ही उसे सूचनादाताओं के पास जाना पड़ता है। इसमें तो प्रश्नावलियों को छपवाकर डाक द्वारा ठीक पते पर भेज देने मात्र से सूचनाओं के संग्रहण कार्य का चक्र अपने आप चलने लगता है। इसलिए कहा जाता है कि प्रश्नावली स्वयं प्रशासित व्यवस्था है।

(10) सूचनादाताओं की सुगमता– इस प्रणाली में सूचनादाताओं को बड़ी सुविधा रहती है। क्योंकि वे प्रश्नावलियों को अपनी सुविधा के अनुसार भर सकते हैं। उन्हें जब भी समय मिले तभी प्रश्नावली भर सकतें हैं क्योंकि इसमें किसी दूसरे पर आश्रित नहीं होना पड़ता और न कोई इस कार्य की प्रतीक्षा में होता है।"[1]

प्रश्नावली की सीमाएं या दोष–

"प्रश्नावली–प्रविधि एक अत्यन्त उपयोगी प्रविधि है पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यह कोई दोष रहित प्रविधि है। प्रश्नावली–प्रविधि की भी अपनी कुछ आधारभूत कमियां व सीमाएं हैं जो इस प्रकार हैं।

(1) कम मात्रा में प्रश्नावलियों का लौटकर आना– इस प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि सब प्रश्नावलियां भरकर वापस नहीं आती हैं।

1– जी० के० अग्रवाल, एस० के० मुकर्जी, के० के० गुप्ता
"सामाजिक अनुसंधान एवं सांख्यिकी", पृष्ठ संख्या–114, 115
प्रकाशक– विवेक प्रकाशन, दिल्ली।

बहुत से सूचनादाता प्रश्नावली का महत्व ही नहीं समझते अतः उन्हें भरते ही नहीं हैं और लौटाने का प्रयत्न ही नहीं करते हैं।

(2) प्रतिनिधिपूर्ण निदर्शन सम्भव न होना– प्रश्नावली प्रणाली का प्रयोग प्रतिनिधिपूर्ण निदर्शन के आधार पर नहीं किया जा सकता। इसका प्रमुख कारण यह है कि प्रायः शिक्षित लोग ही भरकर दे सकते हैं जो समस्त समाज का प्रतिनिधित्व नहीं करते। अधिकांश सामाजिक अनुसंधानों में शिक्षित व अशिक्षित दोनों प्रकार के लोगों की सूचना प्राप्त करने की आवश्यकता होती है। परन्तु प्रश्नावली प्रणाली सिर्फ शिक्षित व्यक्तियों पर ही केन्द्रित होती है।

(3) प्रश्नों के बारे में गलत धारणा– प्रश्नावली जब सूचनादाता के पास भेजी जाती है तो वह प्रश्नों के बारे में कभी–कभी गलत धारणा बना लेते हैं वे नहीं जानते कि उनको क्या भरना है और वे उसको अपने गलत अन्दाज से ही भरकर भेज देते हैं जिससे अनुसंधानकर्ता को हतोत्साहित होना पड़ता है।

(4) अपूर्ण सूचना– प्रायः सूचनादाता प्रश्नावली भरने में कोई रुचि नहीं लेते हैं क्योंकि उसमे उनका कोई निजी स्वार्थ नहीं रहता है और न ही अनुसंधानकर्ता की उपस्थिति का कोई प्रभाव उन पर पड़ने की सम्भावना रहती है। अतएव वे टालने के उद्देश्य से कुछ प्रश्नों के उत्तर दे देते हैं जो कि पूर्ण स्पष्ट नहीं होते हैं। इसलिए इस प्रणाली को अपूर्ण प्रणाली कहा जाता है।

(5) भावात्मक प्रेरणा का अभाव– प्रश्नावली प्रणाली में अनुसंधानकर्ता सूचनाओं से कोसों दूर रहता है। अतः वह अपने व्यक्तिगत प्रभाव के द्वारा सूचनादाता को वास्तविक तथ्यों को प्रकट करने के लिए प्रभावित नहीं कर पाता है और भावनात्मक प्रेरणा नहीं दे सकता है। अतः वह अपने सुख–दुःख के बारे में इतने सुन्दर उत्तर नहीं दे सकता जितना साक्षात्कार में कह सकता है।

(6) सार्वभौमिक प्रश्नों का अभाव– प्रश्नावली में प्रमाणिक सार्वभौमिक प्रश्नों का निर्माण सम्भव नहीं होता है। जो कि प्रत्येक प्रकार के समूह के लिए उपयुक्त हो।

(7) खराब लिखावट– प्रश्नावली को सूचनादाता भरकर भेजता है। कभी–कभी लिखावट इतनी खराब होती है कि उसका समझ पाना कठिन हो जाता है। अतः अनेक महत्वपूर्ण सूचनाएं अस्पष्ट प्राप्त होती हैं जिसके कारण उपयोगी सिद्ध नहीं होती।

(8) गहन अध्ययन असम्भव– प्रश्नावली भरने में अधिक–से–अधिक पच्चीस–तीस मिनट ही लगते हैं। इतने कम समय में गहन एवं विस्तृत सूचना प्राप्त करने की आशा नहीं की जा सकती है।

(9) उत्तर लिखने में सहायता नहीं– यह आवश्यक नहीं है कि प्रश्नावली में सम्मिलित किए गए सभी प्रश्नों को सूचनादाता सरलतापूर्वक और सही तरीके से समझ लेगा। कुछ प्रश्न ऐसे भी होते हैं जिनमें सूचनादाता नहीं समझ पाता है और उस अवस्था में यथार्थ उत्तर पाने के लिए यह आवश्यक होता है कि उन प्रश्नों को सही तौर पर कोई उन्हें समझा दे। अनुसंधानकर्ता तो अलग रहता है। वह सूचनादाता को प्रश्नों के बारे में समझा नहीं सकता चाहे सूचनादाता गलत उत्तर भरे या ठीक, अतः इससे विशेष लाभ होने की सम्भावना नहीं रहती।"[1]

2. अनुसूची–"अनुसूची सामाजिक घटना या सामाजिक समस्या के सम्बन्ध में सामग्री एकत्रित करने की एक उपयोगी पद्धति है। इसके माध्यम से सामाजिक अनुसंधान में विश्वसनीयता तथा निश्चितता लाने का प्रयास किया

1– जी0 के0 अग्रवाल, एस0 के0 मुकर्जी, के0 के0 गुप्ता
"सामाजिक अनुसंधान एवं सांख्यिकी", पृष्ठ संख्या–116, 117
प्रकाशक– विवेक प्रकाशन, दिल्ली।

जाता है। साधारणतः अनुसूची वह फार्म जिसमें प्रश्न और खाली सारणियाँ होती हैं। जिसे अुसंधानकर्ता स्वयं सूचनादाता से पूछकर या व्यक्तिगत अवलोकन करके करता है।

DEFINITION OF SCHEDULE

1- "Schedule is the name usually applied to set of questions which are asked and faild in by an interviewer in a face to face situation with another person."

-William J. Goode and Paul K. Hatt

Methods in Social Research, McGraw-Hill Book Company Inc. New York, 1952, p.133

2- "The schedule represent a formal method for securing facts that are in objective form and easily discernible ....the schedule is filled out by the investigator himself."

-Emory S. Bogardus

Introduction to Social Research (1936), p.45

3- "The schedule is nothing more than a list of the questions which it seems necessary to answer in order to test the hypothesis or hypotheses."

-Thomas Carson McCormic,

Elementary Social Statistics (1941), p.37

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि अनुसूची सूचनादाताओं से प्रत्यक्षतः व औपचारिक रूप में पूँछे जाने वाले उन प्रश्नों की एक आयोजित व व्यवस्थित सूची है जो कि अध्ययन–विषय की वास्तविकताओं

को प्रकट करने वाले तथ्यों व सूचनाओं को प्राप्त करने के लिए आवश्यक समझे जाते हैं और भी स्पष्ट रूप में, अनुसूची एक ऐसा प्रपत्र होता है जिसमें कि कुछ प्रश्नों को खूब सोच–विचार कर एक सिलसिले से लिख लिया जाता है और यह आशा की जाती है कि अगर उन प्रश्नों का सही–सही उत्तर मिल गया तो अध्ययन–विषय के सम्बन्ध में कुछ ऐसे तथ्य या सूचनाएं एकत्रित हो जाएंगी कि उनसे अध्ययन–विषय की वास्तविकताओं पर प्रकाश पड़ेगा। इस प्रपत्र को आवश्यक संख्या में छपवा लिया जाता है और एक–एक अनुसूची एक–एक सूचनादाता द्वारा दिए गए उत्तरों को लिखने के लिए प्रयोग की जाती है। इस अनुसूची को लेकर स्वयं अनुसंधानकर्ता सूचनादाताओं के पास जाता है और उनसे पूंछ–पूंछकर प्रश्नों के उत्तर को स्वयं लिख लेता है अथवा सूचनादाता को लिख देने के लिए व्यक्तिगत रूप में अनुरोध करता है।

अनुसूची का उद्देश्य-

उक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि अनुसूची का प्राथमिक उद्देश्य प्रश्नों के उत्तर के माध्यम से ऐसे तथ्यों को एकत्रित करना है जो कि अध्ययन–विषय की वास्तविकता को प्रकट करें अथवा प्राक्कल्पना की जांच करने में सहायक सिद्ध हो। इसका उद्देश्य सम्बन्धित व्यक्तियों से प्रत्यक्षतः मिलकर आमने–सामने की स्थिति में उनसे सूचना एकत्रित करना है। इस प्राथमिक उद्देश्य के अतिरिक्त अनुसूची के निम्नलिखित अन्य उद्देश्यों का भी उल्लेख किया जा सकता है यद्यपि वे भी उपरोक्त उद्देश्य के ही प्रतिरूप हैं–

(1) प्रामाणिक तथा वस्तुनिष्ठ अध्ययन– अनुसूची का उद्देश्य अध्ययन एवं निरीक्षण को अधिकाधिक प्रामाणिक तथा वस्तुनिष्ठ बनाना है। अनुसूची के अनुसार प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए अनुसंधानकर्ता स्वयं व्यक्तिगत रूप में जाकर लोगों से मिलता है, उन्हें अध्ययन–विषय व अध्ययन के उद्देश्यों से परिचित करवाता है, अनुसूची के प्रत्येक प्रश्न की व्याख्या और उसके सही उत्तर

की याचना करता है इन सबका परिणाम यह होता है कि उत्तरदाताओं को समान प्रश्नों का विभिन्न अर्थ लगाने एवं उनका पृथक–पृथक उत्तर देने का अवसर नहीं मिलता और वे सही उत्तर दे पाते हैं। इससे अध्ययन प्रामाणिक व वस्तुनिष्ठ होता है।

(2) सूचनाओं का अपूर्ण संकलन से बचाव– अनुसूची का एक और उद्देश्य उत्तरदाताओं से सूचना संकलन की प्रक्रिया को क्रमबद्ध तथा पूर्ण बनाना है अनुसूची अपनी स्मरण शक्ति पर आवश्यक रूप में भरोसा करने के जोखिम से अनुसंधानकर्ता को बचाती है। यह हो सकता है कि बिना अनुसूची के साक्षात्कार या निरीक्षण करने पर वह विषय से सम्बन्धित कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करना बिल्कुल भी भूल जाए अथवा उत्तरदाताओं द्वारा कही हुई बात तक याद न रख सके। उस अवस्था में या तो सूचनादाताओं के पास फिर से जाना पड़ेगा या अपनी कल्पना पर भरोसा करना पड़ेगा। ये दोनों ही स्थितियां अध्ययन में यथार्थता लाने मे बाधक सिद्ध होंगी। अनुसूची का प्रयोग इस विपत्ति से बचाता है। इसीलिए अनुसूची को 'याद दिलाने वाला' भी कहा जाता है।

(3) सूचनाओं का व्यवस्थित या क्रमबद्ध संकलन– अनुसूची में सभी प्रश्नों को खूब सोच–विचार, व्यवस्थित व क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किया जाता है। अतः उनके उत्तर में जो सूचनाएं प्राप्त होती हैं उनमें भी एक में व्यवस्था व क्रमबद्धता होती है जिसके कारण आगे चलकर उनके वर्गीकरण व विश्लेषण में अधिक कठिनाई नहीं होती। इस प्रकार अनुसूची का एक महत्वपूर्ण उद्‌देश्य वर्गीकरण, सारणीयन विश्लेषण व व्याख्या के कार्य को सरल बनाना होता है अगर अनुसूचियों की सहायता न ली गई तो सूचनादाता अपनी–अपनी बातें अपने–अपने ढंग से वर्णनात्मक या कहानी के रूप में कहता है। इस रूप में प्राप्त की गई सूचना को वर्गीकृत करने में बहुत परेशानी का सामना करना पड़ता है। अनुसूची का उद्‌देश्य इस परेशानी से हमे बचाना है।

(4) आवश्यक तथ्यों का बहिष्कार— अनुसूची जहां एक ओर किसी आवश्यक सामग्री को छूटने नहीं देती वहां दूसरी ओर किसी अनावश्यक व असम्बन्धित तथ्यों को भी अध्ययन में सम्मिलित होने का अवसर नहीं देती। अनुसूची में प्रश्नों को सम्मिलित करने से पूर्व इस बात का खूब ध्यान रखा जाता है कि प्रत्येक प्रश्न निश्चित रूप में अध्ययन के उद्देश्य के अनूकूल ही हो और ऐसा कोई प्रश्न न सम्मिलित किया जाए जिससे कि व्यर्थ की सामग्री एकत्रित हो जाए। इस प्रकार अनुसूची का एक उद्देश्य अनावश्यक तथ्यों के संकलन से बचना तथा आवश्यक सूचनाओं के प्रति अनुसंधानकर्ता को सचेत रखना है।"[1]

अनुसूची की विशेषताएं-

"अनुसूची प्रश्नों के उत्तर के रूप में प्राप्त सूचनाओं को एकत्रित करने का एक साधन है। इसकी सफलता इसीलिए प्रश्न तथा उत्तर पर निर्भर है अर्थात् प्रश्न इस प्रकार का हो जिससे कि वास्तविक तथ्य मालूम किया जा सके और उन प्रश्नों को सही अर्थ में सभी सूचनादाता समझ सकें और सही उत्तर दे सकें। इस प्रकार उत्तम अनुसूची की दो उल्लेखनीय विशेषताएं होती हैं— सही सन्देशवाहन तथा सही उत्तर। इन दोनों विशेषताओं की विवेचना हम इस प्रकार कर सकते हैं—

(1) सही सन्देशवाहन— इसका तात्पर्य यह है कि उत्तम अनुसूची में इस ढंग से प्रश्नों को पूंछा जाता है, ऐसी भाषा का प्रयोग किया जाता है कि उन प्रश्नों के सम्बन्ध में किसी भी सूचनादाता के मन में कोई अस्पष्ट या गलत धारण पनपने की गुंजाइश नहीं रहती अर्थात अनुसंधानकर्ता वास्तव में जो कुछ पूंछना चाहता है सूचनादाता उसे उसी रूप में समझाता है। यदि अनुसूची

1— डा0 रवीन्द्र नाथ मुकर्जी, "सामाजिक शोध व सांख्यिकी", पृष्ठ संख्या—213,214,215 प्रकाशक— विवेक प्रकाशन, दिल्ली।

के प्रश्नो में यह विशेषता है तो वह एक उत्तम अनुसूची ही होगी। एक उत्तम अनुसूची में भाषा कितनी सरस, सुस्पष्ट, भ्रम रहित तथा एकअर्थक होती है कि किसी के लिए उसके वास्तविक अर्थ को समझने में किसी भी प्रकार का कष्ट न हो। अनुसूची वास्तविक तथ्यों को संकलित करने का एक साधन होती है। इसलिए उसे वास्तविक भाव को वास्तविक रूप में व्यक्त करने योग्य भी होना चाहिए।

(2) सही प्रत्युत्तर– एक उत्तम अनुसूची की यह भी पहचान हैं कि अनुसूची इस प्रकार की हो कि सूचनादाता वही उत्तर दे जो अनुसंधानकर्ता के लिए उपयोगी तथा आवश्यक हो जो कि अनुसंधानकर्ता की प्राक्कल्पना के अनुकूल हो इसका तात्पर्य केवल इतना है कि वे जो कुछ भी सूचना दें वह वास्तव में वास्तविक हो, दुविधायुक्त न हो और समस्या की वास्तविकताओं पर प्रकाश डालने में सहायक हो, चाहे उसकी वह सूचना अनुसंधानकर्ता की प्राक्कल्पना को सही प्रमाणित करे या गलत। उत्तर यदि संदेहजनक, अस्पष्ट या बहुअर्थक हुआ तो उससे अनुसंधानकर्ता के भटक जाने की सम्भावना होती है। इसीलिए एक उत्तम अनुसूची में प्रश्न इस प्रकार पूंछे जाते हैं कि स्पष्ट, सन्देश रहित तथा एक अर्थक उत्तर प्राप्त किए जा सकें।"[1]

अनुसूची के प्रकार–

(1) अवलोकन अनुसूची– जब अनुसंधान अवलोकन द्वारा किया जाता है तो अवलोकन अनुसूची का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार की अनुसूची के प्रयोग में अनुसंधानकर्ता सूचनादाता से अनुसूची के प्रश्नोत्तर नहीं पूंछता बल्कि परिस्थिति का अवलोकन करके वह स्वयं प्रश्नो के उत्तर लिख लेता है। वास्तव में इस प्रकार की अनुसूची में प्रश्नों को शामिल नहीं किया जाता है बल्कि

1– डा0 रवीन्द्र नाथ मुकर्जी, "सामाजिक शोध व सांख्यिकी", पृष्ठ संख्या–216 प्रकाशक– विवेक प्रकाशन, दिल्ली।

कुछ इस प्रकार की मोटी–मोटी बातें शामिल की जाती हैं जो अवलोकन के समय सामने आ सकती है या जिनके बारे में अवलोकन के द्वारा सूचनाएं प्राप्त की जा सकती हैं।

(2) श्रेणीबद्ध अनुसूची– इस प्रकार की अनुसूची का उपयोग उस समय किया जाता है जब सूचनादाता की प्रवृत्ति, राय, पसन्द आदि की सांख्यिकी माप करनी होती है अर्थात जहां अनुसूची के आधार पर मूल्य का निर्धारण अथवा मूल्यांकन करना होता है। इस प्रकार की अनुसूचियों का समाजशास्त्र, मनोविज्ञान एवं सामाजिक अनुसंधान आदि में अधिक उपयोग होता है।

(3) संस्था सर्वेक्षण अनुसूची– इस प्रकार की अनुसूचियों का प्रयोग विशेष संस्थाओं या एक संस्था की समस्याओं का मूल्यांकन करने के लिए किया जाता है। इस प्रकार की अनुसूचियों का निर्माण किसी विशिष्ट संस्था अथवा एक संस्था के विशेष पहलू के अध्ययन के लिए किया जाता है।

(4) साक्षात्कार अनुसूची– इस प्रकार की अनुसूची का प्रयोग उस समय किया जाता है जब सूचना प्रत्यक्ष साक्षात्कार द्वारा एकत्र की जाती है। इसमें सूचना प्राप्ति का आधार यद्धपि साक्षात्कार है, किन्तु अनुसूची एक माध्यम का कार्य करती है।

(5) प्रलेख अनुसूची– इस प्रकार की अनुसूचियों का प्रयोग लिखित दस्तावेजों जैसे आत्मकथा, डायरी, सरकारी तथा गैर–सरकारी कागजात और ऐसे ही अन्य लिखित स्रोतों में सूचना एकत्रित करने के लिए किया जाता है। पी0 वी0 यंग ने लिखा है, "सामान्यता प्रमाण योग्य तथ्यों के निश्चयीकरण के लिए इस प्रकार के प्रलेखों का प्रचुर मात्रा में अध्ययन करना आवश्यक है, जो सच अथवा अधिकांश प्रलेखों में प्रकट होते हैं।

अनुसूची के गुण-

(1) यथार्थ तथा ठोस सूचनाओं की प्राप्ति।

(2) प्रश्नों का स्पष्टीकरण तथा वास्तविक उत्तरो की प्राप्ति।

(3) प्राथमिक सम्बन्ध एवं यथार्थ सूचनाएं।

(4) प्रश्नों के परिवर्तन का पर्याप्त अवसर।

(5) अवलोकन शक्ति में वृद्धि।

(6) तथ्य संग्रह की प्रक्रिया को संक्षिप्त करता है।

(7) अनुसंधान के व्यक्तित्व का पूरा–पूरा लाभ।

(8) अवलोकन एवं लेखन प्रक्रिया।

(9) प्रामाणिक अवलोकन।

(10) गहन अवलोकन।"[1]

3. साक्षात्कार- "साक्षात्कार प्रत्यक्ष सम्पर्क की एक प्रणाली है जिसके माध्यम से व्यक्ति अथवा समुदाय सम्बन्धी तथ्यों को एकत्र किया जाता है। इसमें अवलोकन, सम्पर्क और तथ्यपरक अनुभूति का समावेश रहता है। साक्षात्कार प्रणाली औद्योगिक समाज के अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है।

DEFINITION OF INTERVIEW

1- "An interview can be defined as a meeting of persons face to face on some points."

-M. N. Basu

Field Methods in Anthropology and Other Social Sciences p.21

1— डा0 रवीन्द्र नाथ मुकर्जी, "सामाजिक शोध व सांख्यिकी", पृष्ठ संख्या—123, 124 प्रकाशक— विवेक प्रकाशन, दिल्ली।

2- "The interview may be regarded as a systematic method by which one person enters more or less imaginatively in to the inner of another who is generally a comprative stranger to him."

-P. V. Young

Scientific Social survey Research, Asia Publishing House, 1953 p.242

3- "The interview is a technique of field work which is used to watch the behaviour of an individual or individuals, to record statements, to obeserve the concrete results of social or group interaction. It is therefore, a social process, it usually involves inter-action between two persons."

-Hsin. Pao. Young

Fact Finding with the Rural People, p.38

4- "The interview constitutes a social situation between two person by psychological process involved requiring both individuals mutually respond though the social research purpose of an interview calls for a very different responce from the two parties concerned."

-V. M. Palmer

Field Studies in Sociology, 1928, p.170

5- "...........Interviewing is fundamentally a process of social interaction."

-William J. Goode and Paul K. Hatt

Methods in Social Research, McGraw-Hill Book Company Inc. New York, 1952, p.186

इस प्रकार साक्षात्कार वह प्रकरण है जिसमें दो या अधिक व्यक्ति एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं और जिस सम्पर्क के पीछे विशिष्ट उद्देश्य निहित है। इस दृष्टि से साक्षात्कार, उद्देश्य से प्रेरित एक औपचारिक वार्ता है। इस वार्तालाप एवं उत्तर प्रत्युत्तर के वातावरण में, अनुसंधान के लिए सामग्री का संकलन किया जाता है।"[1]

साक्षात्कार की विशेषताएं-

(1) दो या दो से अधिक व्यक्ति– साक्षात्कार प्रविधि की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें दो या दो से अधिक व्यक्तियों का निकटतम सम्पर्क एवं वार्तालाप होता है, और यह एक आवश्यक शर्त भी है।

(2) आमने–सामने के प्राथमिक सम्बन्ध– इस प्रविधि की दूसरी मुख्य विशेषता यह है कि इसमें आमने–सामने के प्राथमिक सम्बन्ध स्थापित किए जाते हैं।

(3) विशिष्ट उद्देश्य– तीसरी मुख्य विशेषता 'विशिष्ट उद्देश्य' है। अर्थात दो या दो से अधिक व्यक्तियों के आमने–सामने के सम्बन्ध किसी विशिष्ट उद्देश्य को ध्यान में रखकर ही स्थापित किए जाते हैं।

(4) सामग्री संतुलन– साक्षात्कार प्रविधि का उद्देश्य जो कि अत्याधिक महत्वपूर्ण है, यह है कि इस प्रविधि द्वारा सामाजिक अनुसंधानों एवं सामाजिक अध्ययन हेतु सामग्री का संकलन किया जाता है।

साक्षात्कार के उद्देश्य-

साक्षात्कार का मूल उद्देश्य समुदाय अथवा व्यक्ति के जीवन में

1– डा0 रवीन्द्र नाथ मुकर्जी, "सामाजिक शोध व सांख्यिकी", पृष्ठ संख्या–196, 197 प्रकाशक– विवेक प्रकाशन, दिल्ली।

निहित तथ्यों की जानकारी प्राप्त करना है। इन्हें निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है।

(1) अज्ञात तथ्यों के बारे में सूचना।

(2) उपकल्पना की रचना करना।

(3) गुणात्मक तथ्यों को प्राप्त करना।

(4) अतिरिक्त सूचनाओ को प्राप्त करना।

साक्षात्कार के प्रकार-

(1) असंचालित साक्षात्कार।
(2) केन्द्रित साक्षात्कार।
(3) पुनरावृत्ति साक्षात्कार।
(4) संरचित साक्षात्कार।

साक्षात्कार की उपयोगिता-

(1) आंतरिक भावनाओं के बारे में सूचना।
(2) सभी स्तरों के लोगों से सूचना प्राप्ति।
(3) मनोवैज्ञानिक उत्थान।
(4) पारस्परिक प्रेरणा।
(5) अमूर्त घटना का अध्ययन।
(6) स्पष्टीकरण।

4. अवलोकन- अवलोकन सभी विज्ञानों में एक मूलभूत प्रविधि मानी जाती है। समाजशास्त्र के जनक अगस्त कॉम्टे से लेकर आज तक के सभी विद्वानों नें समाजशास्त्र को वैज्ञानिक रूप प्रदान करने के लिए इस

प्रविधि पर अधिक जोर दिया है। अवलोकन अंग्रेजी शब्द आब्जरवेशन (Observation) का पर्यायवाची है। आब्जरवेशन का 'अर्थ देखना' अवलोकन करना या निरीक्षण करना है। किन्तु समाजशास्त्रीय दृष्टि से अवलोकन का अभिप्राय किसी भी घटना या व्यवहार को एक निश्चित उद्देश्य से देखना तथा कार्य–कारण सम्बन्ध को जानने का प्रयास करना है।

DEFINITION OF OBSERVATION

1- "Science begins with observation and must utimately return to observation for its final validation."

-William J. Goode and Paul K. Hatt

Methods in Social Research, McGraw-Hill Book Company Inc. New York, 1952, p.119

2- "Observation-a deliberatc study through the eye may be used as one of the methods for scrutinzing collective behaviour and complex social institutions as well as the separate units composing a totality."

-P. V. Young

Scientific Social Surveys and Research, Asia Publishing Hose, 1954, p.199

3- "...........In the strict sence observation implies the use of the eyes rather than of the ears and voice."

-C. A. Moser

Survey Methods in Social Investigation, p.168

4- "..........Accurate watching, nothing of phenomena as they occur in nature with regard to cause and effect or mutual relations."

-Oxford Concise Dictionary,

quoted by C. A. Moser

Survey Methods in Social Investigation, London, 1961 p.167

"उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि अवलोकन का अभिप्राय चक्षु ज्ञान से है। यह इन्द्रिय ज्ञान पर आधारित है। किन्तु अवलोकन तथा देखने में भेद है। अवलोकन प्रयासयुक्त व ध्यानपूर्ण है।

अवलोकन पद्धति की विशेषताएं-

(1) प्रत्यक्ष अध्ययन।

(2) प्राथमिक सामग्री।

(3) मानव इंद्रियो का पूर्ण उपयोग।

(4) विचार पूर्वक अध्ययन।

(5) सामूहिक व्यवहार का अध्ययन।

अवलोकन पद्धति के प्रकार-

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से अवलोकन प्रणाली को कई भागों में विभाजित किया जा सकता है।

(1) साधारण अथवा अनियन्त्रित अवलोकन- अनियन्त्रित अवलोकन में हम वास्तविक जीवन की दशाओं की सूक्ष्म परीक्षा करते हैं, जिसमें यथार्थ के यन्त्रों का प्रयोग या अवलोकित घटना की शुद्धता की जांच का कोई भी प्रयत्न नहीं किया जाता है। सामाजिक समस्याओं पर किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं किया जा सकता। समस्याओं का अध्ययन करने के लिए अनुसंधानकर्ता अपने

आपको सामाजिक स्थितियों में सम्मिलित कर लेता है और समाज के विभिन्न पहलुओ का अध्ययन करता है। समाज के व्यवहार पर प्रतिबन्धों का अभाव होने के कारण इस पद्धति को अनियन्त्रित अवलोकन कहते हैं।

(अ) सहभागिक अवलोकन– इसके अन्तर्गत अनुसंधानकर्ता उन समुदायों अथवा व्यक्तियों से सम्बन्ध स्थापित करता है जिनको अध्ययन के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है। इस व्यवस्था में अनुसंधानकर्ता को भेष बदलकर समुदाय का सदस्य बनना पड़ता है ताकि उसे कोई पहचान न ले। गुडे एवं हैट ने लिखा है, ''इस प्रणाली का प्रयोग तब किया जाता है जब अनुसंधानकर्ता इस प्रकार से भेष बदले कि वह समुदाय का सदस्य मान लिया जाए।''

(ब) असहभागिक अवलोकन– इस अवलोकन में अनुसंधानकर्ता किसी ऐसे समूह का सदस्य नहीं बनता जिसकी क्रियाओं एवं व्यवहारों का वह अध्ययन करता है। न वह ऐसे समूह के सदस्यों के साथ व्यक्तिगत सम्पर्क भी स्थापित करता है। इस प्रकार का अवलोकन प्रभाव रहित एवं विश्वसनीय होता है।

(स) अर्ध सहभागिक अवलोकन– इस प्रकार के अवलोकन में अवलोकनकर्ता समूह की क्रियाओं में इस सीमा तक भाग लेता है कि वह आवश्यकता पड़ने पर एक कुशल वैज्ञानिक की भांति तटस्थ होकर भी कुछ सूचनाएं प्राप्त कर सके।

(2) व्यवस्थित अथवा नियन्त्रित अवलोकन– व्यवस्थित अवलोकन एक नियन्त्रित अवलोकन है इसमें अवलोकनकर्ता और आवेशित दोनों ही नियंत्रित होते है। इस प्रणाली में अनेक साधनों द्वारा अवलोकन को नियंत्रित किया जाता है। नियंत्रित अवलोकन में अवलोकनकर्ता एक मध्यस्थ व्यक्ति होता है। स्थिति एवं प्राप्त सामग्री के बीच उसकी स्थिति होती है। केवल अनुसंधान के विभिन्न साधनों को सामग्री संकलन के हेतु प्रस्तुत करने वाले यंत्र हैं।

(3) सामूहिक अवलोकन– साधारणतया इस प्रणाली में उक्त लिखित दोनों प्रणालियों का मिश्रण पाया जाता है। इस प्रणाली में एक ही समस्या या सामाजिक घटना का अवलोकन अनेक अनुसंधानकर्ताओं द्वारा होता है। जो कि उस सामाजिक घटना के विभिन्न पहलुओं के विशेषज्ञ होते हैं। सिन पाओ यंग ने लिखा है, "सामूहिक अवलोकन नियंत्रित अवलोकन का योग है। इसमें अनेक व्यक्तियों द्वारा मिलकर सामग्री का संकलन किया जाता है और बाद में केन्द्रीय व्यक्तियों द्वारा उन सब की देन का संकलन एवं उससे निष्कर्ष निकाले जाते हैं।

अवलोकन पद्धति के लाभ या महत्व–

(1) प्राथमिक सामग्री– इस प्रणाली से प्राथमिक सामग्री एकत्रित करने में सहायता मिलती है। प्राथमिक सामग्री संकलन करने की यह एक प्रत्यक्ष प्रणाली है।

(2) सरलता– अवलोकन प्रणाली का सबसे बड़ा गुण उसकी सरलता है। अन्य दूसरी प्रणालियों में किसी–न–किसी प्रकार के विशेष ज्ञान की आवश्यकता होती है परन्तु इस प्रणाली में अवलोकन करना सरल है।

(3) विश्वसनीयता– इस प्रणाली में प्रत्यक्ष अवलोकन किया जाता है अतः अवलोकनकर्ता जिन तथ्यों को देखने के बाद एकत्रित करता है वे तथ्य अधिक विश्वसनीय एवं प्रामाणिक होते हैं।

(4) सत्यापन की सुविधा– इस प्रणाली में सबसे अच्छा गुण यह है कि इसमें प्राप्त सूचना का सत्यापन भी हो सकता है। अवलोकनकर्ता ने यदि कोई भूल की हो अथवा जानबूझकर सूचना का गलत वर्णन किया हो तो दुबारा फिर उसका निरीक्षण किया जा सकता है।

(5) उपकल्पना के निर्माण में सहायक– समाज विज्ञानों में सब कहीं उपकल्पना बनाने के लिए अधिकतर अवलोकन से ही काम लिया जाता है। अनुसंधानकर्ता जिस क्षेत्र में अवलोकन करता है। उसमें अपने अनुभव के आधार पर विभिन्न घटनाओं में कार्य–कारण सम्बन्ध के विषय में उपकल्पना बना देता है। इस उपकल्पना की जांच किसी भी प्रविधि से की जा सकती है।

(6) घटनाओं का यथार्थ निरीक्षण एवं वर्णन– इस प्रणाली द्वारा सामाजिक घटनाओं का यथार्थ एवं सत्य निरीक्षण होता है और उसी के आधार पर उसका वर्णन किया जाता है।

(7) मानव इन्द्रियों का प्रयोग– इस प्रणाली के अन्तर्गत प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया जाता है अतः यह एक वैज्ञानिक प्रणाली है जो वस्तु अनुसंधानकर्ता प्रत्यक्ष रूप से देखता है उसी को अंकित करता है।

(8) सर्व प्रचलित पद्धति– यह प्रणाली सबसे अधिक प्रचलित है प्रायः प्रत्येक प्रकार के विज्ञान में अनुसंधान कार्य में इस प्रणाली का प्रयोग होता है।

गुडे एवं हाट ने उचित ही लिखा है, "विज्ञान का प्रारम्भ अवलोकन से होता है और पूर्ण सत्यापन हेतु इसे अन्तिम रूप में अवलोकन पर ही लौटना पड़ता है।" संसार में प्रत्येक प्राणी प्रत्येक क्षण कुछ न कुछ अवलोकन करता रहता है, अवश्य इनमे अवलोकनीय विषय अथवा वस्तु के प्रति दृष्टिकोंण अथवा तीक्ष्णता की मात्रा में भिन्नता होती है। सामाजिक व्यवहार तथा घटना का व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित अवलोकन ही हमारे विषय से सम्बन्धित है। इस अवलोकन पद्धति के आधार पर ही नक्षत्र विज्ञान, भौतिक विज्ञान, प्राकृतिक विज्ञान, जैवकीय विज्ञान आदि का निर्माण मानव मस्तिष्क कर सका है। यही पद्धति सामाजिक वैज्ञानिकों के द्वारा जब मानव समूह, उसकी संस्थाओं एवं समाज के अध्ययन हेतु प्रयोग की जाती है तो उसे समाजशास्त्रीय अवलोकन कहते

है। परन्तु यह समाजशास्त्री के लिए चिरस्मरणीय है कि उसे सावधानीपूर्ण अवलोकन में अपने आप को प्रशिक्षित बनाना चाहिए। अवलोकन पद्धति की उपयोगिता के कारण ही इसका महत्व दिन–प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है।"[1]

5. ***निदर्शन-*** निदर्शन का तात्पर्य उस चुनी हुई इकाई से है जो प्रत्येक दृष्टि से समग्र का प्रतिनिधित्व करती हो। सामाजिक अनुसंधान में, जब अध्ययन को कुछ प्रतिनिधि इकाइयों के आधार पर करते हैं तो उसे निदर्शन पद्धति कहा जाता है। समय, परिश्रम तथा धन की बचत के दृष्टिकोंण से यह पद्धति अत्यन्त उपयोगी है।

DEFINITION OF SAMPLE

1- "A sample, as the name implies, is a smaller representation of a large whole."

-William J. Goode and Paul K. Hatt

Methods in Social Research, McGraw-Hill Book Company Inc., New York, 1952, p.209

2- "A statistical sample is a miniature picture or cross section of the entire group or aggregate from which the sample is taken."

-P. V. Young

Scientific Social Surveys and Research, Asia Publishing Hose, Bombay, 1960, p.302

1– जी0 के0 अग्रवाल, एस0 के0 मुकर्जी, के0 के0 गुप्ता
"सामाजिक अनुसंधान एवं सांख्यिकी", पृष्ठ संख्या–72, 73, 74
प्रकाशक– विवेक प्रकाशन, दिल्ली।

3- "The term sample should be reserved for a set of units or portion of an aggregate of material which has been selected in belief that is will be representative of the whole aggregate."

-Frank Yaton

4- "In the case of a sample enquiry we try to generalise in terms of the whole group though the facts assembled relate only to a part of it"

-Y. D. Keskar

5- "Sampling is the selection of certain percentage of a group of items according to a predetermined plan."

- Bogardus

Sociology, p.548

6- "Sampling method is the process of method of drawing a definite number of a individuals, cases, or observation from a particular universe, selecting part of a total group for investigation."

- Fairchild

Dictionary of Sociology, p.265

7- "The practice of taking a small part of a large bulk to represent the whole is fairly generally understood and widely used. The house-wife will sample a piece of cheese at the shop before making a purchase, and a cottonspiner will by a bale of cotton having seen only a sample of it."

- Tippett

इस प्रकार कम परिश्रम और कम खर्च में ही निदर्शन के द्वारा, समग्र का अध्ययन किया जाता है और समग्र के ऊपर लागू किए जा सकने वाले निष्कर्षों की प्राप्ति होती है। अतः संक्षेप में निदर्शन अध्ययन के उद्देश्य से, समग्र की विविध इकाइयों में से निर्वाचित वह इकाई है, जो समग्र से छोटी है और समग्र की सम्भावित वास्तविकता का प्रतिनिधित्व करती है।

निदर्शन पद्धति का महत्व–

(1) प्रतिनिधि इकाइयों का अध्ययन।
(2) विस्तृत क्षेत्र का अध्ययन
(3) प्राप्त सूचनाओं की निरीक्षा
(4) निर्वाचित इकाइयों का विषद अध्ययन
(5) सूचनाओं की प्राप्ति में सुविधा
(6) पर्याप्त परिणामों की प्राप्ति

निदर्शन पद्धति के लाभ–

(1) समय व धन की बचत
(2) गहन अध्ययन
(3) शुद्ध निष्कर्ष
(4) प्रशासनिक सुविधा

निदर्शन की विशेषताएं–

(1) समग्र का प्रतिनिधित्व
(2) इकाइयों की पर्याप्त संख्या
(3) पक्षपात–रहित चयन
(4) विषय–वस्तु के अनुरूप
(5) पूर्व संसाधनों के अनुभवों का उपयोग

निदर्शन के प्रकार-

(1) दैव निदर्शन

(2) स्तरित निदर्शन

(3) उद्देश्यपूर्ण निदर्शन

(4) निर्धारित निदर्शन

6. समाजमिति- सामाजिक संरचना, सामाजिक स्थिति, सामाजिक सम्बन्ध तथा व्यक्तित्व सम्बन्धी गुणों के अनुमापन के लिए जिस विधि का प्रयोग किया जाता है, उसे समाजमिति कहते हैं। समाजमिति के विकास का श्रेय सर्वश्री मोरीनो और जेनिंग्स को है।

DEFINITION OF SOCIOMETRY

1- "Stated briefly, sociometry method may be described as a means of presenting simply and graphically the entire structure of relations existing at a given time among members of a given group, the major lines of communication, or the patterns of attraction and rejection in its full scope, are made readily comprehensive at a glance."

-Halen N. Jennings

Sociometry in Groups Relations. 1946, p.11

2- "Sociometry is a method for discovering, describing and evaluating Social status structure, and development through measuring the extent of acceptance or rejection between individuals in groups."

-Urie Bronfenbrenner

"A Constant Fram of Reference for Sociometric Research"

Sociometry, Volume VI, 1943, p.363

3- "Sociometry is a method for the discovery and manipulation of social configuration by measuring the attractions and repulsions between individuals in a group."

-J. G. Franz

"Survey of Sociometric Techniques with an Annotated Bibliography", Sociometry Volume-II, 1943, p.76

4- "Preferences and rejections are always indicated and evaluated in terms of particular criteria around which the group is organized-such as rooming together, eating together, working together or otherwise associating with persons in specified situations. Sociometric studies reveal that certain persons are chosen for all situations, but frequently entirely different individuals are preferred for each type of activity."

-P. V. Young

Scientific Social Surveys and Research, Indian Edition, 1975, p.383

5- "The initial steps in sociometric procedure then involve first, as certaining the fundamental criteria around which group activities take place and second, testing for the attraction-repulsion patterns in terms of these criteria."

-P. V. Young

Scientific Social Surveys and Research, Indian Edition, 1975, p.383, 384

इस प्रकार समाजमिति एक ऐसी विधि है जिसके माध्यम से किसी समूह के सदस्यों के बीच सम्बन्धों के आकर्षण और विकर्षण का पता लगाया जाता है। इसके द्वारा सामाजिक और संस्थागत व्यवहार को रेखाचित्रों और बिन्दुओं द्वारा दर्शाया जा सकता है।

समाजमिति पैमाना-

समाजमिति में व्यवहार के अनुमापन के लिए सर्वप्रथम स्केल की रचना आवश्यक है। एक उत्तम व विश्वसनीय पैमाने में निम्न बातों का होना आवश्यक है।

(1) विश्वसनीयता

(2) वैधता

(3) सरलता

(4) व्यापकता

(5) व्यवहारिकता

(6) प्रमापों पर आधारित

(7) उचित माप की व्यवस्था

पैमाने के निर्माण की प्रक्रिया-

पैमाने के निर्माण की प्रक्रिया में प्रमुख बातें निम्न प्रकार हैं–

(1) संस्था का चुनाव– सबसे पहले उस वर्ग या संस्था का चुनाव किया जाना चाहिए जिनकी माप करनी है। हमें चुनाव करते समय ध्यान रखना चाहिए कि वह स्वीकृत प्रमापों के अनुसार ही उसे सही एवं स्पष्ट रूप से परिभाषित किया जा सके।

(2) माप के पहलू का चुनाव– संस्था के चुनाव के बाद हमें यह देखना चाहिए कि किस पक्ष पर माप प्राप्त हो सकती है। अलग–अलग मापों को हम एक निर्देशांक के रूप में सुसंगठित कर सकते हैं।

(3) सम्बन्धी तथ्यों का चुनाव– अधिकांश सामाजिक संस्थाएं जटिल होती हैं अतः उनकी वैयक्तिकतापूर्ण माप के लिए उनका वर्गीकरण कर दिया जाए।

(4) भार प्रदान करना– भिन्न–भिन्न को उचित भार मिलना चाहिए। भार किसी तत्व की आकृति, विभेजनकारी शक्ति अथवा किसी दूसरे महत्व का कारण हो सकता है। माप की अपनी समझ के अनुसार या सांख्यिकी विवेचना द्वारा लगाए जा सकते हैं। कभी अनेक व्यक्तियों की राय लेना भी अच्छा होता है। भार के लिए निम्नलिखित विधियों का प्रयोग करना चाहिए।

(क) सामान्य विधि– इसमें उपस्थिति की और अनुपस्थिति को शून्य मान लेते है। यदि पैमाना तीव्रता मापक हो तो हर तीव्रता के लिए एक का प्रयोग किया जाता है।

(ख) अन्तर विधि– यह विधि प्रतिशत अन्तर की विश्वसनीयता पर आधारित होती है। इसको सबसे पहले लीथी ने प्रयोग किया था। इसमें प्रत्येक इकाई का भार उसके विशिष्ट अनुपातों का होता है। इसमें समस्त समूह का 4–5 और कभी–कभी 9–10 समान उपवर्गों में विभाजित कर प्रत्येक का प्रतिशत अन्तर ज्ञात कर लेते हैं।

(ग) सिगमा विधि– इसमें समग्र जनसंख्या में किसी इकाई को इकाई आवृत्ति के विपरीत अनुमापन में भार दिया जाता है। इसको लीथी और सिवेल ने सबसे पहले प्रयोग किया था। उदाहरणार्थ सामाजिक स्तर के अनेक रेडियो रखने के नम्बर–$\frac{46.1}{2}$= 76.9 होंगे। सामान्य सम्भावना की सारिणी

के अनुसार 7.69 का सिगमा मूल्य+·737 है। रेडियो न होने के आंकिक माप 53.9 प्रतिशत अथवा 26.9 का सिगमा मूल्य –0.615 होगा। इस प्रकार इस विधि से किसी वस्तु की उपस्थिति या अनुपस्थिति का ही आंशिक मूल्य बताया जा सकता है।

(घ) **पैमाने का प्रमाणीकरण–** प्रत्येक पैमाना आरम्भ में अपरिष्कृत होता है। उसमें विश्वसनीयता, वैधता एवं तथ्यता का अभाव सम्भव है। यह प्रतिनिधित्व हीन निदर्शन के कारण हो सकता है। प्रायः विभिन्न आंकिक मूल्य सैम्पल से प्राप्त आंकड़े पर आधारित होते हैं। यदि निदर्शन का चुनाव अभिमतिपूर्ण होता तो उसके द्वारा मिले आंकड़ों पर आधारित स्केल पर्याप्त अवैध होगा। परन्तु अनुभव के द्वारा इसमें परिवर्तन नहीं किए जा सकते हैं। अतः स्केल ज्यों–ज्यों प्रयोग होता जाएगा, त्यों–त्यों शुद्ध होता जावेगा और अन्य संस्थाओं के उपयोग के लिए योग्य हो जावेगा।

साक्षात्कार प्रक्रिया

"साक्षात्कार के संचालन की प्रक्रिया के स्तर पर सूचनादाता और अनुसंधानकर्ता आमने–सामने होता है ओर उनमें अन्तःक्रियात्मक सम्बन्ध स्थापित होता है। इसलिए सर्व श्री गुडे एवं हाट ने लिखा है कि वास्तव में मूल रूप से साक्षात्कार सामाजिक अन्तःक्रिया की एक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया के निम्नलिखित सामाजिक–मनोवैज्ञानिक पहलू हैं।

(1) **परिचय–** सर्वप्रथम साक्षात्कारकर्ता को सूचनादाता को अपना परिचय देना चाहिए तथा उचित अभिवादन के साथ मिलना चाहिए। लिखित परिचय पत्र अधिक अच्छा रहता है। लिखित परिचय पत्र अधिक विश्वसनीय समझा जाता है और उसका प्रभाव अच्छा पड़ता है। परिचय देने के पश्चात यदि सूचनादाता परिचय के विषय में अन्य बातें जानना चाहता है तो उसके प्रश्नों का उत्तर शिष्टाचार पूर्वक देना चाहिए। जब सूचनादाता सन्तुष्ट हो जाता है तो वह वक्तव्य देने के लिए तैयार हो जाता है।

(2) **साक्षात्कार का उद्देश्य–** परिचय देने के पश्चात साक्षात्कार का उद्देश्य स्पष्ट कर देना चाहिए। उद्देश्य इस प्रकार स्पष्ट किया जाना चाहिए कि सूचनादाता की समझ में आ जावे।

(3) **सहयोग की प्रार्थना–** सूचनादाता को साक्षात्कार का उद्देश्य स्पष्ट करने के पश्चात उससे सहयोग की प्रार्थना करनी चाहिए। इसके साथ उसें इस बात का भी विश्वास दिलाना चाहिए कि उससे जिस विषय पर सूचना प्राप्त की जा रही है, उसका उद्देश्य केवल इस बात का वैज्ञानिक विश्लेषण करना ही है और अन्य नहीं। उसे यह भी बतला देना चाहिए कि उसके द्वारा प्राप्त सूचनाएं गुप्त रखी जाएंगी।

(4) साक्षात्कार का आरम्भ– साक्षात्कार के आरम्भ में सूचनादाता से प्राथमिक प्रश्न पूंछना चाहिए। उदाहरण के लिए नाम, परिवार के सदस्यों की संख्या, आयु आदि। इसके पश्चात विषय से सम्बन्धित प्रश्न पूछना चाहिए। जब सूचनादाता प्रश्न का उत्तर देना आरम्भ कर देता है तो उसे बीच में टोकना नहीं चाहिए और उसे बोलने का पूरा अवसर देना चाहिए। आरम्भ में साक्षात्कारकर्ता को स्वयं कम बोलना चाहिए, सूचनादाता को ही बोलने का अधिक अवसर देना चाहिए।

(5) कुछ उत्साहवर्द्धक वाक्यों को दोहराना– साक्षात्कार के मध्य कुछ ऐसे वाक्यों को बीच–बीच में समय–समय पर दोहराते रहना चाहिए ताकि साक्षात्कारदाता का उत्साह बना रहे और वह साक्षात्कार में अधिक रुचि ले। ये वाक्य इस प्रकार के हो सकते हैं– आपने बहुत ही मूल्यवान सूचनाएं देकर समस्या के हल में काफी योगदान दिया है। अपनी सूचना में नवीन तथ्यों को प्रकाश में ला दिया है। परन्तु इन वाक्यों का प्रयोग उस समय किया जाना चाहिए जब कि आवश्यक हो और समयानुकूल हो। इस प्रकार के वाक्यों को दोहराते समय सूचनादाता को नए विचारों तथा गहन तथ्यों को प्रकट करने के लिए एक प्रकार की प्रेरणा मिलती है।

(6) सहानुभूतिपूर्वक सुनना– सूचनादाता द्वारा दी गई सूचना को ध्यानपूर्वक सुनना चाहिए। साक्षात्कारकर्ता यदि ध्यानपूर्वक नही सुनेगा तो बात कहने में रुचि नहीं लेगा। इसलिए साक्षात्कारकर्ता को चाहिए कि सूचनादाता की प्रत्येक बात को चाहे वह विषय से सम्बन्ध रखती हो या नही, इच्छापूर्वक तथा सहानुभूति दिखाते हुए सुनना चाहिए।

(7) क्रोध दिलाने वाले क्षणों से वचाव– प्रश्न पूंछते समय इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखा जाए कि ऐसे प्रश्न नहीं पूछे जावे जिससे कि साक्षात्कारदाता को क्रोध आ जावे अथवा वह चिढ़ जावे।

(8) स्मरण करना– कभी–कभी सूचनादाता उत्तर देते–देते भावनाओं में वह जाता है और विषय से भटक जाता है। ऐसे अवसर पर साक्षात्कारकर्ता को सावधानी से फिर से उसे स्मरण दिलाना पड़ता है कि वह क्या कह रहा था। स्मरण कराने में साक्षात्कारकर्ता को ऐसा महसूस होना चाहिए कि वास्तव में यह बात अत्याधिक महत्वपूर्ण है।

(9) समयानुसार प्रश्न– प्रश्न समयानुसार होना चाहिए। अचानक एक विषय को छोड़कर दूसरे विषय पर प्रश्न नहीं पूँछना चाहिए। उदाहरण के लिए, यदि पारिवारिक पहलू पर चर्च चल रही है तो आर्थिक पहलू पर प्रश्न नहीं पूंछना चाहिए।

(10) बातचीत में प्रवाह– साक्षात्कारकर्ता को चाहिए कि वह बातचीत का प्रवाह बनाए रखे यदि बातचीत करते समय वार्ता में रुकावट आ जावे और कोई नया प्रश्न समझ में न आए तो निरन्तरता को भंग नहीं करना चाहिए।

(11) दोहरे प्रश्न से बचना– दोहरे प्रश्नों से बचना चाहिए। यदि साक्षात्कार में दोहरे प्रश्न किए जाते हैं तो उनके उत्तर ठीक से नहीं मिलने की सम्भावना रहती है।

(12) आज्ञा देने एवं मना करने की पद्धति से बचाव – साक्षात्कारदाता को कभी भी सूचना देने की न तो आज्ञा देनी चाहिए और न ही उसे अपनी बात कहने से रोकना चाहिए।

(13) कुछ अन्य सामान्य बातें– उक्त बातों के अतिरिक्त कुछ अन्य बातें भी हैं जिनको साक्षात्कारकर्ता को ध्यान में रखना चाहिए। ये बातें निम्न हैं।

(i) प्रश्न सरल होना चाहिए।

(ii) ऐसे प्रश्न नहीं पूछना चाहिए जिनसे अति संक्षिप्त उत्तर प्राप्त होने की सम्भावना हो।

(iii) साक्षात्कार के समय विषय से नहीं हटना चाहिए।

(iv) प्रत्यक्ष प्रश्न नहीं पूछना चाहिए।

(v) पथ प्रदर्शन करने वाले प्रश्न, जैसा क्या आप सिनेमा देखना पसन्द करते हैं? नहीं पूछना चाहिए।

(14) सूचना को नोट करना– प्राप्त सूचना को नोट करना भी जरूरी है। जब साक्षात्कार स्वतन्त्र वर्णन के रूप में होता है तो उसे नोट करना एक जटिल समस्या होती है। यदि साक्षात्कारदाता के बोलते समय लिखने का कार्य किया जाता है तो उनका उत्साह कम हो जाता है तथा वार्तालाप का प्रवाह रुक जाता है। जहां तक हो सके साक्षात्कारदाता के बोलते समय सूचनाओं को नोट नहीं करना चाहिए। साक्षात्कारकर्ता की मुख्य–मुख्य बातें संकेत लिपि या संक्षेप में नोट करते रहना चाहिए।

साक्षात्कार की समाप्ति–

साक्षात्कार का अन्त भी उचित तरीके से होना आवश्यक है। जब सूचनादाता सब कुछ कह चुकता है तो उसके कहने की गति धीमी हो जाती है अथवा वह बीच–बीच में मौन हो जाता है तो समझना चाहिए कि साक्षात्कार समाप्त होने की स्थिति में है। यदि साक्षात्कार एक ही बैठक में पर्याप्त है तो साक्षात्कार समाप्त करते समय साक्षात्कारदाता से यह पूंछ लेना जरूरी है कि वह और कुछ तो नहीं कहना चाहता है या कुछ बात विषय से सम्बन्धित छूट तो नही गई है। यदि सहायक साक्षात्कार करना और शेष हो तो बातचीत किसी

ऐसी महत्वपूर्ण बात पर समाप्त करनी चाहिए ताकि सूचनादाता की पुनः बातचीत करने की रूचि बनी रहे।

रिपोर्ट-

साक्षात्कार समाप्त होने के पश्चात अन्तिम कार्य है रिपोर्ट लिखना। रिपोर्ट लिखने का कार्य शीघ्र ही कर लेना चाहिए। इसे टालने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए अन्यथा गलतियां होने की सम्भावना रहती है। अनुसंधान निष्कर्ष इसी रिपोर्ट पर आधारित होते हैं अतः साक्षात्कारकर्ता को रिपोर्ट लिखने का कार्य सर्वप्रथम करना चाहिए।"[1]

सामाजिक अनुसंधान में साक्षात्कार प्रक्रिया का महत्वपूर्ण स्थान है गुडे एवं हाट ने इसके महत्व के सम्बन्ध में लिखा है, "समकालीन अनुसंधान में साक्षात्कार का अधिक महत्व हो गया है। क्योंकि वह गुणात्मक साक्षात्कार का पुनर्निर्धारण है? कुछ विद्वानों का विचार है कि सामाजिक घटनाएं विवेचन के अनुकूल नहीं होती हैं। अतः साक्षात्कार प्रक्रिया ही एकमात्र ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा अनुसंधानकर्ता सूचनादाता के आमने–सामने होता है और घटनाओं के विषय में जानकारी प्राप्त करता है।

1– जी0 के0 अग्रवाल, एस0 के0 मुकर्जी, के0 के0 गुप्ता
"सामाजिक अनुसंधान एवं सांख्यिकी", पृष्ठ संख्या–101, 102, 103
प्रकाशक– विवेक प्रकाशन, दिल्ली।

व्यक्तिगत समूह

"समूह मनुष्य के जीवन में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण वास्तविकता है। वह जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त न केवल विभिन्न प्रकार के समूहो में रहता है बल्कि निरन्तर नए समूहों का निर्माण भी करता है। समूहों के माध्यम से ही व्यक्ति अपनी विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। समूह से पृथक व्यक्ति के अस्तित्व की साधारणतः कल्पना नहीं की जा सकती। विभिन्न समूहो के माध्यम से व्यक्ति का समाजीकरण और व्यक्तित्व का विकास होता है। समूह हमें आदिम से आदिम समाजों में यहा तक की कुछ पशुओं में भी देखने को मिलता है। मनोवैज्ञानिकों की मान्यता है कि व्यक्ति अपनी एक मूल प्रवृति 'ग्रिगेरियस इन्सटिंक्ट' के कारण ही समूह में रहता है। समूहों के माध्यम से ही एक पीढ़ी के विचारों तथा अनुभवों को दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित किया जाता है। साधारणतः समूह शब्द का प्रयोग कुछ व्यक्तियों के संगठन के लिए किया जाता है जिसमें परिवार, भीड़, सामाजिक वर्ग, धार्मिक वर्ग, व्यावसायिक वर्ग, विभिन्न प्रजातियां आदि सम्मिलित किए जाते हैं। वास्तव में, विभिन्न प्रकार के समूहों से ही सामाजिक संरचना का जटिल प्रतिमान बनता है।

मनुष्य के लिए समूह से पृथक रहना सम्भव नहीं है। हम सभी किसी न किसी प्रकार परिवार, पड़ोस, ग्राम, नगर, व्यावसायिक समूह, धार्मिक समूह आदि के सदस्य अवश्य होते हैं। स्पष्ट है कि प्रत्येक समाज में अगणित समूह पाए जाते हैं। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सभ्यता की दृष्टि से कम विकसित समाजों में समूहों की संख्या अपेक्षाकृत कम होती है। सभ्यता के विकास के साथ–साथ समाजों में समूहों की संख्या भी बढ़ती जाती है।

सामाजिकता के विभिन्न अंशों में पाए जाने के कारण ही कुछ व्यक्तियों का सम्बन्ध कम समूहो के साथ तथा कुछ का अधिक समूहों के साथ होता है। कुछ लोग अन्य की अपेक्षा सामूहिक जीवन में अधिक सक्रियता के साथ

भाग लेते हैं। मनुष्य समूह में रहकर ही विभिन्न प्रकार के भौतिक तथा सामाजिक पर्यावरणों के साथ सफल समायोजन कर पाता है। समूह में ही उसकी सीखनें की क्षमता का पूर्ण विकास होता है। सामाजिक जीवन के द्वारा ही व्यक्ति अपने पूर्वजों के संचित एवं परीक्षित अनुभव प्राप्त करता है। समूह में रहकर ही व्यक्ति भिन्न–भिन्न परिस्थितयों में काम करना सीख लेता है, विषम परिस्थितयों में भी साधारणतः नहीं घबराता है। इससे व्यक्तित्व के विकास में काफी सहायता मिलती है। स्पष्ट है कि समूह का व्यक्ति के जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है।''[1]

''व्यक्तिगत समूह ऐसे व्यक्तियों का एक संग्रह है जिनके बीच किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध पाया जाता है। व्यक्तिगत समूह से हमारा तात्पर्य उन समूहों से है जिनमें सदस्यों के बीच आमने–सामने के घनिष्ठ सम्बन्ध एवं पास्पारिक सहयोग की विशेषता होती है। ऐसे समूह अनेक अर्थों में व्यक्तिगत होते हैं लेकिन विशेष रूप से इस अर्थ में कि ये व्यक्ति के सामाजिक स्वभाव और विचार के निर्माण में बुनियादी योगदान देते हैं। व्यक्तिगत समूह केवल व्यक्ति के दृष्टिकोंण से ही महत्वपूर्ण नहीं है, अपितु समाज के दृष्टिकोंण से भी महत्वपूर्ण है। व्यक्तिगत समूह मानव–स्वभाव का जन्म स्थान है। व्यक्तिगत समूह व्यक्तियों के समाजीकरण में सहायता करते हैं तथा उनके ऊपर सामाजिक नियन्त्रण बनाए रखते हैं। वे सदस्यों को समाज के नियमों का पालन करने की शिक्षा देते हैं। चार्ल्स कूले ने अपनी पुस्तक 'सोशियल आर्गनाइजेशन' में सन् 1909 में व्यक्तिगत समूह की अवधारणा को प्रस्तुत किया है। व्यक्तिगत समूह को परिभाषित करते हुए चार्ल्स कूले ने लिखा है कि व्यक्तिगत समूहों से मेरा तात्पर्य ऐसे समूहों से है जिनकी विशेषता आमने–सामने के घनिष्ठ सम्बन्ध और सहयोग हैं। वे अनेक अर्थों में व्यक्तिगत हैं, परन्तु मुख्यतः इस बात में कि वे व्यक्ति की सामाजिक प्रकृति और आदर्शों के निर्माण में मौलिक हैं। घनिष्ठ सम्बन्धों का परिणाम यह होता है कि एक सामान्य सम्पूर्णता में वैयक्तिकताओं का इस प्रकार एकीकरण

1– प्रो0 एम0 एल0 गुप्ता एवं डा0 डी0 डी0 शर्मा, ''समाजशास्त्र'', पृष्ठ संख्या–246 प्रकाशक– साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।

हो जाता है, जिससे प्रायः कई प्रयोजनों के लिए व्यक्ति का अहम् समूह का सामान्य जीवन और उद्‌देश्य बन जाता है। इस सम्पूर्णता के वर्णन के लिए अति सरल विधि 'हम' कहना है क्योंकि यह अपने में उस प्रकार की सहानुभूति और पारस्परिक एकात्मीकरण को समाविष्ट करता है जिसके लिए 'हम' ही स्वभाविक अभिव्यक्ति है।"[1]

"लुण्डवर्ग व्यक्तिगत समूह को परिभाषित करते हुए लिखते हैं, "व्यक्तिगत समूह का तात्पर्य ऐसे व्यक्तियों से है जो घनिष्ठ, सहभागी और वैयक्तिक ढंग से एक दूसरे से व्यवहार करते हैं।"

ब्रूम तथा सेल्जनिक ने व्यक्तिगत समूह के अर्थ को स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि व्यक्तिगत समूह वहां तक है जहां तक वह व्यक्तिगत सम्बन्धों पर आधारित है।

जिसबर्ट के अनुसार "व्यक्तिगत समूह व्यक्तिगत सम्बन्धों पर आधारित होता है, जिसमें सदस्य तुरन्त एक–दूसरे के साथ व्यवहार करते हैं।" किम्बाल यंग लिखते हैं कि व्यक्तिगत समूह में, "परस्पर घनिष्ठ आमने–सामने के सम्पर्क होते हैं और सभी व्यक्ति समरूप कार्य करते हैं या ऐसे केन्द्र–बिन्दु जहां व्यक्ति का व्यक्तित्व विकसित होता है।"

अलेक्स इंकल्स के अनुसार, "व्यक्तिगत समूहों में सदस्यों के सम्बन्ध भी व्यक्तिगत होते हैं, जिनमें व्यक्तियों में आमने–सामने के सम्बन्ध होते हैं तथा सहयोग की भावनाएं इतनी प्रबल होती हैं कि व्यक्तियों का 'अहं' 'हम' की भावना में बदल जाता है।

व्यक्तिगत समूहों का व्यक्ति के जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। व्यक्ति व्यवहार के आधारभूत प्रतिमानों को परिवार में ही सीखता है। परिवार के बाद बालक के लिए महत्व की दृष्टि से क्रीड़ा–समूह, पड़ौस, गाँव और

1- Charles H. Cooley, 'Social Organization", p.23

विद्यालय में उसकी कक्षा आदि, आते हैं। इन समूहों के माध्यम से ही व्यक्ति में अनेक गुणों का जैसे–सहानुभूति, सहिष्णुता, सहकारिता, कर्तव्य–परायणता आदि का विकास होता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए पारसन्स ने लिखा है। हमारी मानवीकरण की प्रक्रिया व्यक्तिगत समूहों में ही होती है। व्यक्ति के अनुभव तथा विकास की दृष्टि से व्यक्तिगत समूह अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। ये समूह सम्पूर्ण मानव जीवन का एक लघु रूप प्रस्तुत करते हैं। जन्म के पश्चात शिशु अपने जीवन के प्रारम्भिक वर्ष परिवार में माता–पिता तथा अन्य बालकों के सम्पर्क में ही व्यतीत करता है, अपने जीवन के प्रारम्भिक वर्षों (निर्माणकाल) में प्रत्येक व्यक्ति व्यक्तिगत समूहों में ही अन्तःक्रिया के द्वारा व्यवहार के मौलिक प्रतिमान सीखता है। एली चिनोय ने लिखा है कि व्यक्तित्व के मूल तत्व परिवार के वक्षस्थल में प्राप्त किए जाते हैं और मनुष्य को निरन्तर स्नेह, सुरक्षा और घनिष्ठता की आवश्यकता पड़ती है। जिसका अनुभव वे बालकों के समान ही करते हैं। व्यक्तिगत समूह, विशेषरूप से परिवार, इन मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। ऐसा करने में वह व्यक्तियों को अपने व्यक्तिगत संतुलन को बनाए रखने और अपनी अभ्यस्त सामाजिक भूमिका को अदा करने के योग्य बनाकर सामाजिक व्यवस्था के स्थायित्व में योग देता है। स्पष्ट है कि व्यक्तिगत समूह, व्यक्ति में अनेक मानवोचित गुणों के विकास मे योग देते हैं। व्यक्तिगत समूहों का महत्व इस दृष्टि से भी है कि ये अपने सदस्यों को मनोवैज्ञानिक सुरक्षा प्रदान करते हैं ऐसे समूह का प्रत्येक सदस्य भली–भांति जानता है कि संकट के समय उसे इसी समूह से सहायता मिल सकती है। इस प्रकार व्यक्तिगत समूह के माध्यम से व्यक्तित्व में सुरक्षा–व्यवस्था को एकीकृत कर लेता है। परिवार, मित्र, समूह तथा पड़ौसी एक बालक के व्यक्तित्व के विकास में महत्वपूर्ण योग देते है। इन समूहों में बालक को प्रेम एवं सहानुभूति प्राप्त होती है, विचारों के आदान–प्रदान का अवसर मिलता है। अधिकतर व्यक्ति बड़े समूहों में साधारणतः अपने विचारों को स्पष्टतः दूसरों के सामने नहीं रख पाते, परन्तु व्यक्तिगत समूहों के माध्यम से सदस्य अपने विचारों को अन्य लोगों तक पहुंचा पाते हैं

तथा उनमें विचारों को संचालित करने की क्षमता का विकास हो जाता है।"[1]

"व्यक्तिगत समूहों का इस दृष्टि से भी महत्व है कि ये व्यक्ति के सम्मुख ऐसा वातावरण प्रस्तुत करते हैं जिसमें व्यक्ति का स्वस्थ्य मनोरंजन हो पाता है। बड़े समूह तथा आज के जटिल समाजों में तो व्यक्ति अपने आप को अपरिचितों के संसार में पाता है, वहां व्यक्ति औपचारिकता के सम्बन्धों में बंधा रहता है। उसका वास्तविक मनोरंजन तो व्यक्तिगत समूहों में ही होता है। यही व्यक्ति सब प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त होकर हंसी–मजाक और गप–शप में अपना समय निकाल सकता है, एक–दूसरे के सम्मुख अपनी भावनाओं को व्यक्त कर सकता है। व्यक्तिगत समूह सामाजिक नियमों के पालन में भी अपूर्व योग देते हैं, सामाजिक नियंत्रण बनाए रखने की दृष्टि से ये समूह महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। व्यक्ति अपने परिवारजनों, मित्रों, साथियों और पड़ोसियों की दृष्टि में गिरना नहीं चाहता है। अतः वह साधारणतः कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहता जिसे लोग उचित समझते हों। व्यक्तिगत समूहों का भावनात्मक तथा घनिष्ठ सम्बन्ध ही व्यक्ति को समूह के आदर्श मानदण्डों के अनुरूप व्यवहार करने को प्रेरित करता है। व्यक्तिगत समूह व्यक्ति की कार्यक्षमता को बढ़ाने में अपूर्व योग देते हैं। ऐसे समूहों में व्यक्ति सब प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त होकर मानसिक दृष्टि से सन्तुष्टि का अनुभव करता है। यहां उसकी थकान दूर हो जाती है और वह पहले से अधिक उत्साहवर्धक काम करने को तैयार हो जाता है। व्यक्तिगत समूह के महत्व पर प्रकाश डालते हुए ब्रूम तथा सेल्जनिक ने बताया है कि ये समूह किस प्रकार से व्यक्ति की सहायता करते हैं : (1) व्यक्तिगत समूह में व्यक्ति यह अनुभव करता है कि कुछ लोग उसे अपना समझते हैं, वहां व्यक्ति के रूप में ही उसे स्वीकार किया जाता है। ऐसे समूह में उसे हर समय चौकन्ना रहने की आवश्यकता नहीं पड़ती। (2) व्यक्तिगत समूह की सदस्यता

1– प्रो0 एम0 एल0 गुप्ता एवं डा0 डी0 डी0 शर्मा, "समाजशास्त्र", पृष्ठ संख्या–254,257 प्रकाशक– साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।

से व्यक्ति अपने आप को सही रूप में समझ सकता है, अपना वास्तविक मूल्यांकन कर सकता है। वहां वह अपने आप को झूठे प्रशंसकों के मध्य नहीं पाता। ऐसे समूह में लगातार सदस्य बने रहने से उसकी विशिष्टता बनी रहती है। (3) व्यक्तिगत समूह लक्ष्यों तथा नियमों की पुनर्व्याख्या करता है, उनमें संशोधन करता है, उन्हें व्यक्ति की क्षमताओं तथा उसके पर्यावरण के अनुकूल बनाता है। इससे व्यक्ति को सुरक्षा प्राप्त होती है। इस प्रकार की सुरक्षा व्यक्ति को अन्यत्र कहीं भी नहीं मिल पाती व्यक्तिगत समूह व्यक्ति और समाज के बीच की प्रमुख कड़ी है। यदि कहा जाए कि सम्पूर्ण समाज के विकास का श्रेय व्यक्तिगत समूहों को ही है तो इसमें किसी प्रकार की अतिशयोक्ति नही समझी जानी चाहिए। व्यक्तिगत समूह व्यक्ति की प्रकृति के निर्माण में, उसके समाजीकरण एवं उसके व्यक्तित्व के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। चार्ल्स कूले का कथन यहां पूर्णतः उपयुक्त प्रतीत होता है कि व्यक्तिगत समूह व्यक्ति की सामाजिक प्रकृति और आदर्शों का निर्माण करने में मौलिक हैं। व्यक्तिगत समूह व्यक्ति के व्यक्तित्व निर्माण में सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। जन्म के समय बच्चा एक प्राणीशास्त्रीय इकाई मात्र होता है। समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा परिवार, पड़ौस, मित्र–मण्डली एवं अन्य समूह उसके व्यक्तित्व का निर्माण कर उसे एक सामाजिक प्राणी बनाते हैं। व्यक्तिगत समूह अपने सदस्यों की पशु प्रवृत्तियों का मानवीयकरण करते हैं। कूले लिखते हैं, ''पशु प्रवृत्तियों का मानवीयकरण ही सम्भवतः सबसे बड़ी सेवा है, जो व्यक्तिगत समूह करते है। व्यक्तिगत समूह के घनिष्ठ तथा आन्तरिक दबाव के कारण व्यक्ति की पाशविक इच्छाएं (जैसे लालच, स्वार्थ, यौन इच्छा, प्रतिशोध आदि) दब जाती हैं और वह सामूहिक हित के लिए कार्य करने को प्रेरित होता है।''

व्यक्तिगत समूह के सदस्यों में घनिष्ठ सम्बन्ध एवं सहयोग पाया जाता है। पारस्परिक वार्तालाप, हंसी–मजाक, मनोरंजन, तर्क–वितर्क, विचार–विनिमय, स्नेह, प्यार, सहयोग, सहानुभूति, त्याग आदि के कारण व्यक्ति को व्यक्तिगत समूह में मानसिक शान्ति एवं सन्तोष प्राप्त होता है।

व्यक्तिगत समूहों का महत्व बताते हुए स्टीवर्ट एवं ग्लिन ने लिखा है कि व्यक्तिगत समूह वास्तव में भावनात्मक–मानसिक सुरक्षा के स्रोत हैं वे एक बालक के लिए मानवीय अन्तः क्रियाओं को सीखने का स्कूल तथा कार्यो के आदान–प्रदान व साथ–साथ खेलने का स्थल है। चूंकि व्यक्तिगत समूह का व्यक्तित्व के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान होता है इसलिए महत्व की दृष्टि से भी ये प्रमुख है। कूले लिखते हैं वैसे तो वे अनेक अर्थों मे व्यक्तिगत है, किन्तु मुख्यतः इस कारण से कि वे व्यक्तियों की सामाजिक प्रकृति एवं आदर्शों के निर्माण में मौलिक हैं। समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा प्राथमिक समूह ही बच्चे को सर्वप्रथम संस्कृति, प्रथाओं, रीति–रिवाजों, आदर्शों, मूल्यों आदि का ज्ञान कराते हैं और उसे सामाजिक आदर्शों के अनुरूप ढालने एवं आचरण में योग देते हैं। व्यक्तिगत समूह ही बच्चे में विभिन्न परिस्थितियों से अनुकूलन करने की क्षमता पैदा करते हैं जिससे कि वह अपने जीवन में आने वाली विभिन्न कठिनाइयों एवं संकटों का मुकाबिला कर सकें। व्यक्तिगत समूह ही व्यक्ति के व्यक्तित्व निर्माण में प्रमुख भूमिका निभाते हैं बाल्यकाल में परिवार जिन गुणों को बच्चों को सिखाते हैं, वे ही उसके व्यक्तित्व का अंग बन जाते हैं। व्यक्तिगत समूह ही व्यक्ति में आत्म–नियंत्रण की भावना पैदा करते है। इन समूहों के द्वारा ही वह अपनी प्रथाओं, नैतिकता, धर्म एवं लोकाचारों से परिचित होता है। इन्हें मानकर वह अनौपचारिक रूप से सामाजिक नियंत्रण को स्वीकार करता है इस प्रकार व्यक्तिगत समूह व्यक्ति के सामाजिक जीवन की सर्वप्रथम नींव रखते हैं। किम्बाल यंग का मत है कि व्यक्तिगत समूह मौलिक मानव संघो के प्रतिनिधि हैं। ये उतने ही प्राचीन है जितना कि मानव का सामाजिक जीवन। इस प्रकार हम कह सकते है कि व्यक्तिगत समूह महत्व, समाजीकरण, व्यक्तित्व निर्माण, सामाजिक नियंत्रण, मौलिकता की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

1– प्रो0 एम0 एल0 गुप्ता एवं डा0 डी0 डी0 शर्मा, "समाजशास्त्र", पृष्ठ संख्या–258,259 प्रकाशक– साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।

नियंत्रित अनियंत्रित समूह

सामाजिक नियंत्रण के द्वारा व्यक्तियों के व्यवहारों को समाज के स्थापित प्रतिमानों के अनुरूप ढालने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकार इसके द्वारा समाज अपने सदस्यों के नियंत्रित तथा अनियंत्रित व्यवहारों का नियमन करता है। सामाजिक नियंत्रण के द्वारा एक समाज अपने सदस्यों को उनकी निर्धारित भूमिकाएं निभाने, नियमों का पालन करने एवं व्यवस्था बनाए रखने के लिए प्रेरित करता है। प्रत्येक समाज अपने सदस्यों से यह अपेक्षा करता है कि वे एक निर्धारित तरीके से समाज में आचरण करें, उचित रूप से अपनी भूमिकाओं एवं कर्तव्यों का निर्वाह करें अन्यथा समाज में व्यवस्था बनाए रखना एवं लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति करना कठिन हो जाएगा। प्रत्येक समाज अपने सदस्यों से यह अपेक्षा करता है कि वे उसकी संस्कृति के व्यवहार–प्रतिमानों, प्रथाओं, रीति–रिवाजों, मूल्यों, आदर्शों एवं कानून के अनुरूप आचरण कर समाज को स्थायित्व एवं व्यवस्था प्रदान करे। इसलिए वह अपने सदस्यों पर कुछ नियंत्रण लगाता है। इसी प्रकार समाज में जब नई परिस्थितियां उत्पन्न होती हैं तब भी समाज अपने सदस्यों के नियंत्रित एवं अनियंत्रित व्यवहारों पर अंकुश रखता है जिससे कि नई परिस्थितियों से प्रभावित होकर लोग सामाजिक ढांचे को तोड़ न दें। यह एक अन्य दृष्टि से भी आवश्यक है–मानव अपनी प्रकृति से स्वार्थी, व्यक्तिवादी, अराजक, लड़ाकू, हिंसक एवं संघर्षकारी है। यदि उसकी इन प्रवृत्तियों पर अंकुश नहीं रखा जाए और उसे पूरी तरह स्वच्छन्द छोड़ दिया जाए तो समाज युद्ध–स्थल बन जाएगा व मानव का जीवन कठिन हो जएगा। इस अनियंत्रित स्थिति से बचने के लिए ही प्रत्येक समाज के कुछ आदर्श एवं नियम होते हैं, जिनका कि समाज नियन्त्रण रखता है। किसी भी समाज का अस्तित्व एवं निरन्तरता बनाए रखने के लिए समाज में दृढ़ता, संगठन, एकरूपता एवं नियंत्रण होना अति आवश्यक है। मानव की अनियंत्रित प्रवृत्ति पर नियंत्रण लगाए बिना समाज में संतुलन बनाए रखना कठिन हो जाएगा। सामूहिक एवं व्यक्तिगत उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भी समूह एवं समाज के सदस्यों पर नियंत्रण रखना आवश्यक है। समाज को

व्यवस्थित एवं संगठित रखकर ही हम सामाजिक मूल्यों को प्राप्त कर सकते हैं। और इसके लिए नियंत्रण होना आवश्यक है। सामाजिक ढांचे को नवीन परिवर्तनों के कारण विघटित होने से बचाने एवं लोगों में पारस्परिक सहयोग उत्पन्न करने के लिए भी समाज में नियंत्रण आवश्यक है क्योंकि नियंत्रण के द्वारा ही व्यक्ति की अनियंत्रित प्रवृत्तियों पर नियंत्रण रखा जा सकता है, जिसके फलस्वरूप समाज में अनिश्चितता एवं अस्थिरता को समाप्त किया जा सकता है एवं सामाजिक संगठन की निरन्तरता को बनाए रखा जा सकता है। नियंत्रित समूह से हमारा तात्पर्य ऐसे व्यक्तियों से है जिनके बीच आमने–सामने के घनिष्ठ सम्बन्ध एवं पारस्परिक सहयोग की भावना पाई जाती है। नियंत्रित समूह की अवधारण के विषय में चार्ल्स कूले ने अपनी पुस्तक 'सोशियल आर्गनाईजेशन' में सन् 1909 में नियंत्रित समूह की अवधारणा को प्रस्तुत किया है। नियंत्रित समूह को परिभाषित करते हुए चार्ल्स कूले ने लिखा है कि नियंत्रित समूहों से मेरा तात्पर्य ऐसे समूहो से है जिनकी विशेषता आमने–सामने के सम्बन्ध और सहयोग हैं। नियंत्रित समूह का व्यक्ति के जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। व्यक्ति व्यवहार के आधारभूत प्रतिमानों को अपने नियंत्रित समूह में ही सीखता है। इस कारण उसमें सहानुभूति, सहिष्णुता, सहकारिता, कर्तव्य–परायणता की भावना का विकास होता है और वह समाज में एक आदर्श प्रतिमान के रूप में अपना जीवन निर्वाह करता है। नियंत्रित समूह का इस दृष्टिकोंण से भी महत्व है कि ये व्यक्ति के सम्मुख ऐसा वातावरण प्रस्तुत करते हैं जिसमें व्यक्ति का उचित विकास हो सके। अनियंत्रित समूह में व्यक्ति का व्यवहार सामाजिक मानदण्डों एवं प्रथाओं के प्रतिकूल होता है जिसका प्रभाव प्रत्यक्षरूप से सामाजिक व्यवस्था पर पड़ता है। सामाजिक व्यवस्था पर प्रभाव पड़ने से सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था शिथिल पड़ जाती है और व्यक्ति का व्यवहार अनियंत्रित हो जाता है। प्रत्येक समाज के कुछ सांस्कृतिक प्रतीक एवं नियम होते हैं जिनका कि व्यक्तियों से पालन करने की अपेक्षा की जाती है। यदि व्यक्ति इन नियमों के विपरीत कार्य करता है तो वह अनियंत्रित प्रवृत्ति का हो जाता है जिससे कि व्यक्ति का विकास रुक जाता है।

केन्द्रीय प्रवृत्ति

"सामाजिक अनुसंधानों में तथ्यों को बोधगम बनाने के लिए वर्गीकरण आवश्यक है किन्तु ये तथ्य न तो समान होते हैं और न ही इनका मूल्य समान होता है अतः एक ऐसा मूल्य निकालते हैं जो सभी तथ्यों का प्रतिनिधित्व करे। तथ्यों के ऐसे मूल्य या स्रोत को केन्द्रीय या माध्य प्रवृति कहा जाता है। इस कारण माध्य, अनुसंधान की विस्तृत सामग्री के माध्यम के मध्य से वर्गीकरण एवं सारणीकरण के अनन्तर चुनी गई वे संख्याएं हैं जिनमें समस्त सामग्री के विशिष्ट लक्षण विधमान है। इसका निर्धारण पदमाला के अधिकतम एवं न्यूनतम मूल्यो के मध्य होता है। संक्षेप में सांख्यिकीय माध्य, श्रेणी का प्रतिनिधित्व करने वाली वह इकाई है जो सम्पूर्ण का स्पष्ट विवरण प्रस्तुत करती है।

DEFINITION OF AVERAGE

माध्य का तात्पर्य सामग्री की विभिन्न श्रेणियों के अन्तर्गत उस संख्या से है, जिसका मूल्य न अधिक है और न कम। यह एक केन्द्रीय संख्या है जो समस्त श्रेणी का प्रतिनिधित्व करती है। माध्य को निम्न प्रकार परिभाषित कर सकते हैं।

1- "An average is a single simple expression in which the net result of complex group or a large numbers is concentrated."

- Ghose & Chawdhury

Statistics : Theory and Practice, Tenth Edition, p.69

2- "It is obvious that a figur which is used to represent a whole series should neither have the lowest value in the series nor the highest value but a value somewhere bteween these to limits, possibly in the centre where most of the items of series cluster. Such figures are called measures of central tendency or averages"

- D. N. Elhance

Fundamental of Statistics, p.299

माध्यों की उपयोगिता एवं उद्देश्य-

सामाजिक अनुसंधानों में तथ्यों की विवेचना, विश्लेषण या निष्कर्षीकरण में माध्यों की उपयोगिता उल्लेखनीय है। निम्नलिखित विवेचन से माध्यों की उपयोगिता एवं उद्देश्य और भी स्पष्ट हो जाएंगे–

(1) माध्यों का सर्वप्रथम उद्देश्य जटिल श्रेणियों तथा अंको की श्रेणियों का संक्षिप्तीकरण करना है। माध्य के द्वारा विखरे हुए विभिन्न गुणों वाले तथ्यों को संक्षिप्त रूप प्रदान किया जा सकता है। अंको के ढेर से कुछ भी पता नहीं चलता, पर माध्य एक अंक में होते हुए भी अंकों के ढेरों के केन्द्रीय गुण या मूल्य को प्रगट करता है।

(2) माध्यों का एक और उद्देश्य या उपयोगिता यह है कि इसके द्वारा तथ्यों की तुलना अत्याधिक सरल हो जाती है। अनेक अंको वाली श्रेणियों की तुलना बहुत कठिन होती है। परन्तु यदि उन्हें एक अंक का रूप प्रदान कर दिया जाए तो तुलना का काम स्वतः ही सरल हो जाता है। वास्तव में जटिल व विशाल संख्याओं की तुलना करने के उद्देश्य से ही माध्य निकाले जाते हैं।

(3) माध्य के द्वारा अंको की दो या अधिक श्रेणियों या समूहों के बीच पाए जाने वाले सम्बन्धों तथा अनुपात का अनुमान लगाया जाता है। वैज्ञानिक विश्लेषण और व्याख्या के लिए इस प्रकार के सम्बन्धों व अनुपात की जानकारी आवश्यक होती है। माध्य इस कार्य में हमारी मदद करता है।

(5) माध्यों की एक उपयोगिता यह भी है कि ये हमारे अध्ययन–कार्य को संक्षिप्त बनाने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। एक समुदाय की समग्र इकाइयों का अध्ययन हमारे लिए सम्भव नहीं होता और इसीलिए ही निदर्शन–प्रणाली के द्वारा कुछ इकाइयों से सम्बन्धित तथ्यों को एकत्रित करते हैं। इन तथ्यों को

और आगे संक्षिप्त करने के लिए माध्यों का उपयोग किया जा सकता है।"1

उत्तर माध्य के मुख्य गुण-

सामाजिक अनुसंधान सम्बन्धी अध्ययन में जब कि हम विशाल जनसमूह से आधारित आंकड़ों का तुलनात्मक अथवा अन्य गतिविधियों का अध्ययन करते हैं तो 'माध्य' विधि अत्यधिक सरल व लाभदायक सिद्ध होती है। जैसा कि निम्न गुणों से ज्ञात होता है–

(1) समूह का प्रतिनिधित्व– समस्त समूह का यह संकुचित रूप है जिसमें समूह के मुख्य गुणों का समावेश होता है और यह सरल अंकों में जटिल समूह का पूर्ण प्रतिनिधित्व (बिना उसके गुण में परिवर्तन किए) करता है।

(2) तुलनात्मक अध्ययन में सरलता– बड़े–बड़े समूह के तुलनात्मक अध्ययन में माध्यविधि बहुत सरल है। परिवर्तनशील संख्याओं की तुलना उनको प्रदर्शित करने वाले माध्यों की तुलना मात्र से की जा सकती है।

(3) समूहों की समानता व विभिन्नता का ज्ञान– दो या दो से अधिक परिवर्तनशील समूहों के पारस्परिक गुण अनुपात, समानता, भिन्नता इत्यादि तथ्यों को साधारण अध्ययन से जाना जा सकता है।

(4) परिवर्तन का ज्ञान– उत्पादन, औसत, वृद्धि, प्रति मनुष्य आय, उम्र, जनसंख्या, अपराध इत्यादि में होने वाले (संख्या) परिवर्तन को 'माध्य' रूप में प्रदर्शित करके किसी ऐसे समय या जनसंख्या को हम याद कर सकते हैं जिसकी कि हमें जानकारी नहीं है, यह विधि इन संख्याओ में होने वाले परिवर्तनों को जिनके आधार पर इन समस्याओं के समाधान हेतु की जाने

1– डा0 रवीन्द्र नाथ मुकर्जी, "सामाजिक शोध व सांख्यिकी", पृष्ठ संख्या–447, 448 प्रकाशक– विवेक प्रकाशन, दिल्ली।

वाली प्रक्रियाएं लागू की जाती हैं– स्पष्ट रूप में प्रदर्शित कर अनुसंधान में मार्ग प्रदर्शित करते हैं।

(5) समूह के स्पष्टीकरण में सहायता– माध्य विधि से एक विशाल समूह का चित्र, निदर्शन सामग्री की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है।

(6) गणितीय विवेचन में सरलता– माध्य का चुनाव अनुसंधान को दृष्टि में रखते हुए किया गया हो तो माध्य का उपयोग गणितीय विवेचन में अत्यधिक सरल व स्पष्ट होता है।"[1]

TYPES OF AVERAGE

1- **Mode**
2- **Median**
3- **Arithmetic Mean**
4- **Weighted Average**
5- **Harmonic Average**

(1) Mode- यह सबसे सामान्य प्रकार का माध्य है किसी भी पदमाला को जो समूह में सबसे अधिक आता है अथवा जिस पर लिखी हुई इकाइयों की संख्या सर्वाधिक हो, उसे बहुलांक कहते हैं। प्रो0 बाउले ने भूयिष्ठक को परिभाषित करते हुए लिखा है कि, "किसी सांख्यिकी समूह में किसी मात्रा का वह मूल्य या उसका कोई अन्य माप जिस पर लिखी इकाइयों की संख्या सर्वाधिक हो, भूयिष्ठक अथवा सर्वाधिक घनत्व का बिन्दु महत्वपूर्ण मूल्य कहलाता है।

1– आर0 एन0 मुकर्जी एवं एम0 ए0 पद्मधर मालवीय,
"सामाजिक अनुसंधान एवं सांख्यिकी", पृष्ठ संख्या–145
प्रकाशक– करेण्ट पब्लिकेशन्स, लखनऊ।

(2) Median- मध्यका, किसी भी पद का परिणाम है जो किसी पदमाला के आरोही अथवा अवरोही क्रम से लिए हुए पदों के मध्य मूल्य होता है। मध्यका इस प्रकार पूरे अंक समूह के मध्य से चुना जाएगा। यह अंक (मध्यका) पूरे अंक समूह को दो भागों में बांटता है। प्रो0 बाउले के अनुसार– "किसी श्रेणी में आधी दूर स्थित पद का मूल्य ही मध्यका है।"

घोष तथा चौधरी के अनुसार– "मध्यका श्रेणी में उस पद का मूल्य है जो श्रेणी को दो बराबर भागों में बांटता है। जिनमें एक भाग में इससे कम दूसरे भाग में अधिक मूल्य होते हैं।

(3) Arithmetic Mean- समानान्तर माध्य, सबसे श्रेष्ठ माध्य माना गया है। अपनी सरलता के कारण यह सामाजिक अनुसंधान में सर्वाधिक प्रचलित है। समस्त सांख्यकीय विवेचनाओं में जो गणितीय क्रियाओं से युक्त होती है। समानान्तर माध्य विधि अत्यन्त सुविधाजनक है, इसमें समस्त पदों का उपयोग किया जाता है। इस प्रकार माध्य अंक अधिक प्रतिनिधित्व करता है।

समानान्तर माध्य समस्त पदों का योग दो पदों की संख्या से भाग देने पर प्राप्त होता है। इसी प्रकार किसी भी पद्माला का समानान्तर माध्य वह संख्या, (परिणाम) है जो पदमाला के समस्त पदों के परिणामों के योग को उसके पदों की संख्या विभाजित करने से प्राप्त होती है।

(i) "The arithmetic average, also called the arithmetic mean or simple mean is the quantity obtained by dividing the sum of the values of the items in a variable by their number."

- Ghosh & Chawdhury

Statistics : Theory and practice, p.85

उपरोक्त परिभाषा से यह स्पष्ट है कि समान्तर माध्य वास्तव में औसत निकालना है जिसके विषय में छोटी कक्षाओं के विद्यार्थियों को पढ़ाया जाता है। यदि हमें प्रत्येक इकाई का मूल्य अलग–अलग मालूम हो तो समान्तर माध्य या औसत निकालने के लिए उन सभी इकाइयों को जोड़कर इकाइयों की संख्या से भाग दे देंगे। भाग देने से जो परिणाम प्राप्त होगा उसे औसत या समान्तर माध्य कहते हैं।

(4) Weighted Average- माध्य में 'भार' का महत्वपूर्ण स्थान है माध्य हमेशा कुछ न कुछ महत्वपूर्ण भारयुक्त होता है। जब विभिन्न महत्व की इकाइयों का माध्य निकाला जाता है तो प्रायः भार का उपयोग करना आवश्यक होता है।

(5) Harmonic Mean- हरात्मक माध्य का उपयोग समय की दर का औसत इत्यादि निकालने के लिए किया जाता है। हरात्मक श्रेणी का ज्ञान हमें निम्न प्रकार से हो सकता हैं। जैसे a, b, c, d, किसी समानान्तर पदमाला को प्रदर्शित करते हैं, अतः श्रेणी के प्रत्येक पद को व्युत्क्रम दशा में रखें तो इस प्रकार यह श्रेणी हरात्मक श्रेणी कहलाएगी। व्युत्क्रम से हमारा तात्पर्य विलोम से है। x का व्युत्क्रम $\frac{1}{x}$ व 7 का व्युत्क्रम $\frac{1}{7}$ होगा। इस प्रकार श्रेणी, a, b, c, d, ... को हरात्मक ढंग से रखने पर $\frac{1}{a}\ \frac{1}{b}\ \frac{1}{c}\ \frac{1}{d}$ .... समानान्तर श्रेणी में हो जाएगी। हरात्मक माध्य को निम्न सूत्र से प्रदर्शित किया जा सकता है।

$$h = \frac{n}{\frac{1}{a} + \frac{1}{b} + \frac{1}{c} \cdots\cdots\cdots \frac{1}{n}}$$

h= हरात्मक माध्य

n= इकाइयों की कुल संख्या

a, b, c, ...= पदमाला

1— आर0 एन0 मुकर्जी एवं एम0 ए0 पद्मधर मालवीय, "सामाजिक अनुसंधान एवं सांख्यिकी", पृष्ठ संख्या–158, 161 प्रकाशक– करेण्ट पब्लिकेशन्स, लखनऊ।

षष्ठम अध्याय

1- पारिवारिक एवं सामाजिक समीक्षा

2- निष्कर्ष

3- सुझाव

4- परिशिष्ट

1. संदर्भ ग्रन्थ सूची

पारिवारिक एवं सामाजिक समीक्षा

पारिवारिक समीक्षा–

'वसुधैव कुटुम्बकम' को आदर्श मानने वाले प्राचीन भारतीय समाज विज्ञान के मनीषियों के सम्बन्ध में यह धारणा रखना नितान्त आधार है कि उन्होने भारत में आदर्श पारिवारिक व्यवस्था स्थापित की थी। वास्तव में मानव संस्कृति का शुभारम्भ पारिवारिक जीवन से ही हुआ और इस स्थिति में हमारी परिवार नामक संस्था हमारी संस्कृति का प्राचीनतम महत्वपूर्ण अंग है। वैदिक पारिवारिक व्यवस्था का सर्वप्रथम रूप ऋगवेद में मिलता है। उसके अनुसार परिवार के सदस्य माता–पिता, भाई–बहिन और वधू थे। भारतीयों ने एक आदर्श पारिवारिक व्यवस्था को अपनाया था। मानव जाति का इतिहास ही परिवार का इतिहास है क्योंकि परिवार मानव जीवन के साथ है। यह सांस्कृतिक विकास के सभी स्तरों पर पाया जाता है। समाज की प्रारम्भिक इकाई परिवार के अभाव में समाज की निरन्तर कल्पना मात्र है क्योंकि परिवार ही नई सन्तानों को पैदा करके रिक्त स्थानों की पूर्ति कर देता है। परिवार द्वारा मृत्यु और अमृत दो विरोधी अवस्थाओं का सुन्दर समन्वय सम्भव हुआ है।

चार्ल्स कूले के अनुसार– "परिवार एक प्राथमिक समूह है और इस प्राथमिक समूह में ही बच्चों के सामाजिक जीवन और आदर्शों का निर्माण होता है। यह मानव स्वभाव का महत्वपूर्ण क्षेत्र है।

डा0 दुबे के अनुसार– "परिवार में स्त्री और पुरुष दोनों को सदस्यता प्राप्त रहती है, उनमें से कम से कम दो विपरीत यौन व्यक्तियों को यौन सम्बन्धों की सामाजिक स्वीकृति रहती है और उनके संसर्ग से उत्पन्न सन्तान मिलकर परिवार का निर्माण करते हैं।"

लूसी मेयर के अनुसार– "परिवार एक गृहस्थ समूह है जिसमें माता–पिता

और सन्तान साथ–साथ रहते हैं इसके मूल रूप में दम्पति और उनकी सन्तानें रहती हैं।''

निमकॉफ के अनुसार– ''परिवार पति–पत्नी, बच्चों सहित या उनके बिना अथवा मनुष्य या स्त्री अकेले का बच्चों सहित कम या अधिक स्थिर समिति है।''

अमेरिकन ब्यूरो ऑफ सेन्सस के अनुसार– ''परिवार रक्त, विवाह अथवा गोद लेने के आधार पर सम्बन्धित दो या अधिक व्यक्तियों का समूह है, इन सभी व्यक्तियों को एक परिवार का सदस्य समझा जाता है।''

आरनाल्ड ग्रीन के अनुसार– ''परिवार संस्थायीकृत सामाजिक समूह है। जिस पर जनसंख्या व स्थापन का भार है।''

इलमर ने अपनी पुस्तक 'Sociology of Family' में लिखा है कि अंग्रेजी शब्द फैमिली लेटिन के शब्द फैमुलस से निकला है। इस लेटिन शब्द से ऐसे समूह का बोध होता है जिसमें माता–पिता, बच्चे, नौकर तथा गुलाम भी आ जाते हैं। इस शाब्दिक अर्थ से परिवार का पूर्ण बोध होना कठिन है। मनुष्य ने अपने जीवन को सुखमय बनाने के लिए परिवार नामक संस्था का निर्माण किया है। इसने मानव जाति को अमरत्व प्रदान किया है। हरदत्त वेदालंकार के शब्दों में, ''मनुष्य परमो धर्मा है किन्तु मानव जाति अमर है।'' व्यक्ति उत्पन्न होते हैं, बचपन, यौवन, बुढ़ापे की अवस्था भोगकर समाप्त हो जाते हैं। वंश परम्परा द्वारा उनकी सन्तान निरन्तर रूप से चलती रहती है। मृत्य और अमरत्व दो विरोधी वस्तुएं हैं, किन्तु परिवार द्वारा इन दोनों का समन्वय हुआ है। व्यक्ति भले ही मर जाए पर परिवार और विवाह द्वारा मानव जाति अमर हो गई है। परिवार में रहते हुए भी हर आदमी परिवार को नहीं समझ सकता परिवार को परिभाषित करना एक कठिन कार्य है। पाश्चात्य विचार कडनलय में परिवार की पूर्ण एवं सर्वग्राही परिभाषा करना असम्भव कार्य कहा गया है। बर्गेस और लॉक

ने इससे परिभाषित करते हुए कहा है कि परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो विवाह, रक्त अथवा गोत्र के सूत्रों से एकीकृत है जो एक ही गृह में निवास करते हैं। जो पति एवं पत्नी, माता एवं पिता, पुत्र एवं पुत्री, भाई और बहिन के रूप में एक दूसरे से सम्बन्धित हैं तथा जिनसे एक समान संस्कृति का निर्माण तथा पोषण होता है। मैकाइवर तथा पेज की दृष्टि से परिवार यौन सम्बन्धों से बाधित एक ऐसा समूह है जिसका स्वरूप पर्याप्त स्थाई एवं दूरगामी हो जिससे बच्चों का समुचित रक्षण एवं पालन–पोषण हो सके। उक्त पाश्चात्य विचारको की दृष्टि में परिवार के दो महत्वपूर्ण तथ्य हैं। (1) सदस्यों के निवास के लिए एक ही आवास तथा (2) सदस्यों के रूप में पुरुष, स्त्री तथा उनसे उत्पन्न बच्चे। निमकॉफ ने बच्चों वाले परिवार को ही परिवार माना है यदि पति–पत्नी हैं और उनके बच्चे नहीं हैं तो स्त्री पुरुष के सम्बन्धों को सन्तान–रहित विवाह कहकर सम्बोधित करते हैं परिवार के सम्बन्ध में भारतीय दृष्टिकोंण पाश्चात्य दृष्टिकोंण से सर्वथा ही भिन्न है। विदेशी विचारकों की दृष्टि में परिवार अति संकुचित दिखाई देता है। जबकि वैदिक युग के परिवार की सीमा हरिदत्त वेदालंकार के शब्दों में– वैदिक परिवार में प्रायः तीन पीढ़ी तक के प्राणी सम्मिलित होते हैं। श्राद्ध में तथा अन्य यज्ञों में, पितरों के आवाहन से यह बात भली–भांति पुष्ट हो जाती है। यजु0 7/47 में कहा गया है कि हम आज यज्ञ में पिता और दादा वाले ब्राम्हण प्राप्त करें। यजु0 15/36–37 में पिता, पितामह और प्रपितामह को नमस्कार किया गया है। और उनसे प्रार्थना की गई है कि वे अपने वंशज को शुद्ध करें अर्थवेद के एक मन्त्र से परिवार के प्रायः पुरुषों के आवाहन में पूर्वजों में पिता, दादा को तथा वंशजो में पुत्र, पौत्र को बुलाया गया है। प्रपितामह का उल्लेख परवर्ती संहिताओं में पाया जाता है (तै0सं0 1/8/5/1 अर्थ द0 18/4/5 शतः ब्रा0 2/4/2/16/12/8/7/6) अर्थवेद के पितृमेघ या श्राद्ध प्रकण के सूत्रों में दादा (वत0 18/4/77) परदादा (ततामह) और परजादा (प्रततामह 18/4/75) को स्वाधा दान का उल्लेख है) परदादा पूर्वजों में परिवार की चरम सीमा है (8/17/12) किन्तु परपोते तथा परदादे का उल्लेख

एक ही बार हुआ है। अतः सामान्य रूप से वैदिक परिवार की सीमा पर परदादे और परपोते तक ही समझनी चाहिए। परिवार में जन्म लेने वाले बालक एवं बालिकाओं को संस्कारित एवं शिक्षित करने में माता–पिता, शिक्षक एवं शिक्षिकाओं का विशेष योगदान रहता है। बालक एवं बालिकाए, परिवार एवं समाज की लघु इकाई होते हैं। यही बाद में युवा एवं प्रौढ़ होने पर अपने उत्तरदायित्व को निभाते हैं। शिक्षक एवं शिक्षिकाओं का विशेष महत्व है। भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता में परिवार ही बालक एवं बालिकाओं को सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक और शैक्षणिक मानवीय मूल्यों एवं प्रतिमानों का सही ज्ञान कराते हैं। प्रथम संस्कार परिवार की माता के द्वारा बालक एवं बालिकाओं को दिए जाते हैं।

शिक्षक एवं शिक्षिकाओं को गहन, गम्भीर, चैत्यवान एवं सौम्य होना चाहिए। बालक एवं बालिकाओं में पुर्नजागरण एवं चैतन्यता और सही मूल्यों को पैदा करना माता–पिता एवं शिक्षिकाओं का विशेष उत्तरदायित्व होता है। परिवार प्राथमिक सीढ़ी है तथा समाज दूसरी सीढ़ी है, यदि परिवार शिक्षित, सौम्य और गम्भीर होगा तो बढ़ते हुए बालक एवं बालिकाएं भी सुयोग्य नागरिक बनकर जीवन का निर्वाह करेंगे। प्राचीन समय में माता–पिता के द्वारा बालक एवं बालिकाओं में वैष्णव संस्कृति के संस्कार एवं गुणों का समावेश किया जाता था। परिवार और परिवार का मुखिया सादगीपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे परन्तु आधुनिक समय में विलासी जीवन होने से परिवारों में बालक एवं बालिकाओं को वैदिक, वैष्णव एवं आर्य संस्कृति से हटकर उनको दी जाने वाली शिक्षा में पाश्चात्य एवं आडम्बरपूर्ण संस्कृति का संयोजन एवं समन्वय देखने को मिलता है। परिवार के सम्बन्ध में भारतीय विचारधारा पाश्चात्य विचारधारा से बिल्कुल भिन्न है। भारतीय परिवार एक ऐसा स्थाई ध्रुव बिन्दु है जो कि जन्म जन्मान्तर स्त्री तथा पुरुष के सम्मिलन का आधार प्रस्तुत करता है। विवाह एक समझौता नहीं है एक संस्कार है जिसकी नींव धर्म पर आधारित है। धर्म से सत्यात्मक नियम का आशय है जो व्यक्ति द्वारा समाज के नियम को धारण करते हैं। धर्म कर्तव्य के रूप में परिवार के

सभी सदस्य समान होते हैं। परिवार के जितने भी लोग होते हैं सबके सामने उनके कुछ कर्तव्य होते हैं और इस कर्तव्य के रज्जु से सभी बंधे रहते हैं। कर्तव्य की यह भावना उनको सेवा पद की ओर अग्रसर करती है। श्रृद्धा, यज्ञ, ज्ञान, तप, प्रेम, सत्य व्रत नियम आदि महान गुण भारतीय कुलीन परिवारों की जड़ों में गहराई तक फैले हुए हैं। यही गुण भारतीय परिवारों की सन्तानों को माता–पिता एवं शिक्षक–शिक्षिकाओं के द्वार बालक एवं बालिकाओं में संचारित किए जाते हैं। प्रत्येक पीढ़ी आर्य संस्कृति को लिए हुए निरन्तर आगे बढ़ रही है। जो कि आगे चलकर एक स्तम्भ के रूप में दिखाई देंगे। परिवार मानव जाति में आत्म–संरक्षण, सम्बर्द्धन और जाति जीवन को बनाए रखने का एक प्रधान साधन है। परिवार समाज का ही एक हिस्सा है।

माता–पिता तथा शिक्षक एवं शिक्षिकाओं के द्वारा बढ़ती हुई नई पीढ़ी को न्याय संगत और न्यायप्रिय सिद्धान्तों पर चलने के लिए प्रेरित करना चाहिए। जो मनुष्य का सर्वांगीण विकास करने में समर्थ होता है। प्रत्येक बालक एवं बालिकाओं को धर्म और मोक्ष की प्राप्ति के लिए सही साधनों का ज्ञान कराना चाहिए। जिससे विद्यार्थी आगे चलकर अपने जीवन में उच्च शिखर को प्राप्त कर सकें। विद्यार्थियों का अच्छे कृत्य करने के लिए शिक्षिकाओं को सदैव प्रेरित करते रहना चाहिए। हिन्दू धर्म शास्त्रों में विद्यार्थियों को जीवन अस्तित्व की रक्षा करते हुए अपने मूल्यों को समझें और जीवन में सदाचार रूपी संगिनी को अपनाना चाहिए। विद्यार्थियों को सदा ही मर्यादित, संम्माननीय श्रृद्धापूर्ण आचरणों को अपने जीवन में उतारना चाहिए। भारतीय इतिहासकारों के अनुसार विद्यार्थियों को परिश्रमी एवं योग्य होना चाहिए। भारतीय इतिहास में माता और गुरू का विशेष स्थान है। पातंजलि का कहना है कि विद्यार्थियों में कृतज्ञता, शुद्ध विचार, सच्चाई, शान्तस्वभाव तथा दया आदि भावनाओं का होना आवश्यक है। परिवार में नई पीढ़ी को अच्छे विचारों से परिचित कराना चाहिए। परिवार में साहित्यिक शिक्षा के साथ–साथ वैदिक धर्मशास्त्री तथा वैज्ञानिक विषयों पर भी बच्चों को

शिक्षा दी जानी चाहिए। शिक्षिकाओं के द्वारा विद्यार्थियों में प्रतिभाशाली, गौरवमयी एवं करुणामयी धारणाओं एवं भावनाओं का समावेश भी करना चाहिए जिससे बालक सत्य, असत्य, न्याय, अन्याय, साहित्यिक, प्राकृतिक तथा विभिन्न प्रकार के ज्ञान से परिपूर्ण कराना चाहिए। विद्यार्थियों के जीवन को प्रकाशमय एवं सुन्दर बनाने के लिए शिक्षक एवं शिक्षिकाओं का सहयोग परम आवश्यक है। क्यों कि इसके अभाव में विद्यार्थी जीवन का विकास सम्भव नहीं हो सकता। विद्यार्थियों के लिए परिवार शिक्षा का एक प्रमुख केन्द्र है। परिवार की शिक्षा अधूरी रहने पर विद्यार्थियों का विकास भी अधूरा रहता है। पारिवारिक शिक्षा से व्यवहारिक एवं सामाजिक शिक्षा का श्रीगणेश होता है।

आधुनिक परिवारों की स्थिति प्राचीन परिवारों से बिल्कुल भिन्न है। भारतीय जीवन में अपितु आज भी गृहस्थ जीवन का विशेष महत्व है। परिवार में विभिन्न संस्कारों के द्वारा विद्यार्थियों को एक पूर्ण मानव के रूप में विकसित किया जाता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोंण से उनमें विभिन्न प्रकार के भावों को तैयार किया जाता है परन्तु आज की समस्त व्यवहारिक गतिविधियों में धीरे–धीरे परिवर्तन आ रहा है। खलील जिब्रान ने कहा है कि विद्यार्थियों के जीवन में माता–पिता, शिक्षक–शिक्षिकाओं का विशेष महत्व होता है क्योंकि गुरूओं के द्वारा ही विद्यार्थी नवीन ज्ञान को प्राप्त करता है और उसके जीवन में प्रकाशमयी पुन्ज का विकास होता है। विद्यार्थी के अपने जीवन में संघर्ष की काली घटाओं से भरा आसमान भी होता है जिसका कि उन्हें कुशलता पूर्वक सामना करना पड़ता है। तभी जीवन में सफलता प्राप्त होती है। इस रहस्यमय भविष्य के प्रति न तो वास्तव में वे जानते हैं लेकिन गुरूओं द्वारा बताए गए मार्ग का अनुसरण करने पर उन्हें जीवन में सफलता प्राप्त होती है।

परिवार में रहने वाले बच्चों को जंगल में खिलने वाले फूल की तरह स्वच्छंद तथा आकाश में विचरने वाली चिड़ियों की तरह सरल तथा पवित्र होना चाहिए।

सामाजिक समीक्षा-

अरस्तू का यह कथन पूर्णतः सत्य है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसमें अपने साथियों के साथ सामान्य रूप से जीवन व्यतीत करने की क्षमता पाई जाती है। ऐसा माना जाता है कि जो मनुष्य अपने साथियों के साथ सामान्यतः सहयोग करता हुआ जीवन व्यतीत नहीं कर पाता, वह या तो देवता है या फिर पशु। मनुष्य का प्रारम्भ से लेकर आज तक का इतिहास यह बताता है कि वह समूह या समाज में ही रहता आया है। सामूहिकता उसका विशेष गुण है। वास्तव में, व्यक्ति की समाज के बिना और समाज की व्यक्ति के बिना कल्पना नहीं की जा सकती। इन दोनों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है, दोनों की एक–दूसरे पर निर्भरता पायी जाती है। मनुष्य की सामाजिक प्रकृति उसकी मौलिक विशेषता है यहां विचारशील प्रश्न यह है कि मनुष्य किस दृष्टि से एक सामाजिक प्राणी है। किस दृष्टि से हम समाज से सम्बन्धित और किस दृष्टि से समाज हमसे सम्बन्धित है। हम समाज पर किस प्रकार निर्भर हैं। इन सब प्रश्नों के मूल में एक ही प्रश्न है और वह है– व्यक्ति का समाज के साथ क्या सम्बन्ध है? यही प्रश्न सभी समाजशास्त्रीय अन्वेषणों या अध्ययनों का मूल–बिन्दु है। व्यक्ति के बिना समाज का अस्तित्व सम्भव नहीं है। मनुष्यों के बीच ही सामाजिक सम्बन्ध स्थापित होते हैं और समाज का निर्माण होता है। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं के कारण एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं। आपस में अन्तःक्रिया करते हैं और सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण करते हैं। ये सामजिक सम्बन्ध ही तो समाज का आधार हैं जो कि सभ्यता तथा संस्कृति का निर्माता है। उसने अपने चिंतन, मनन, अनुभव एवं प्रयत्न के आधार पर संस्कृति का विकास किया है। संस्कृति सामाजिक संरचना और सामाजिक व्यवस्था दोनों को प्रभावित करती है। जिस संस्कृति का भौतिकवाद की ओर ज्यादा झुकाव होगा, वह समाज उतना ही अधिक जटिल प्रकार का होगा, जिस संस्कृति का आध्यात्मवाद की ओर जितना झुकाव होगा वह समाज उतना ही अधिक सरल प्रकार का होगा। व्यक्ति के लिए समाज अत्यन्त आवश्यक है। मनुष्य न तो

अपने आप में प्रारम्भ है और न ही अन्त बल्कि जीवन के कार्यक्रम में एक कड़ी है वह एक समाजशास्त्रीय और प्राणीशास्त्रीय सत्य है। वास्तव में मनुष्य सामाजिक विरासत की देन है। सामाजिक विरासत (संस्कृति) के आधार पर हमारे विश्वास, मूल्य प्रवृत्तियां आदि बनते हैं। इसी आधार पर हम अपने समाज की परम्पराओं, प्रथाओं और आचरण सम्बन्धी नियमों से परिचित होते हैं। व्यक्ति उचित–अनुचित की धारणा भी सामाजिक विरासत के आधार पर ही बनाता है। प्रत्येक समाज तथा पृथक–पृथक समय में सामाजिक विचारधारा भिन्न–भिन्न होती हैं क्योंकि प्रत्येक समाज में भी सामाजिक, ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि अलग–अलग होती है और वह भी समय के बदलने के साथ–साथ परिवर्तित होती रहती है। इन परिवर्तनों के साथ–साथ सामाजिक सम्बन्धों तथा समस्याओं दोनों की ही प्रकृति तथा स्वरूप में परिवर्तन हो जाता है। इस कारण सामाजिक विचारधारा बदलती रहती है। मानव के समाजीकरण की प्रक्रिया बड़ी लम्बी एवं जटिल है। इस कार्य में अनेक संस्थाओं एवं समूहो का योगदान होता है। वे संस्थाएं समय–समय पर विभिन्न बाते सिखाती हैं। कभी–कभी तो ये एक दूसरे के पूरक एवं सहयोगी होती हैं तो कभी परस्पर स्वतंत्र एवं संघर्षकारी, बच्चों का समाजीकरण करने में अनेक प्राथमिक संस्थाओं जैसे परिवार, पड़ौस, मित्र मण्डली, विवाह एवं नातेदारी समूह तथा द्वैतीयक संस्थाओं जैसे विद्यालय, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं व्यावसायिक संगठनों आदि का योगदान होता है। एक आदर्श समाज की स्थापना के लिए महिला शिक्षिकाओं का विशेष महत्व है। वह भावी पीढ़ी की निर्माता है तथा राष्ट्र के निर्माण में उनका महत्वपूर्ण योगदान है। कार्लमार्क्स, इमाईल दुर्खीम, मैक्स बेवर तथा बिलफ्रेड परैटो जैसे समाजशास्त्रियों ने सामाजशास्त्रीय परम्पराओं को विधिवत रूप से समझाया है तथा सामाजिक समीक्षा करने के विभिन्न प्रकार की अवधारणाओं तथा तर्कसंगत क्रिआयों को विधिवत रूप से समझाया है। मानव ने आज तक जो प्रगति की है वह प्रकृति के निरन्तर संघर्ष का परिणाम है। संघर्ष सिर्फ समाज और वातावरण के बीच ही नहीं होता बल्कि संघर्ष समाज के अन्दर भी चलता रहता है। समाजशास्त्र

की मुख्य विषय–वस्तु है समाज, समाज में अमीर–गरीब के भेद है, वर्गों का भेद है, जाति–प्रजाति के भेद है एवं राष्ट्र के बीच स्वार्थों के भेद है। समाज में आर्थिक हितों से उत्पन्न संघर्ष के अतिरिक्त सांस्कृतिक, सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक कारणों से भी संघर्ष उत्पन्न होते हैं। मकीवर एवं पेज का कथन है कि, "समाज रीतियों एवं कार्य–प्रणालियों, अधिसत्ता एवं पारस्परिक सहयोग, अनेक समूहों एवं विभाजनों, मानव व्यवहार के नियंत्रणों एवं स्वतंत्रताओं की व्यवस्था है। यह सतत् परिवर्तनशील जटिल व्यवस्था है जिसे हम समाज कहते हैं। यह सामाजिक सम्बन्धों का जाल है और यह निरन्तर परिवर्तनशील है। समाज व्यक्तियों का समूह नहीं बल्कि व्यक्तियों के बीच पाया जाने वाला पारस्परिक सम्बन्ध होता है। समाज कोई मूर्त संगठन नहीं है। अर्थात इसको देखा या स्पर्श नहीं किया जा सकता इस कथन का तात्पर्य यह है कि समाज का निर्माण व्यक्तियों से नहीं होता, बल्कि व्यक्तियों के बीच पाए जाने वाले सम्बन्धों से होता है। जब लोग एक व्यवस्था में बंध जाते है, उसे समाज कहते हैं। मकीवर एवं पेज का कथन है कि समाज का आधार समानता है। यहां समानता व्यक्तियों की शारीरिक बनावट, रंग या उम्र नहीं है। बल्कि विचारों एवं जीवन के उद्देश्यों की है। समानता के साथ–साथ समाज में भिन्नता भी अनिवार्य है। भिन्नता का सामाजिक महत्व है। समाज में कई प्रकार की भिन्नताएं पायी जाती हैं जैसे व्यक्ति–व्यक्ति के बीच योग्यता की भिन्नता, कार्य क्षमता की भिन्नता, रूचि की भिन्नता, इच्छा, आकांक्षा एवं विचारों की भिन्नता, इसके कारण समाज में प्रतिस्पर्धा, प्रतियोगिता एवं उद्यमशीलता की भावना पनपती है जो समाज की प्रगति के लिए आवश्यक है। समाज का अस्तित्व इसलिए है कि भिन्न प्रकार की प्रवृत्ति, योग्यता, क्षमता वाले लोगों की क्रिया–प्रतिक्रिया समाज में निरन्तर चलती रहती है। जहां कहीं भी जीवन है वहां समाज है। मानव समाज के अलावा पशुओं एवं कीड़े–मकोड़ों में भी समाज पाया जाता है। प्रत्येक समाज की एक अपनी सीमा होती है। जहां तक किसी समाज के सदस्य फैले होते हैं वहां तक उस समाज की सीमा होती है। जब हम भारतीय समाज या अमेरिकन

समाज की बात करते है तो इससे समाज की क्षेत्रीय सीमा का बोध होता है। प्रत्येक समाज की कोई न कोई सांस्कृतिक या भौगोलिक सीमा होती है। संस्कृति मानव समाज की बहुत ही प्रमुख विशेषताओं में से है क्योंकि संस्कृति सिर्फ मनुष्यों के बीच पाई जाती है। यह संस्कृति ही है जो इन्सान को जानवरों से अलग करती है। संस्कृति के कारण ही मनुष्य विकास की प्रक्रिया में अन्य जीवों की तुलना में इतना अधिक सफल हुआ है।विभिन्न प्रकार के समाजों की तरह सरल समाजों में सदस्यों के बीच सहवास को विवाह द्वारा ही सामाजिक मान्यता प्राप्त होती है। सरल समाज में एकल विवाह प्रथा सबसे अधिक प्रचलित विवाह प्रथा है। कुछ जनजातियों में बहु–विवाह प्रथा है जिसमें एक समय में व्यक्ति की एक से अधिक पत्नियां होती हैं। दूसरी बहुपति प्रथा जिसमें एक नारी एक ही समय कई पुरुषों की पत्नी होती है जो बहुत कम पाया जाता है। उत्तर प्रदेश की खासा जनजाति और तमिलनाडु की टोडा जनजाति में बहुपति प्रथा का प्रचलन है। प्रौद्योगिक उन्नति के कारण सरल समाजों में परिवर्तन की शुरूआत हुई। बड़े–बड़े नगर बने। व्यवसायिक अवसरों और आबादी के बढ़ने के साथ ही जटिल समाज की उत्पत्ति हुई ऐसे समाजों में सरल समाज की अपेक्षा अधिक औपचारिक संगठन होते हैं। प्रौद्योगिक उन्नति का प्रभाव गाँव की अपेक्षा शहरों में पहले दिखलाई पड़ता है। इसके बाद धीर–धीरे इसका प्रभाव ग्रामीण समुदाय पर पड़ता है। ग्रामीण समुदाय की अपेक्षा शहरी समुदाय काफी प्रगतिशील होता है। और इनके संगठनों में अधिक जटिलता पाई जाती है। आज का ग्रामीण समुदाय इस प्रौद्योगिक उन्नति से अछूता नहीं रह गया है बल्कि जहां भी अनेक प्रकार की समस्याऐ उत्पन्न हो रही हैं। जटिल समाज की तरह आज के ग्रामीण परिवेश में काफी स्वार्थ, डर और सन्देह की भावना पायी जाती है। जिसके कारण ग्रामीण जीवन काफी अशान्त हो गया है। वर्तमान समय में विकास के साथ–साथ कई प्रकार के सामाजिक परिवर्तन हो रहे है जो प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से मनुष्य की गतिविधियों पर प्रभाव डालते हैं। विभिन्न विद्वानों का कहना है कि समाज को मानवीय गुणों से युक्त और मनुष्य को सामाजिक बनाना ही मुक्ति का एक मात्र पथ है।

निष्कर्ष

किसी देश की शिक्षा का उसकी संस्कृति से अकाट्य सम्बन्ध है। शिक्षा का पौधा संस्कृति के वातावरण में पनपता, फूलता–फलता है जैसे एक वृक्ष विशेष भौगोलिक वातावरण में उगता है। अगर उसे उखाड़कर अन्य किसी जलवायु में लगा दिया जाए तो वह मुरझा कर सूख जाता है और मर जाता है। इसी प्रकार शिक्षा को अगर संस्कृति से काट दिया जाए तो वह निर्जीव हो जाती है, प्रभावहीन और आशा रहित हो जाती है। शिक्षा का विकास स्वभाविक होना चाहिए और यह तभी सम्भव है जब उसकी जड़ें उस देश के सांस्कृतिक, राजनीतिक सामजिक, नैतिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में जमा हों भारतीय संस्कृति की व्याख्या, परिभाषा, आलोचना, समालोचना और इसके स्वप्न और अंगों का विवरण उसके ऐतिहासिक, धार्मिक और शैक्षणिक पहलुओं का स्पष्टीकरण अनेक विद्वानों और शिक्षाविदों ने किया है। डा0 आनन्द कुमार स्वामी के अनुसार "भारत की शिक्षा और संस्कृति इसलिए अमर है कि उसमें प्रत्येक भिन्नता को आत्मसात करने की अद्वितीय क्षमता है। भारतीय संस्कृति में शिक्षक, शिक्षिकाओं और विद्यालयों में आस्थाएं, स्वीकृतियाएं, स्मृतियाएं, बौद्धिक जागरूकता विद्यार्थियों की दिनचर्या और जीवन की गतिशीलता को विकास के पथ पर प्रतिविम्ब के रूप में दिखलाई पड़ती हैं। भारतीय संस्कृति में ज्ञान का गौरव अतीत काल से लेकर वर्तमान तक हमारे समाज, संस्कृति और राष्ट्र पर कसौटी एवं निष्ठता का प्रतिनिधित्व करता है। और ही शारीरिक कार्यों का उद्‌गम है सफल और गुणवान शिक्षक और शिक्षिकाएं छात्र और छात्राओं के विचारों को अपने सुविचारित अध्यापन और प्रेरणात्मक कार्यों द्वारा सहज ही राष्ट्रीय एकता की ओर उन्मुक्त कर सकते हैं। विद्यार्थियों को इस तथ्य को आत्मसात करके चलना होगा और राष्ट्रीयता की भावनाओं का सम्मान करना होगा। शिक्षा विद्यार्थी के जीवन को आलोकमय कर देती है। शिक्षक एवं शिक्षिकाओं का अपने कर्म के प्रति अडिग और प्रयत्नशील होना और विद्यार्थियों, शिक्षक शिक्षिकाओं में भारतीय संस्कृति, सभ्यता,

धर्मनिरपेक्षता और राष्ट्रीय एकता का गर्व होना चाहिए। क्योंकि उनका व्यक्तित्व, चरित्र, नैतिकता और ईमान भारतीय मिट्टी से बना हुआ है। शिक्षक और शिक्षिकाओं को एकरूपता के सिद्धांतों को विद्यार्थी के जीवन में उतारना चाहिए। शिक्षा विद्यार्थियों के लिए उपासना का एक साधन है। शिक्षा के द्वारा विद्यार्थियों में मनोहारी विविधता का जन्म होता है। शिक्षिकाओं को राष्ट्रीय हित एवं शैक्षिक वातावरण को सर्वोपरि मानना चाहिए। उन्हें अपने जीवन को कर्तव्यमय बनाना होगा। शिक्षक एवं शिक्षिकाओं को अपने जीवन की उस विभाजित रेखा को समाप्त करना होगा जो कि उनके व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन को दो भागों में बांटती है। जब तक जीवन के इन दोंनों पक्षों में अद्वैत की भावना स्थापित न होगी तब तक उसका प्रभाव छात्रों पर नहीं पड़ेगा। सच तो यह है कि छात्र की परीक्षा वर्ष में एक बार ली जाती है जबकि शिक्षक एवं शिक्षिकाओं की परीक्षा हर समय और हर समाज में होती है। शिक्षक एवं शिक्षिकाओं की नई मान्यताओं के अनुरूप धारणा होनी चाहिए ताकि उच्च विचारों को अपना सकें। समाज में उत्पन्न नई समस्याओं और परिस्थितियों का अध्ययन और विश्लेषण करते रहना चाहिए जिससे सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन के विभिन्न पहलुओं और प्रतिमानों का आसानी पूर्वक निष्कर्ष प्राप्त किया जा सकता है। विद्यार्थी समाज की पूंजी है आज का औद्योगिक समाज मानव शक्ति का विनियोग और नियोजन करने में तैयार है। शिक्षा के द्वारा शिक्षक विद्यार्थियों की कार्यक्षमता को बढ़ा सकते हैं। नई तकनीकी का विकास कर सकते हैं। वर्तमान समय में भारत की शिक्षा में प्रारम्भिक शिक्षा व्यवस्था विश्व की सबसे बड़ी शिक्षा व्यवस्थाओं में से एक है। किन्तु देश में स्कूल न जाने वाले बच्चों की संख्या सर्वाधिक है। हमारे देश में केन्द्र सरकार राज्य सरकार तथा विभिन्न प्रकार के व्यक्तिगत संगठन भारत में समाज को शिक्षित करने के लिए विभिन्न प्रकार के प्रयास कर रहे है। नवीन प्राथमिक, पूर्व माध्यमिक, माध्यमिक तथा महाविद्यालयों की स्थापना दिन-प्रतिदिन हो रही है। जिससे समाज की अंधकार रूपी पर्त को दूर किया जा सके। शिक्षा का एक प्रमुख कार्य मानव ज्ञान एवं बुद्धि का विकास करना है। आज

की शिक्षा तर्क एवं विज्ञान पर आधारित है। वह मानव मस्तिष्क का विकास करती है, ज्ञान के द्वार खोलती है, मनुष्य को चिन्तनशील बनाती है। बुद्धिवान एवं ज्ञानवान व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती है कि वह उचित और अनुचित में भेद करे और समाज–सम्मत व्यवहार करे। शिक्षा व्यक्ति में सद्‌गुणों का विकास करती है। ज्ञान सामाजिक प्रगति एवं नियंत्रण दोनों के लिए आवश्यक है। शिक्षा के द्वारा ही व्यक्ति को समाज के मूल्यों और आदर्शों का ज्ञान होता है। शिक्षा का एक प्रमुख कार्य मानव संस्कृति का एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरण करना है। इस कार्य में शिक्षक एवं शिक्षिकाओं का विशेष स्थान है बिना शिक्षक शिक्षिकाओं के विद्यार्थियों में मानव संस्कृति एवं मूल्यों का विकास नहीं हो सकता। शिक्षक एवं शिक्षिकाओं द्वारा प्राप्त आदर्शों, मूल्यों, प्रथाओं एवं लोकाचारों के रूप में सांस्कृतिक विरासत को शिक्षा द्वारा ही आने वाली पीढ़ियों को हस्तान्तरित किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति समाज का क्रियाशील सदस्य बनने के लिए अपनी संस्कृति को सीखता है, उसे आत्मसात करता है। सांस्कृतिक परम्परा, मूल्यों एवं आदर्शों के अनुरूप आचरण कर वह समाज व्यवस्था को बनाए रखने में योग देता है।

शिक्षा का एक कार्य व्यक्ति को परिस्थितियों के साथ अनुकूलन करने में सहयोग प्रदान करना है। मनुष्य को अपने जीवनकाल में अनेक नवीन परिस्थितियों एवं अनेक संकटों का सामना करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में विजय वही होता है जो सफलतापूर्वक परिस्थितियों के अनुरूप अपने को ढाल लें या परिस्थितियों को अपने अनुरूप बना लें। ऐसा करने में शिक्षा अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। शिक्षा का प्रचार–प्रसार शिक्षिकाओ के द्वारा उत्साह एवं कर्तव्य बोधता के आधार पर करना चाहिए। विद्यालयों एवं महाविद्यालयों में पढ़ने वाले छात्र एवं छात्राओं को शिक्षिकाओं द्वारा प्रोत्साहित कर सही मार्ग दर्शन देते रहना चाहिए। शिक्षा को उपयोगी और उन्नतिशील बनाने के लिए नए अवसरों को ढूंढना और समाज में क्रियान्वित करना चाहिए। जिससे विद्यार्थियों की कार्य क्षमता

का सही विकास हो सके। शिक्षक एवं शिक्षिकाओं द्वारा विद्यार्थियों में सामाजिक चेतना के मूल्यों को समायोजित करना चाहिए। शैक्षिक अवसरों की समानता को रखने के लिए विद्यार्थियों का पालन–पोषण करना, शिक्षा देना तथा बौद्धिक, मानसिक, सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक विकास को समतुल्य करना चाहिए। विद्यार्थियों में शिक्षा–दीक्षा, घरेलू संस्कार, अच्छे आचरण एवं विनम्रता के गुणों का विकास शिक्षिकाओं के द्वारा लगातार करते रहना चाहिए जिससे विद्यार्थियों का समुचित विकास हो सके। प्रस्तुत शोध के अर्न्तगत विभिन्न कोटि की महिला शिक्षिकाओं (प्राथमिक, पूर्व माध्यमिक, माध्यमिक एवं महाविद्यालयी) का अध्ययन करने और उनके शैक्षिक कार्यों का विद्यार्थियों के ऊपर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करना है। समाज में कुछ ऐसे मानदण्ड होते हैं। जिसका समाज के प्रत्येक सदस्य को अनुसरण करना पड़ता है। शैक्षणिक वातावरण में निर्देशात्मक एवं निषेधात्मक मानदण्डों का विशेष ध्यान रखना चाहिए। अच्छे शैक्षणिक मानदण्डों को सामाजिक स्वीकृति प्राप्त होती है। मानदण्डों के निर्माण में शिक्षक एवं शिक्षिकाओं का विशेष योगदान होता है। शैक्षणिक मानदण्ड समाज में स्तम्भ का कार्य करते हैं।

श्री अरविन्द ने शिक्षा प्रक्रिया को सुचारू रूप से चलाने के लिए जिन शिक्षण विधियों के प्रयोग बताए हैं उनमें सर्वप्रथम बालक की रुचि के अनुसार शिक्षा की बात की है। बालक की शिक्षा के विषय में पूर्ण स्वतन्त्रता हो वह अपनी रुचि के अनुकूल ज्ञान प्राप्त करे। भाषा ज्ञान के सम्बन्ध में श्री अरविन्द का विचार है बालक को सर्वप्रथम उसकी मातृभाषा का ज्ञान प्रदान कराना चाहिए जिससे वह अन्य भाषाओं का ज्ञान आसानी पूर्वक प्राप्त कर सके। अरस्तू के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य है आनन्द की प्राप्ति। आनन्द को प्राप्त करने के लिए सभी व्यक्ति प्रयत्न करते हैं। अरस्तु ने मन के बौद्धिक एवं क्रियात्मक पक्षों को देखा उसका विश्लेषण किया और इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि सद्गुण का सम्बन्ध मन के बौद्धिक पक्ष से इतना नहीं है जितना कि संकल्प (क्रियात्मक) शक्ति से है। संकल्प मनोदशा न होकर क्रियात्मकता है, ताकि व्यक्ति

सुखी हो सके और वे अपना कर्तव्य समाज में सफलता पूर्वक निभा सके। शिक्षा का महत्व आदिकाल से रहा है क्योंकि शिक्षा का लक्ष्य मानव जीवन के प्रत्येक पहलू को विकसित करना है जिसमें शिक्षक एवं शिक्षिकाओं का विशेष महत्व है। प्रस्तुत शोध विषय के अन्तर्गत विभिन्न कोटि की महिला शिक्षिकाओं का तुलनात्मक अध्ययन कर उनके महत्व को विद्यार्थियों के जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन प्रस्तुत करना है। इसके अन्तर्गत हम प्राथमिक, पूर्व माध्यमिक, माध्यमिक एवं महाविद्यालयी महिला शिक्षिकाओं के योगदान का अध्ययन करते हैं जो एक नवीन समग्रता के दृष्टिकोंण तथा आयाम को प्रदर्शित करता है। समाज में विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों के अनुकूल विद्यार्थियों के जीवन का निर्माण करना महिला शिक्षिकाओं का विशेष उत्तरदायित्व है। इस सम्बन्ध में हम महिला शिक्षिकाओं के द्वारा विद्यार्थियों को दी जानी वाली शिक्षा पद्धति, स्वरूप एवं उसके महत्व का अध्ययन करते है। क्योंकि शिक्षा के द्वारा मानव को सभ्य एवं सुसंस्कृत प्राणी बनाया जा सकता है। प्राथमिक विद्यालय से लेकर विश्वविद्यालय तक विद्यार्थी जीवन का सर्वांगीण विकास कर विद्यार्थियों के व्यक्तित्व तथा उनकी बौद्धिक क्षमता का विकास किया जा सकता है। महिला शिक्षिकाओ द्वारा शिक्षार्थी में अच्छे, आध्यात्मिक एवं नैतिक गुणों का विकास कर एक बुद्धि सम्पन्न प्राणी बनाया जा सकता है। जिसके द्वारा विद्यार्थी के आन्तरिक एवं बाह्य गुणों का विकास होता है और वह अपने जीवन में उच्च शिखर को प्राप्त कर देश के सर्वांगीण विकास के लिए समर्पण की भावना से कार्य कर सकता है। शिक्षा द्वारा व्यक्ति में सर्वोत्तम गुणों का विकास किया जा सकता है। टी0 रेमण्ट के अनुसार शिक्षा विकास की वह प्रक्रिया है जिसके अनुसार मनुष्य बचपन से प्रौढ़ावस्था तक अनेक तरीकों से अपने भौतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक पर्यावरण से अनुकूलन करना सीखता है। जी0 एच0 थामसन लिखते हैं, "शिक्षा बाह्य वातावरण के प्रभावों का एक समन्वित रूप है जिसके द्वारा मनुष्य के आचार–विचार, आदत तथा व्यवहार में सुधार होता है अर्थात जिसके द्वारा मनुष्यों में उत्तम गुणों का विकास होता है।

सुझाव

इस शोध के अन्तर्गत प्राथमिक, पूर्व माध्यमिक, माध्यमिक एवं महाविद्यालयी शिक्षिकाओं की पृष्ठभूमि का तुलनात्मक अध्ययन सामाजिक एवं पारिवारिक सन्दर्भ में किया गया है। उत्तर प्रदेश के जनपद–जालौन की शिक्षिकाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने पर विभिन्न प्रकार की सामाजिक एवं पारिवारिक समस्याएं स्पष्ट प्रतीत होती हैं। तुलनात्मक अध्ययन में विश्लेषणात्मक दृष्टिकोंण तथा संशलेषणात्मक पर बल दिया गया है। संशलेषणात्मक दृष्टिकोंण में क्षेत्र की सामजिक संरचना, राजनैतिक दर्शन तथा शैक्षिक दर्शन का विशेष महत्व होता है। शिक्षिकाओं के तुलनात्मक अध्ययन करने पर जनपद जालौन की शिक्षा प्रणाली और संगठन तथा सामाजिक, पारिवारिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक परिस्थितियों का भी अध्ययन किया गया है। जनपद जालौन की प्राथमिक, पूर्व माध्यमिक, माध्यमिक एवं महाविद्यालयी शिक्षिकाओं का तुलनात्मक अध्ययन भौगोलिक, सामाजिक, प्राकृतिक, जातीय तथा भाषिक घटकों पर विशेष तौर पर निर्भर करता है। जनपद की भौगोलिक स्थिति अन्य जनपदों से भिन्न है अतएव यहां का रहन–सहन, सभ्यता, संस्कृति, सामाजिक व्यवस्था का प्रभाव शिक्षिकाओं पर भी पड़ता है। शिक्षिकाओं की सामजिक समस्याएं अपने आप मे एक महत्वपूर्ण विषय है क्योंकि शिक्षिकाओं को विभिन्न प्रकार के अवरोध, संघर्ष जैसी जटिल समस्याओं का सामना करना पड़ता है जिस कारण शिक्षिकाएं अपने पूर्ण व्यक्तित्व एवं लगनशीलता को प्रदर्शित नहीं कर पातीं इसलिए सामजिक भूमिकाओं में शिक्षिकाओं की समस्याओं को एक विशेष परिप्रेक्ष्य में सुलझाने के लिए सामाजिक दृष्टिकोंण को परिवर्तित करना होगा क्योंकि जनपद जालौन के समाज में रूढ़िवादिता, अंधविश्वास एवं अव्यवहारिक परम्पराएं विद्यमान हैं जिसका कि शिक्षिकाओं को प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से सामना करना पड़ता है। इसलिए यह आवश्यक है कि संकीर्णता के विचारों को समाज से समाप्त कर नए मूल्यों एवं प्रतिमानों का निर्माण करना चाहिए जिससे कि शिक्षिकाओं के व्यक्तित्व तथा सामाजिक जीवन, आर्थिक जीवन पर सकारात्मक प्रभाव पड़े और उसी के अनुरूप

उनकी कार्यक्षमता का सतत् विकास हो सके।

पारिवारिक समस्याओं के पहलू का विश्लेषण करने पर जनपदीय समाज के परिवारों में विभिन्न प्रकार की पारिवारिक समस्याएं देखी गईं जिसका कि प्रभाव शिक्षिकाओं की जीवन पद्धति पर पड़ता है। पारिवारिक समस्याएं प्राथमिक, पूर्व माध्यमिक, माध्यमिक एवं महाविद्यालयी शिक्षिकाओं की अलग–अलग होती हैं जो शिक्षिकाओं की दिनचर्या पर प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालती हैं जिसका कि प्रभाव शिक्षिकाओं की जीवनशैली पर पड़ता है अतः इन समस्याओं के निराकरण हेतु विभिन्न पारिवारिक पहलुओं का सूक्ष्मतापूर्वक अध्ययन करना आवश्यक होता है जिससे कि इन पारिवारिक समस्याओ का हल किया जा सके। इसके लिए परिवार के विभिन्न पहलुओं जैसे कि मनोवैज्ञानिक कार्य, सहयोग एवं श्रम विभाजन, स्नेह एवं बच्चों का लालन–पालन तथा समाजीकरण, सांस्कृतिक तत्व, धार्मिक तत्व आदि पारिवारिक पहलुओं पर विशेष महत्व देना चाहिए। जिससे कि परिवार में सामंजस्य की स्थिति उचित रूप से बनी रहे। जिससे कि परिवार के लोग संतुष्ट हो सकें।

शिक्षिकाओं का शिक्षा के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि शिक्षा के द्वारा मनुष्य के जीवन का सर्वांगीण विकास होता है। सभ्यता और संस्कृति को सुरक्षित रखने का एक मात्र साधन शिक्षा ही है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने जीवन में क्रमोत्तर वृद्धि करता है। शिक्षा द्वारा ही राष्ट्र के भावी कर्णधारों का निर्माण किया जाता है। जो राष्ट्र जितना ही अधिक शिक्षित होता है वह उतनी ही अधिक उन्नति करता है। इसमें शिक्षकों द्वारा बताए गए मार्गो को विद्यार्थियों को अपने जीवन में समाहित करना चाहिए जिससे कि उनके जीवन का विकास हो सके। यदि शिक्षिकाओं को प्रतिकूल वातारण एवं भौगोलिक परिस्थितियों के अन्तर्गत कार्य करना पड़ता है तो इसका प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव शिक्षा व्यवस्था पर पड़ता है जिससे कि विद्यार्थी शिक्षा के लक्ष्य को प्राप्त करने में कठिनाइयों का अनुभव करता है। इस सभी पहलुओं पर गम्भीरता पूर्वक विचार

कर इनका समाधान निकालना चाहिए जिससे कि विद्यार्थियों की शिक्षा व्यवस्था प्रभावित न हो इसी सन्दर्भ में कामेनियस का यह विचार महत्वपूर्ण है कि शिक्षक का कर्तव्य है कि वह विद्यार्थियों को अधिक–से–अधिक ज्ञान दें। इसके अनुसार जिस शिक्षा से विद्यार्थी ज्ञान एकत्र न कर सके वह शिक्षा विद्यार्थियों के लिए व्यर्थ है। इसी के सन्दर्भ में हुमायूं कबीर का यह कथन महत्वपूर्ण है कि शिक्षा का उद्देश्य भौतिक संसार में असमाज के विचारों तथा आदर्शों का ज्ञान प्राप्त करना है। इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त करना निजी उन्नति एवं समाजसेवा के लिए आवश्यक है इन कथनों के विशलेषण से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि विद्यार्थी जीवन में शिक्षा का अमूल्य योगदान होता है। शिक्षा व्यवस्था में किसी भी प्रकार की समस्या विद्यार्थियों के ऊपर प्रभाव डालती है इसलिए यह आवश्यक है कि शिक्षा व्यवस्था को सुचारू रूप से जारी रखने के लिए शिक्षिकाओं को विशेष महत्व, सुविधाएं समाज और सरकार द्वारा प्रदत्त करना चाहिए जिससे कि देश के भावी कर्णधारों का निर्माण सुचारू रूप से हो और राष्ट्र अपने अभीष्ट लक्ष्य की ओर निरन्तर लगा रहे अतः इस निष्कर्ष के आधार पर इन पहलुओं का विश्लेषण इस शोध ग्रन्थ में प्रस्तुत कर उसके समाधान के लिए सुझाव प्रस्तुत किए गए हैं ताकि पारिवारिक, सामाजिक व्यवस्था सुचारू रूप से चलती रहे और विद्यार्थी अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर आगे बढ़ सकें। अतः इस संदर्भ में यह बात प्रासंगिक है कि विभिन्न कोटि की शिक्षिकाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने पर विभिन्न प्रकार के पहलुओं का आसानी पूर्वक निराकरण किया जा सकता है और इसी के अनुरूप उनकी पृष्ठभूमि का विश्लेषण सम्भव हो सकता है। अतः इस शोध के अन्तर्गत विभिन्न पहलुओं और तथ्यों के समाधान हेतु सुझाव प्रस्तुत किए गए हैं जिससे कि आगामी अध्ययनों में शोधकर्ताओं को सरलता पूर्वक अपना कार्य करने में सफलता प्राप्त हो सके।

परिशिष्ट

1- सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

संदर्भ ग्रन्थ सूची

(1) गुप्ता, प्रो0 एम0 एल0 एवं शर्मा, डा0 डी0 डी0 — ''समाजशास्त्र'' साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा (1999)।

(2) सिंह, डा0 जे0 पी0 — ''समाजशास्त्र अवधारणाएं एवं सिद्धान्त'' प्रेटिस–हाल आफ इंडिया प्रा0 लि0, नई दिल्ली (2003)।

(3) मलैया, के0 सी0 — ''तुलनात्मक शिक्षा'' लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद ।

(4) कोलेंदा, पालीन — ''रीजनल डिफरेन्सेज इन फैमली स्ट्रक्चर इन इण्डिया'' प्रेटिस–रावत पब्लिकेशन, जयपुर (1987)।

(5) गोरे, एम0 एस0 — ''अर्बनाइजेशन एण्ड फैमली चेंज इन इण्डिया'' पापुलर प्रकाशन, बम्बई (1968)।

(6) दुबे, लीला — ''सोशोलॉजी आफ किनशिप'' पापुलर प्रकाशन, बम्बई (1974)।

(7) गुप्ता, रामबाबू — ''भारतीय शिक्षा का इतिहास''

(8) मुकर्जी, डा0 रवीन्द्र नाथ एवं अग्रवाल, डा0 भरत — ''सामाजिक नियंत्रण और सामाजिक परिवर्तन'' विवेक प्रकाशन, जवाहर नगर दिल्ली।

(9) पाठक, पी0 डी0 — "भारतीय शिक्षा और उसकी समस्याएं" विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा (2000)।

(10) रसेल, बर्टेण्ड — "शिक्षा और समाज व्यवस्था" राजकमल प्रकाशन प्रा0 लि0, दिल्ली (1968)।

(11) रसेल, बर्टेण्ड — "शिक्षा की रूपरेखा" राजकमल प्रकाशन प्रा0 लि0, दिल्ली (1968)।

(12) गुप्ता, मोतीलाल — "भारत में समाज" राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर (1999)।

(13) दुबे, श्यामाचरण — "भारतीय समाज" नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया लि0, दिल्ली (2001)।

(14) विद्याभूषण एवं सचदेव, डी0 आर0 — "समाजशास्त्र के सिद्धांत" किताब महल एजेन्सीज, इलाहाबाद (2004)।

(15) सिंह, डा0 वी0 एन0 एवं सिंह जनमैजय — "ग्रामीण समाजशास्त्र" विवेक प्रकाशन, जवाहर नगर, दिल्ली (2002)।

(16) लाल, रमन बिहारी — "शिक्षा के दार्शनिक और समाजशास्त्रीय सिद्धांत" रस्तोगी पब्लिकेशन्स, मेरठ (2004)।

(17) पाठक, पी0 डी0 एवं त्यागी, एस0 डी0 — "शिक्षा के सिद्धान्त" विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा (1974)।

(18) माथुर, डा0 एस0 एस0 — "शिक्षा मनोविज्ञान" विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा (1978)।

(19) कुमार, आनन्द — ''भारतीय समाज''
विवेक प्रकाशन, जवाहर नगर, दिल्ली।

(20) सुलैमान, मुहम्मद — ''व्यवहारपरक विज्ञानों में शोध प्रणाली विज्ञान''
शुक्ला बुक डिपो, पटना।

(21) मुकर्जी, डा0 रवीन्द्र नाथ — ''उत्कृष्ट समाजशास्त्रीय परम्पराएं''
विवेक प्रकाशन, जवाहर नगर, दिल्ली।

(22) वर्मा, डा0 ओ0 पी0 — ''सामाजिक सर्वेक्षण व शोध''
विवेक प्रकाशन, जवाहर नगर, दिल्ली।

(23) आर्य, डा0 एस0 पी0 — ''ग्रामीण समाजशास्त्र''
विवेक प्रकाशन, जवाहर नगर, दिल्ली।

(24) दुबे, सरला — ''सामाजिक मनोविज्ञान''
विवेक प्रकाशन, जवाहर नगर, दिल्ली।

(25) गुप्ता, एस0 पी0 एवं अग्रवाल जी0 के0 — ''समाजशास्त्र''
साहित्य भवन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा0 लि0, आगरा।

(26) पाण्डेय, डा0 रामशकल — ''उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक''
विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा (2003)।

(27) शर्मा, डा0 रामनाथ — ''सामाजिक अनुसंधान एवं सर्वेक्षण की विधियां और प्रविधियां''
राजहंस प्रकाशन मन्दिर, मेरठ (1974)।

(28) मुकर्जी, डा0 रवीन्द्र नाथ "शोध का पद्धतिशास्त्र"
विवेक प्रकाशन, जवाहर नगर, दिल्ली।

(29) कुमार, आनन्द "समाजशास्त्र के सिद्धान्त"
विवेक प्रकाशन, जवाहर नगर, दिल्ली।

(30) बघेल, डा0 डी0 एस0 "समाजशास्त्र"
साहित्य भवन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा0 लि0, आगरा।

(31) श्रीवास्तव, प्रो0 ए0आर0एन0 "भारतीय सामाजिक समस्याएं"
के0 के0 पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद।

(32) पाण्डेय, तेजस्कर "समाज कार्य दर्शन"
भारत बुक सेन्टर, लखनऊ।

(33) गुप्ता, डा0 बी0 डी0 "ग्रामीण समाजशास्त्र साहित्य परिप्रेक्ष्य में"
सीता प्रकाशन, हाथरस।

(34) सलूजा, चाँद किरण "शिक्षा के आधारभूत सिद्धान्त"
विवेक प्रकाशन, जवाहर नगर, दिल्ली।

(35) शर्मा, डा0 राजेन्द्र "नैतिक मूल्य शिक्षा"
भारत बुक सेन्टर, लखनऊ।

(36) जैन, मन्जू "कार्यशील महिलाएं एवं सामाजिक परिवर्तन"
प्रिन्टवैल, जयपुर।

(37)	देसाई, मीरा	"भारतीय समाज में नारी" मैकमिलन इंडिया प्रा0 लि0, दिल्ली (1982)।
(38)	गुप्ता, रामबाबू	"शिक्षा मनोविज्ञान" अलका प्रकाशन, कानपुर।
(39)	चौबे, प्रो0 एस0 पी	"स्वदेश–विदेश में शिक्षा" विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा (1984)।
(40)	आहूजा, राम	"सामाजिक समस्याएं" रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर (1994)।
(41)	महाजन एवं महाजन	"सामाजिक अनुसंधान सर्वेक्षण एवं सांख्यिकी" शिक्षा साहित्य प्रकाशन मेरठ।
(42)	सिंह, डा0 सुरेन्द्र	"सामाजिक अनुसंधान" उ0 प्र0 हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ (1975)।
(43)	अग्रवाल, डा0 जी0 के0	"समाजशास्त्र" साहित्य भवन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, आगरा।
(44)	वघेल, डा0 डी0 एस0	"सामाजिक अनुसंधान" साहित्य भवन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, आगरा।
(45)	मिश्रा, जे0 पी0 एवं मिश्रा, सुधा	"भारतीय समाज एक समाजशास्त्रीय विवेचना" भारत बुक सेन्टर, लखनऊ।

(46) लवानियां, डा0 एम0एम0 एवं जैन, के0 शशि — ''भारतीय सामाजिक व्यवस्था'' कालेज बुक डिपो, जयपुर।

(47) लवानियां, डा0 एम0एम0 एवं जैन, के0 शशि — ''ग्रामीण सामाजशास्त्र'' कालेज बुक डिपो, जयपुर।

(48) त्रिवेदी, डा0 आर0 एम0 एवं शुक्ला, डा0 पी0डी0 — ''रिसर्च मैथडोलाजी'' कालेज बुक डिपो, जयपुर।

(49) गुप्ता, प्रो0 एम0 एल0 एवं शर्मा, डा0 डी0डी0 — ''सामाजिक नियंत्रण एवं परिवर्तन'' साहित्य भवन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, आगरा (1999)।

(50) त्यागी, डा0 गुरसरनदास, रावत, डा0 मृदुला, लाल, डा0 आर0 बी0, सक्सेना, डा0 स्वाति — ''शिक्षा के सिद्धान्त'' विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा (1984)।

(51) .... — ''जिला विकास पुस्तिका'' सूचना एवं जनसम्पर्क विभाग जनपद–जालौन उ0 प्र0 (2001–2002)।

(52) श्रीनिवास, एम0 एन0, — ''सोशल चेंज इन माडर्न इंडिया'' ओरियंट लागमैन लि0, नई दिल्ली।

(53) अल्टेकर, अ0 स0, — ''प्राचीन भारतीय शिक्षा–पद्धति''

(54) कपाड़िया, के0 एम0 "मैरिज एण्ड फैमिली इन इंडिया" आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, मुम्बई।

(55) कबीर, हुमायूं "भारतीय शिक्षा दर्शन"

(56) पाण्डेय, रामशकल "शिक्षा : वर्तमान संदर्भ में" विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा (2003)।

(57) पाण्डेय, रामशकल "शिक्षा के मूल सिद्धान्त" विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा (2003)।

(58) शर्मा, रामनाथ "भारतीय शिक्षा दर्शन" विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा (2003)।

(59) .... "भारतीय समाज में महिलाओं की स्थिति" प्रकाशित सेमिनार प्रतिवेदन म0प्र0 समाजशास्त्र परिषद, क्षेत्रीय इकाई जीवाजी विश्वविद्यालय परिक्षेत्र ग्वालियर द्वारा आयोजित (1989)।

(60) .... "भारतीय समाज में स्त्रियों की प्रस्थिति" राष्ट्रीय समिति की रिपोर्ट का सार संक्षेप एलाइड पब्लिशर्स प्रा0लि0, नई दिल्ली (1989)

(61) .... यू0 जी0 सी0 बिल 11 मई 1956 को संसद में हुई बहस के अंश।

(62) .... भारतवर्ष में महिलाओं के स्तर पर राज्य सभा में दिनांक 18 मई 1975 को हुई बहस के अंश।

(63) .... लोक सभा में यू0 जी0 सी0 रिपोर्ट पर हुई बहस के अंश, 6 अगस्त 1975।

(64) कुमार, सन्तोष "जनपद जालौन में शिक्षा का विकास"

(65) Agbarn, ''A Hand Book of Sociology''

(66) Ahlawat, N. ''Women's Organizations & Social Network'' Rawat Publications, New Delhi.

(67) Andal, N. ''Women and Indian Society : Options and Constraints'' Rawat Publications, New Delhi. (2002)

(68) Chaubey, Dr. S. P. ''Comprative Education'' Ram Prasad & Sons, Agra.

(69) Coser, C. F. & Rosen, Berge ''Sociological Theory'' Makmilan Company, New York, Londoan.

(70) Chakrabortty, K. ''Family in India'' Rawat Publications, New Delhi (2002).

(71) Deva, Indra ''Society & Culture in India'' Rawat Publications, New Delhi.

(72) Gore, M. S. ''Indian Education : Structure & Process'' Rawat Publications, New Delhi.

(73) Garfort, F. W. — "Education and Social Purpose"

(74) Gupta, Mukta — "Women & Educational Development" (Crown Size) Sarup & Sons Publications, New Delhi (2000).

(75) Gupta, Mukta — "Issues Related to Women" (Crown Size) Sarup & Sons Publications, New Delhi (2000).

(76) Gupta, Anjula — "Modernizing Working Woman" A Study in Urban Setting Sarup & Sons Publishers, New Delhi (1994).

(77) Haralambos, M. With Heald, M.R. — "Sociology Themes and Prespectives" Oxford University Press, New York (2003)

(78) Hate, C. A. — "Hindu Women & Her Future" New Book Co., Bombay (1948).

(79) Jatav, Dr. D. R. — "Social System in India" College Book Depot, Jaipur.

(80) Jaiswal, R. P. — 'Professional Status of Women" Rawat Publications, New Delhi.

(81) Kumar, Dr. Anand. "Indian Society & Culture"
Vivek Prakashan, Jawahar Nagar, Delhi

(82) Kumar, Dr. Anand. "Introduction of Sociology"
Vivek Prakashan, Jawahar Nagar, Delhi

(83) Kapur, Premilla "Marriage and The Working Woman in India"
Vikash Publications, Delhi (1970).

(84) Kapur, Premilla "The Changing Status of the Working Woman in India"
Vikash Publications, Delhi (1984).

(85) Merton, R. K. "Social Theory and Social Structure"
The Free Press of Glenco Asian, (1957).

(86) Ministry of Edu., Govt. of India Secondary Education Commission Report.

(87) Ministry of Edu., Govt. of India Report of The Education Commission.

(88) Pandya, V. A. "Women Organization & Development"
College Book Depot, Jaipur.

(89) Pandey, Prof.K.P. "Prespectives in Higher Education"
Bharat Book Centre, Lucknow.

(90) Rani, Kala — "Role Co-flict in Working Woman"(1st Ed.) Chetana Publications, New Delhi (1976).

(91) Rao, PHS etal — "Training for Higher Education" Rawat Publications, New Delhi.

(92) Russell, Bertrand — "Principles of Social Reconstruction" George Allen & Unwin Ltd., London (1960).

(93) Russell, Bertrand — "In Praise of Idleness" George Allen & Unwin Ltd., London (1969).

(94) Ross, Allen D. — "The Family in Its Urban Setting" Oxford University Press, (1961).

(95) Shah, B.V. & Shah — "Sociology of Education" Rawat Publications, New Delhi (1998)

(96) Sharma, Vijay Rani, Bela & Kaushik — "Women in the Developed World" Sarup & Sons Publications, New Delhi. (1998).

(97) Sharma, Shaloo — "History & Development of Higher Education in India" Sarup & Sons Publications, New Delhi (2002).

(98) Vasu, De. — "Surveys in Social Research" Rawat Publications, New Delhi. (2003)

(99) Verma, V. — "Studies in the Philosophy of Education"